हम विषपायी जनम के

दिवंगत
श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
के
अप्रकाशित काव्य-साहित्य का
संकलन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला • ग्रन्थांक-१९४

सम्पादक एवं नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series Title No 194

HAM

VISHPAYI JANAM KE

(Poems)

Late

BALKRISHNA SHARMA

NAVIN

Bharatiya Jnanpith

Publication

First Edition 1964

Second Edition 1965

Price Rs 16.00

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६४

द्वितीय संस्करण १९६५

मूल्य १६.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५



नवीन जी

जन्म ८ दिसम्बर १८९७

निधन २९ अप्रैल १९६०

समर्पण

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की स्मृतिमें, उनकी चौथी निधन तिथि, (२९ अप्रैल १९६४) के अवसरपर उनका यह काव्य सकलन प्रकाशित हो रहा है। सकलनका नाम 'नवीन'जीके एक प्रसिद्ध दोहेके अशपर आधृत है

हम विषपायी जनम के, सहे अबोल कुबोल

लगा, कि दोहेका यह चरण 'नवीन'जीके व्यक्तित्वकी गरिमा, औघडपन, साधना और समर्पणको झलकाता है। सामर्थ्यका स्वामी रुद्र ही विषपायी हो सकता है, जिसके गलेमें अहि माल है और मस्तकपर चन्द्रमाकी कला, जो विप्लव और सहारका सृजनकी भूमिका बनाता है और जो नटराज है। सुधा पान छोडकर जो विष-पानका वरण करते है, वही वह सकते है

ठाठ फकीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन

यह सकलन जब गुप्तजी (श्री मैथिलीशरण गुप्त) और 'एक भारतीय आत्मा' (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) के हाथमें पहुँचेगा, तब क्या शलाकापुरुषोका एक ज्वलन्त युग जिसके निर्माणमें स्वय सहयोगी है उनकी कल्पनामें साकार न हो उठेगा ? वह विकल हो उठेगे कि बलि-दानियोके अग्रणी श्री गणेशशकर विद्यार्थी नही रहे, और सहकर्मी, सहधर्मी नवीनजी भी नही रहे ! याद आयेगें दिसम्बर १९१६ के वे दिन जब लखनऊ कांग्रेसके अवसरपर इन चारोमे से इस एकने अपनी कलमको और अपने स्वप्नोको राष्ट्रके प्रति समर्पित किया था, और शेष तीनने समर्पण यज्ञके लिए यह नवीन समिधा पायी थी !

राष्ट्रीय जागरणके इतिहासमे साप्ताहिक 'प्रताप' यदि गणेशशकर विद्यार्थीका कीर्ति मन्दिर है तो 'नवीन जी उसके आधारवाही स्तम्भ। ज्वालाओंके उस युगमें आहुतियोकी ही होड थी। 'नवीन' सौभाग्यवान थे कि उनको गणेशशकरके हाथो विषपानकी दीक्षा मिली, और इसलिए

वह अ त तक विषपायी ही रहे। सुधापानके छलावने अ त तक उ हें मोह ग्रस्त नही किया

यों शूलयुक्त, यों यहि आलिंगित जीवन

इम प्रस्तुत सकलनकी एक आत्म परक रचना है।

नवीनजीने यद्यपि सन १९१७ स नियमित लेखन प्रारम्भ कर दिया था, उनका पहला कविता सग्रह 'कुकुम' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ, कि तु कवि रूपम नवीनजीकी ख्याति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। राष्ट्रीय आ दोलनके तूफानी दिनामें माथा ऊँचा करक, सीना तानकर, मुट्ठिया बाँधकर नवयुवक गाया करते थे

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाय
एक हिलोर उधर से आये, एक हिलोर इधर से आय

और, जब असहयोग आ दोलनको अचानक समाप्त कर दिया गया, तब बलिदानियाके आहत अभिमानको और राष्ट्रकी हताश, सिर धुनती लौको नवीनजीन वाणी दी

आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है खाली तूणीर हुआ !

१९३६ क बाद, सन १९५१ में नवीनजीके दो कविता सग्रह प्रकाशित हुए 'रश्मि रेखा' तथा 'अपल्क'। १९५२ में 'क्वासि', १९५५ मे 'विनोबा स्तवन' और १९५७ में 'उर्मिला' खण्ड काव्यक प्रकाशनके बाद काई नया सग्रह प्रकाशित नही हो पाया। उक्त छह सग्रहोंमें, कुकुम क्वासि कालकी रचनाओका समय १९३६ से १९५२ तकका है।

प्रस्तुत सकलन, 'हम विषपायी जनम के'में नवीनजीकी वे रचनाएँ सम्मिलित है जो सग्रह रूपमें अप्रकाशित है या कुकुम क्वासि कालके बादकी सवथा नयी रचनाएँ है। यह सकलन कवि नवीनका सर्वांगीण प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करता ह।

नवीनजीको जब पक्षाघात हो गया तो उनकी बीमारीके दिनोंमें साहूजी (श्री शान्तिप्रसाद जैन) कई बार उनसे मिलने गये। एक बार जब म भी साथ था, तो नवीनजीने सकेतों और सायास निमित शब्दोंमें भारतीय ज्ञानपीठके प्रकाशनाकी सराहना की आशीर्वाद दिया। तभी श्रीमती सरलाजीने बताया कि नवीनजीन बीमारीक दिनोंमें अपनी अप्र काशित कविताओके सग्रह और सकलनका काम प्रारम्भ किया ह और

यदि इनका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हो तो नवीनजीको प्रसन्नता होगी। ज्ञानपीठके लिए यह प्रस्ताव गौरवका था।

वास्तवमें नवीनजीने इन कविताओंको छह विभिन्न संग्रहोंके रूपमें नियोजित किया था और संग्रहोंके शीर्षक स्वयं निश्चित किये थे १ सिरजनकी ललकारें, २ नवीन दोहावली, ३ यौवन मदिरा, ४ प्रलयंकर, ५ स्मरण-दीप, ६ मृत्यु धाम।

छहों संग्रहोंका स्थूल रूप निश्चित कर देनेके बाद, कविताओंका संकलन प्रारम्भ हुआ – पत्रोंकी कतरनों और पुरानी फाइलोंकी प्राप्ति, हस्तलिपियोंकी खोज, पत्र व्यवहार आदिमें बहुत समय लगा। नवीनजीके सामने ही बहुत अंशोंमें यह कार्य पूरा हो गया था किन्तु उनके निधन के बाद भी प्रयत्न चलता रहा कि संग्रह अधिकसे अधिक पूर्ण हो। कई विश्वविद्यालयोंके हिन्दी विभागोंने डॉक्टरेटकी थीसिसके लिए विद्यार्थियोंको नवीनजीकी काव्य कृतियोंके अध्ययनकी स्वीकृति दी। भारतीय ज्ञानपीठने शोधार्थियोंको पाण्डुलिपियोंके अध्ययनकी सुविधा दी तो संग्रहोंकी पूर्णता देनेके सुझाव भी पाये। सागर विश्वविद्यालयके प्राध्यापक श्री लक्ष्मी-नारायण दुबेने इस दिशामें विशेष प्रयत्न किया। 'ज्ञानपीठ पत्रिका'में इन संकलनोंके परिचयमें कहा गया है

" 'सिरजन की ललकारें' को कविने एक सह शीर्षक 'नूपुर के स्वप्न' भी दिया है। ये दोनों शीर्षक, संग्रहकी प्रमुख और सबसे लम्बी कविताओं 'सिरजन की ललकारें मेरी' और 'आये नूपुर के स्वन झन झन' की ओर संकेत करते हैं। 'सिरजन की ललकारें मेरी' लगभग ३० पृष्ठकी कविता है जो महात्मा गांधी और उनके विचारों तथा हिंसा अहिंसाके द्वन्द्व आदिको प्रस्तुत करती है। यह अत्यन्त वेगपूर्ण तथा चिन्तनपरक रचना है। 'आये नूपुर के स्वन झन झन' में शृंगारका आध्यात्मीकरण है।

समग्र रूपमें, यह संग्रह नवीनजीकी दार्शनिक रचनाओंका संकलन है। कवि कभी लौकिकसे अलौकिककी ओर उन्मुख हुआ है और कभी अलौकिकसे लौकिककी ओर आया है।

'नवीन दोहावली' के माध्यमसे नवीनजीका एक ऐसा रूप सामने आता है जो अभीतक हिन्दी-जगत्को ज्ञात नहीं हो सका है। १९ शीर्षकोंके अन्तर्गत इस संग्रहमें कुछ खड़ी बोलीके, अधिकांश ब्रजभाषाके दोहे हैं। संग्रहका रचना-काल १९३०–१९४६ है, और अधिकांश

रचनाएँ बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। विषयकी दृष्टिसे संग्रहमें शृंगार तो है ही, इसके अतिरिक्त आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, प्रार्थना तथा मनुहार भावकी भी सशक्त अभिव्यक्ति है।

तीसरे संग्रह, 'यौवन मदिरा' को कविने एक और शीर्षक 'पावस-पीडा' भी दिया है। दोनों शीर्षक दो कविताओंके हैं जो संग्रहकी प्रमुख रचनाएँ हैं। 'यौवन मदिरा' में प्रवृत्ति निवृत्तिका संघर्ष निरूपित है और 'पावस पीडा' में प्रणयकी प्रधानताका स्वर मुखरित हुआ है। संग्रहका रचना काल १९३०–१९३६ है और अधिकांश रचनाएँ गाजीपुर जेलकी लिखी हुई हैं। कुछ लघु प्रेम कविताएँ संकलित की गयी हैं। प्रेममें संयोग तथा वियोग दोनोंके चित्र प्राप्त होते हैं, पर प्रधानता विप्रलम्भ शृंगारकी है।

'प्रलयंकर' शीर्षक चौथे संग्रहका नाम 'तू विद्रोह रूप प्रलयंकर' कवितासे आया है जो अत्यन्त ओजस्वी रचना है। संग्रहका लेखनकाल १९३० १९५५ है और रचनाएँ अधिकतर बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। पाण्डुलिपिके इस खण्डमें कतिपय कविताएँ कविकी हस्तलिपिमें ही उपलब्ध हैं। नवीनजीकी राष्ट्रीय कविताओंके इस संकलनमें कविका आक्रोश, हुंकार, ओज तथा विप्लव आह्वान मुखरित है। राष्ट्रकी नवीन चेतनाको सर्वाधिक प्रखर वाणी इसी संग्रहकी रचनाओं-द्वारा मिली है।

'स्मरण दीप' नवीनजीका पाँचवाँ अप्रकाशित काव्य संग्रह है जिसका नामकरण 'मेरे स्मरण दीप की बाती' शीर्षक कवितापर आधारित है। संग्रहका रचना काल १९३८ १९५४ है और इसमें बरेली कारागृहमें लिखित कविताओंका आधिक्य है। संकलनमें वियोगावस्थासे उद्भूत अनुभूतियोंकी प्रधानता है विप्रलम्भ शृंगारके सर्वतोमुखी चित्र उतारे गये हैं और मनुहार प्रतीक्षाको वाणी मिली है।

अन्तिम संग्रह 'मृत्यु धाम' को कविने दूसरा शीर्षक 'सृजन झांझ' भी दिया है। दोनों शीर्षक मूलमें संग्रहकी दो कविताओं 'कैसा है मृत्यु धाम' और 'सृजन की झांझ' के हैं। संग्रहका रचना काल १९४१ १९४२ है और प्रमुखत ये रचनाएँ नैनी जेलमें ही लिखी गयीं। वास्तवमें यह संकलन 'कविके प्राणार्पण' शीर्षक अप्रकाशित खण्डकाव्य 'पंचम आहुति' के गीतोंसे सम्बन्ध रखता है जिसे यहाँ पृथक् संग्रहके रूपमें दिया गया है। ये गीत सभी रहस्य परक और दार्शनिक हैं जिनमें मृत्युको काव्यका

विषय बनाया गया है और जो अभीतक प्रकाशमें नहीं आये थे।"

इस प्रकार यह संकलन नवीनजीके काव्यकी विविधता और बहुरंगी छटा प्रस्तुत करता है प्रलयकी गर्जना और शीष-दानकी चुनौती, प्रणयका आह्वान और दान प्रतिदान, वियोगकी आकुल व्यथा और मनुहारकी माधुरी, चिंतनकी गहराई और रहस्यकी दार्शनिक अभिव्यक्ति, जीवनका समर्पण और मृत्युका वरण। इस कृतित्वकी महत्ताके परिप्रेक्ष्यमें कविके जीवनकी सफलता-असफलताका प्रश्न गौण है। फिर सफलताका मान-दण्ड क्या ?

जब 'नयी सफलता' के गज मे
हम निकले असफल लासानी,
जग मार ठहाका खूब हँसा,
हम भी मुसकाये मस्ताने।

इस संवेदनशील औघड़दानीकी प्रतीति थी कि जीवनमें देना ही देना सार्थक है, मनचाहा पाना जब सम्भव ही नहीं तो उसकी तृष्णा वृथा है

कूजे दो कूजे में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं
बार बार ला ! ला ! कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।

स्वर्गीय नवीनजीके प्रति ज्ञानपीठकी यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि निवेदित है।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

सकेतिका

सिरजन की ललकारें

१	बयालीसवें वपान्त में	३
२	व्यवहारवादिता	७
३	एकाकीपन	८
४	क्या थके तन ? क्यों थके मन ?	११
५	क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?	१३
६	प्रिय, बल दो	१५
७	नैशयाम कल्पमान	१७
८	मेरे मन	१९
९	द्वन्द्व समुच्चय	२१
१०	निज ललाट की रेख	२२
११	दुराव	२७
१२	वृकोदरी ज्वाला	२९
१३	पिंजर मुक्ति-युक्ति	३०
१४	यों शल-युक्त यो अहि आलिंगित है जीवन	३२
१५	करुणा घन	३६
१६	हे ज्योतिमय	३८
१७	नौका निर्वाण	३९
१८	दोलाचल वृत्ति	४२
१९	उड चला	४५
२०	सिरजन की ललकारें मेरी !	४६
२१	बोल अरे दो पग के प्राणी	८४
२२	यह रहस्य उदघाटन रत जन	८८
२३	नास्तिक का आधार	१०३
२४	यथार्थवादी	१०४
२५	तुम हो ?	१०५

हम विषपायी जनम के १

२६ सु न्दर ११७
२७ सूना सब ससार हुआ ह १२०
२८ राजेश्वर मानव १२१
२९ भूल भुल्या १२९
३० कस्त्व ? कोऽह ? १३३
३१ कार्य कारण न्यूयता १५८
३२ जीवन प्रवाह १६२
३३ मानव की क्या अन्तिम गति विधि ? १६८
३४ धधक उठा, अब आ वैश्वानर १७४
३५ धरती के पूत १८१
३६ आये नूपर के स्वन झन झन १८३
३७ यह है द्वापर, यह ह द्वापर १९०
३८ है निज वश तन, पूण स्ववश मन ! १९२
३९ विनिपात १९४
४० अर्ध नारी नट २०६

नवीन दोहावली

१ यह प्रवास आयास २१३
२ प्राप्ति २१३
३ सतत प्रवासो २१५
४ नैना २१७
५ अनुरोध २१९
६ मशय-न्य २२१
७ घाव २२२
८ मेरे प्राणाधिक २२३
९ अपनी अपनी बाट २२४
१० नैया २२५
११ पहेली मानव २२६
१२ अनवाप्त २२९
१३ राग विराग २३०
१४ न्मिनि उठी अकाम २३१

१५ पिंजर बद्ध नाहर २३३
१६ पै न ढरे घनश्याम २३४
१७ उपालम्भ २३५
१८ प्रतीक्षा २३५
१९ कितै तिहारो देश ? २३७

पावस पीडा

१ तीर कमान २४१
२ अममथ २४२
३ परीक्षा के प्रश्न पत्र २४३
४ टूटी वीणा २४३
५ प्रज्वलित वह्नि २४४
६ सूखे आँसू २४७
७ नारी २४८
८ प्यास २४९
९ तव मृदु मुसकान, प्राण २५२
१० शरद निशा २५३
११ आज हुलसे प्राण ! २५४
१२ स्वगत २५६
१३ धुन २५८
१४ फागुन २५९
१५ साकी ! २६१
१६ सो जाने दो २६३
१७ आवृत २६४
१८ विरह व्यापा २६५
१९ तुम्हारा पनघट २६६
२० जाह्नवी के प्रति २६८
२१ प्रश्नोत्तर २६९
२२ पत्र व्यवहार २७१
२३ उन्माद !!! २७४
२४ आकुल की उपासना २७६

२५	दीप माला	२७७
२६	यौवन मदिरा	२७८
२७	अरी धधक उठ !!!	२८३
२८	थकित प्रतीक्षा	२८४
२९	आगमन की चाह !	२८५
३०	जाने पर	२८६
३१	छेड़ो न	२८६
३२	प्रणय लय	२८८
३३	श्रान्त	२८९
३४	वह सुप्त अश्रुत राग	२९१
३५	भिखारी	२९२
३६	निवेदन	२९३
३७	कह लेने दो	२९६
३८	सजन मेरे सो रहे है	२९८
३९	ओ प्रवासी	२९९
४०	लिख विरह के गान	३००
४१	गीत	३०२
४२	मान कैसा ?	३०३
४३	कब मिलेंगे ध्रुव चरण व ?	३०४
४४	कुहू की बात	३०५
४५	बन्धना की स्वामिनी तुम	३०६
४६	वसन्त	३०७
४७	संस्मरण नोदना	३०९
४८	क्या	३१२
४९	वसन्त-बहार	३१३
५०	मिल गये जीवन डगर म	३१५
५१	हिय रार मेरी	३१६
५२	आओ	३१७
५३	अस्तित्व मेरा	३१९
५४	किर-किरी	३२१
५५	पार्थिव	३२२
५६	बुझ चली	३२४

५७ काँव ! काँव !! ३२६
५८ छोटे की स्मृति मे ३२७
५९ मिलन साध यह इतनी क्या ३३०
६० पहेली ३३१
६१ वसन्त ३३२
६२ मन्द ज्योति ३३८
६३ घनश्याम ३३९
६४ पावस पीडा ३४०
६५ ओ मुरली वाले ३४१
६६ तडपन ३४२
६७ मनोरथ ३४३
६८ पन्थ ३४४
६९ डुबकी ३४५
७० मत तोडा गहरा सपना ३४६
७१ पुकार ३४७
७२ अज्ञान ३४८
७३ स्थिति वैचित्र्य ३४८
७४ रुनु झुनु ३४९
७५ कुण्डल ३५०
७६ वह बाकी झाँकी ३५१
७७ माँग ३५३
७८ मेरी टूटी गाडी ३५५
७९ घडियाल बजाने वाले ३५६
८० पत्र ३५६
८१ किमिदम ३६१
८२ फिर से ३६२
८३ एक घूँट ३६४
८४ ऊजड घाम ३६५
८५ व्याकुल ३६६
८६ भोली मूरत ३६७
८७ वेणी ३६८
८८ एकाधिपत्य ३७०

८९	कृपाकोर ?	३७१
९०	पान	३७३
९१	पिला दो	३७४
९२	नाविक ?	३७६
९३	बढे चला	३७७
९४	दिवाली	३७७
९५	नही नही	३७८
९६	ढुल मुल	३७९
९७	उस पार	३८२
९८	भ्रम जाल	३८४
९९	निमन्त्रण	३८७
१००	दीवानी लगन	३८८
१०१	सिंगार	३८८
१०२	पराजय	३९०
१०३	बिंदिया	३९२
१०४	निद्रोत्थित नेह	३९५
१०५	आसू के प्रति	३९६
१०६	खाज	३९८
१०७	तुम्हारे सामने	३९९
१०८	प्यासा	४००
१०९	चि ता	४०१
११०	दुपहरी	४०३
१११	उस दिन	४०५

प्रलयंकर

१	अदष्ट चरण व दना	४०९
२	भरत खण्ड के तुम हे जन गण !	४१०
३	गरजे मेरु सागर पहाड	४११
४	तू विद्रोह रूप, प्रलयकर !	४१३

५ गरल पियो तुम ! गरल पियो तुम ४१५
६ पथ निरीक्षण ४१८
७ भैरव नटनागर ४२०
८ मर मर हम फिर फिर उठ आये ४२२
९ पराजय गीत ४२३
१० अग्नि कायर-संवाद ४२५
११ शिखर पर ४२६
१२ १९३०वें वर्ष की समाप्ति पर ४२७
१३ विप्लव गायन ४२९
१४ वसंत ४३१
१५ तन मन से तुमको प्यार किया ४३२
१६ हम अलख निरंजन के वंशज ४३३
१७ सम्भाषण ४३५
१८ उत्सीदेयुरिमे लोका ४३६
१९ क्या रोते हो, यार ? ४३७
२० खिचड़ी ४३९
२१ क्रांति ? ४४०
२२ अनल गान ४४१
२३ हे क्षुरस्य धारा पथगामी ४४४
२४ ओ, सदियों में आनेवाले ! ४४५
२५ मस्त रहो ४५४
२६ विष पान ४५६
२७ नरक विधान ४५९
२८ एक बार तो देख ४६१
२९ घूँट हलाहल ४६२
३० अपना मृदु गोपाल ४६३
३१ कारा में सातवीं श्रावणी रक्षा पूर्णिमा ४६४
३२ राखी की सुध ४६६
३३ आज क्रांति का शंख बज रहा ४६७
३४ विद्रोही ४८०
३५ सुनो, सुनो, ओ सोने वालो ! ४९०
३६ जूठे पत्ते ४९३

३७ गहन तमिस्रा की परिखा ४९५
३८ ओ तुम अविचल वीर ! ४९६
३९ कमला नेहरू की स्मृति में ४९७
४० मन्द ज्योति ४९९
४१ यह है विप्लव का पथ, भाई ४९९
४२ मेरे अतीत की ज्योति लहर ५०१
४३ ओ तुम मेरे प्यारे जवान ! ५०८
४४ अरे तुम हो काल के भी काल ५११
४५ ये आये ये आये ! ! ५१३
४६ ऐसा क्या हमें अधिकार ? ५१४
४७ क्या पर-वश, डगमग पग मानव ? ५१५
४८ मेरे साथी अज्ञात नाम ५१७
४९ नरक के कीड़े ५२०
५० चिन्ता ? ५२३
५१ सैनिक, बोल ! ५२५
५२ आ मजदूर किसान, उठा ५२९
५३ अरी धधक उठ ५३३
५४ गड़गड़ाहट गगन भर में ५४०
५५ दग्ध हो रहे हैं मेरे जन ५४२

स्मरण दीप

१ पधारो अमराई में आज ५४७
२ मेरे स्मरण दीप की बाती ५४८
३ घन गर्जन क्षण ५५०
४ विहँस उठो प्रियतम तुम ५५१
५ फिर वही ५५३
६ प्रिय, लो डूब चुका है सूरज ! ५५४
७ ओ मेरे मधुराधर ५५५
८ उमँगे सावन के धाराधर ५५६
९ केन्द्र बिन्दु ५५८
१० क्या बतलायें रोने वाले ५६०

११ स्मरण विहगम ५६१
१२ ज्वाल-पीन हाहाकार ५६३
१३ द्विधा लाप ५६४
१४ यात्रा पथे ५६५
१५ तुम मेरी आँखो की पुतली ५६६
१६ रोको, हे, रोको ५६९
१७ आकाश का शव ५७०
१८ अगारा की घड़ियाँ ५७१
१९ विस्मरण खेल ५७२
२० ओ हिरनी की आँखो वाली ५७३
२१ कितनी दूर पधारे हो ५७५
२२ वे क्षण ५७६
२३ हम परित्याग के आदी है ५७७
२४ लो यह नाता टूट रहा है ५७८
२५ प्रिय, मैं आज भगे क्षारी-सी ५८०
२६ तुम हँसते से प्राण ५८२
२७ कौन सा यह राग जागा ? ५८३
२८ आराइयाँ ५८४
२९ मृत्तिका की गुडिया के गीत ५८५
३० कवि जी ! ५८७
३१ दुई का सोच ५९०
३२ मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया ५९२
३३ अब यह रोना धोना क्या ? ५९४
३४ फिर आ गयी दीवाली ५९५
३५ गागर में सागर ५९५
३६ कागज की नाव ५९७
३७ मैं निज भार वहन कर लूँगा ५९८
३८ विनय ५९८
३९ गभीर भेद का भरम ६००
४० वहुरगी ६०१
४१ प्यार बना मेरा अभिशाप ६०२
४२ तुम हो गये पराये ६०३

४३ विचलित विश्वास ६०५
४४ सन्ध्या आरती ६०८
४५ नयन निमन्त्रण ६०९

मृत्यु-धाम

१ कैसा है मृत्यु धाम ? ६१३
२ कैसे निशि के सपने ? ६१४
३ क्या है यह अन्धकार ? ६१६
४ कैसा मरण संदेसा आया ? ६१७
५ मृत्यु-बन्ध ६१८
६ जग में महा मृत्यु की फाँसी ६१९
७ क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ? ६२१
८ भाई, आज बजी शहनाई ६२२
९ चेतन भी मृण्मय है ६२४
१० झाँक सके आर पार ? ६२६
११ मरघट घाट ६२७
१२ प्रश्नोत्तर ६२९
१३ मिट गये ह चित्र मेरे ६३२
१४ यह प्याला मैं पी न सकूँगा ६३४
१५ गहन, सघन अन्धकार ? ६३५
१६ पहेली ६३७
१७ अविरल चेतना की धार ६३८
१८ सृजन झाँझ ६४०
१९ हमारे साजन की अजब अदा ६४१

■

हम विषपायी जनम के

सिरजन की ललकारे

समग्र रूप मे नवीनजी की दाशनिक
कविताओ का सग्रह

*[सग्रह को कवि द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक
'नूपुर के स्वन' भी दिया गया है]*

बयालीसवें वर्षान्त मे

(अग्नि दीक्षा काल म)

पूछा सन्ध्या ने आज कवे!
हम शोक मनाये या कि हर्ष ?
तुम आज कर रहे हो पूरे
चालीस और दो अधिक वर्ष,
यह बयालीसवा वर्ष आज
अस्तगत रवि के साथ चला,
बोलो, किन भावो को लेकर
आयेगी कल ऊषा चपला,
जीवन के इतने वर्ष बने
धुँधली स्मृतियो के पुज रूप,
हे कवि! क्या देखो हो इनमे
तुम कुछ कुछ अपनापन अनूप ?

मैंने अवलोका सान्ध्य क्षितिज,
मैंने अवलोका अपने को,
इतने वत्सर पूरे करते,
देखा जीवन के सपने को,
हो चला कालिमा से मण्डित
सन्ध्या-नभ जो था लाल लाल,
पर दिङ्मण्डल पर दिखा पूर्ण-
निशिपति हँसता उन्नत, विशाल,

मैने सन्ध्या से कहा देवि !
मेरे जीवन की धूप-छाँह,
है हर्ष-शोक से परे आज
है बहुत दूर मेरी निगाह ।

ओ बयालीसवे वत्सर की
मेरी उत्सुक झुटपुटी साझ !
है स्तब्ध आज इस जीवन की
मादक गम्भीर मृदग, झाँझ,
गाये है मैने गीत कई
रोने रोये है कई-कई,
हर सुबह और हर साँझ उठी है
दिल मे टीसें नयी-नयी,
क्यो देखूँ मैं पीछे मुडकर
जीवन का ऊसर, विशद-क्षेत्र,
हे साझ ! आज आगे को है
मेरे ये उत्सुक युगल नेत्र।

मेरा अतीत है महा-काव्य
दुबल मानव-क्रीडाओ का,
मेरा अतीत है एक पुज
हिय की गहरी पीडाओ का,
है रहे स्वप्न मम चिर सगी,
सगिनिया रही निराशाएँ,
जीवन नद मे जल-बुद्बुद-सी,
बन बिगडी मम अभिलाषाएँ,
पर सन्ध्ये ! आज निरिन्द्रिय औ'
निर्देह-भाव की चाह जगी,

कुछ-कुछ रहस्य-उद्घाटन की
हिय में यह नूतन लगन लगी।

यह जो कहलाता है असीम
क्या है सचमुच सीमान्त हीन ?
जिसको विमुक्त कहते है वह
क्या है वास्तव मे निज अधीन ?
यह जो अनन्त-अम्बर है वह
क्या है इति-शून्य, अशेष लीन ?
अक्षर क्या सचमुच ही न कभी
होता है किंचिन्मात्र क्षीण ?
जग रही आज ये युग-युग की
प्रश्नावलियाँ अलसायी-सी,
तडपन, ऐसी यह जिज्ञासा
उठ रही आज बल खायी-सी।

मेरे जीवन की सन्ध्या की
झुटपुट अँधियारी उमड रही,
मेरे नयनो मे भी तो यह
अब ज्योति-क्षीणता घुमड रही,
तन मे थकान अनुभूत हुई,
मन मे शैथिल्याभास हुआ,
ऐसी घडियो मे इस शाश्वत
जिज्ञासा का सुविकास हुआ,
परदे के पीछे क्या है, यह
उस समय देखने की सूझी,
जब खत्म हो चली है मेरी
हस्ती की शारीरिक पूँजी।

चेतना लता मे लय-भव के
क्यो सुमन फूलते रहते हैं ?
क्यो जन्म मरण के झूले मे
ये प्राण झूलते रहते हैं ?
ये पूण-पुरातन प्रश्न-चिह्न,
ये चिर जाग्रत ये चिर नवीन,–
मेरे मानस-पट पर उभरे
फिर से ये पूण रहस्य-लीन,
इन प्रश्नो की उत्सुकता का
मै आज बना हूं पुजरूप,
दे दो तो उत्तर धीरे से
तुम ओ मेरी सन्ध्ये अनूप।

इच्छा तो है मै खोल सकूँ
यह भीम भयानक मृत्यु द्वार,
इच्छा यह है मै झाक सकूँ
इस घनावरण के आर पार,
उड चले आज मम राज हस,
सीमान्त गगन का वक्ष चीर,
अम्बर कापे, कुछ भेद खुले
कुछ छलक उठे नभ गग नीर,
अनुमान ज्ञान की नही, आज
प्रत्यक्ष ज्ञान की प्यास मुझे,
देखूं किस क्षण इस जीवन मे
वह नीर पान कर स्वय बुझे ?

श्री गणेश-कुटीर कानपुर
४३वी वर्षगांठ,
मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, १९९६
२६ दिसम्बर १९३९

व्यवहारवादिता

इस जीवन की गहराई को झुककर कोई क्यो झांके ?
इक दमडी की ऊँची-ऊँची कीमत कोई क्यो आके ?
इतनी साँस, उसासें इतनी क्यो यो कोई नष्ट करे ?
कैसा ह्रिय ? ह्रियहरण कौन-सा ? है ये झझट दुनिया के !

नर क्या है ? जीवन-विकास का एक चपल, चल विभ्रम है।
नारी क्या है ? प्राणि-शास्त्र का केवल एक तुच्छ क्रम है ॥
क्या है हृदय ? भावना क्या है ? ये सब है अपवाद निरे,
जीवन इक हू-हू चिडिया है ! यह सब व्यर्थ परिश्रम है ॥

कैसा नाता-रिश्ता, बन्दे ? मुँह देखे की प्रीति यहाँ,
बस, आँखो की लाज निभाना, यही रही है रीति यहाँ,
पीठ फिरी तो बन्द हो गये अपनो के भी द्वार सभी,
तुम नवीन, अब तक न रच भी समझ सके यह नीति यहाँ ?

तुम इस रीति नीति को समझो, मन मे करो न खेद अरे,
इस जग मे व्यवहार सदा ही होते है यो भेद-भरे,
लख लख यह लीला दु शीला क्यो तव लोचन भर आयें ?
क्यो तव चिन्तन-मग्न भाल से बूँद-बूँद प्रस्वेद झरे ?

कहा तुम्हारे ललित मनोरथ ? वे तो तिमिर-विलीन हुए ?
कहाँ तुम्हारे प्राण-पिरीते ? वे सब तेरह तीन हुए,

सभी मस्त है अपनी धुनमे, किसको किसका ध्यान यहाँ ?
एक तुम्ही हो जो कि व्यथ मे यो चिर चिन्ता क्षीण हुए !

अतल-वितल पाताल सदृश है जीवन कहो, कहाँ गहरा ?
मत झाँको इतने गहरे से ! वह तो इक बुद्बुद ठहरा !
खूब जानते है, न करोगे तुम विश्वास रच हम पर,
पर, तुम अपनी दशा निहारो, देखो तो अपना चेहरा !

तुमने सदा झाक झुक देखी इस जीवन की गहराई,
तुमने सदा अतल की ऊँची ये लहरे है लहरायी,
हमने कहा किनारे खेलो ! पर तुम गहरे पैठ चले !
लो, अब श्रवणो मे अणव की भैरव गूँज घहर आयी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
७ नवम्बर १९४३ रात्रि

■

एकाकीपन

त्रिभुज रूप बक पंक्ति चली यह
इस विस्तृत नीले अम्बर मे,
मानो त्रिगुण-कल्पना पैठी,
चिर चिन्तन के महदन्तर मे,
दुग्ध धवल नभचर-पंखो पर
बिम्बित नील गगन की झाँई,

हम विषपायी जनम के

मानो किमी नील अचल मे
शुभ्र कुन्द कलियाँ मुसकायी,
चली वको की आतुर टोली
गगन चीरती-सी सम गति से,
मानो शाश्वत टोह्-भावना
उडी छुडाकर बाँह नियति से !

मै थलचारी पूछ रहा हूँ
कहाँ चले तुम सब, ओ खग-गण ?
ज्यो गमनोन्मुख प्रिय पाहुन से
पूछा करते है सुगृही जन !
कौन ताल आये हो तजकर,
ज्यो निर्मोही तजते है घर ?
खिचे जा रहे हो क्यो सर सर
मानो तुम हो चग गगन-चर ?
उडा रहा है तुम्हे कौन यो ?
है तव सृति-डोरी किसके कर ?
है तव पिय भी क्या वैसे ही
जैसे हैं मेरे पिय हिय-हर ?

उडते देख गगन मे खगगण,
उडने की आयी मेरे मन,
सोचा, क्यो न उडाऊँ निज तन
जा निरखूँ अपने मनभावन,
जा निरखूँ पिय का मधुरानन
निरखूँ उनके आकुल लोचन,
निज पिय के वे सकरुण मृगनयन,
जिनमे विप्रयोग के जल-कण,

पर मैं पखहीन नित परवश,
दूर वसी साजन की नगरी,
और अनेको विकट सन्तरी
रोक खडे है मेरी डगरी,

मेरे प्रियतम परम स्नेह-धन,
परम उदार, परम करुणायन,
जिनके चरणो मे मम कण कण
अर्पणहित उत्कण्ठित क्षण-क्षण
मम मन-भृग गुजरित सन्तत,
गुन-गुन उनके गुण-गायन रत
सोच-सोच अब वे क्षण सुविगत,
है व्याकुल पुखित शर-आहत,
कहाँ पुण्य मन्दिर साजन का,
कहाँ दरस निज जीवन धन का ?
जब आनद्ध बज उठा रण का,
सहमा स्नेह-मनोरथ मन का।

प्रिय, अब फिर कब मुसकाओगे ?
बोलो, सम्मुख कब आओगे ?
मजुल छवि कब दिखलाओगे ?
अत्र फिर कब दृग मे छाओगे ?
मेरे रण की अवधि अनिश्चित
पर, मम स्नेह-साधना अचलित,
तुम हो देश-काल पट अपिहित,
तदपि सदा तुम मम हृदय स्थित,
जीवन मे शुभ अवसर आया,
वडे भाग्य मे तुमको पाया,

हम विषपायी जनम के

किन्तु काल की ऐसी माया,
पाकर भी फिर तुम्हे गँवाया।

यद्यपि सन्तत रमे हुए हो,
तुम मेरी शोणित-धारा मे,
अष्टयाम ही तुम रहते हो
मेरे सग सग कारा मे,
फिर भी अकुलाता रहता है
मेरा हृदय और मेरा मन,
मै हूँ सगुण उपासक, मुझको
कैसे धीरज दे निगुणपन ?
सतत तुम्हारा स्मरण, ध्यान ही
है अवलम्ब यहा जीवन का,
पर, किमि होगा तव स्मिति-द्युति बिन,
दूर तिमिर एकाकीपन का ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ मार्च १९४४

■

क्यों थके तन ? क्यों थके मन ??

थक गया हूँ, विरथ हूँ मैं, है परम विश्रान्तिरत मन,
किन्तु गाता ही रहूँगा मैं भ्रमण के गीत पावन,
यदपि है अति थकित तन-मन।

नित्य गतिमय इस जगत मे, यह हृदय की श्रान्ति कैसी ?
बैठने की चाह कैसी ? यह अलस विश्रान्ति कैसी ?
मानवो के पूत, बोलो, श्रान्ति की यह भ्रान्ति कैसी ?
या कहा विश्राम ? जग का नियम है चक्रमण क्षण क्षण ?
यदपि हो अति थकित तन-मन !

भ्रमण-मय है सौर-मण्डल, भ्रमण-रत नक्षत्र-मण्डल,
भ्रमण मय परमाणु जग के, पर्यटन-मय तेज प्रतिपल,
ये स्वय दिक् काल भी है पर्यटन से श्रमित, विह्वल,
किन्तु इन सब को, कहो तो, कब मिला विश्राम साधन ?
क्यो थके तन ? क्यो थके मन ?

देश है यह नित विततिमय, काल है सन्तत कलन-मय,
भ्रमति जड ब्रह्माण्ड सन्तत, और चेतन भी चलन मय,
तब जगे क्यो मनुज हिय मे, भावना यह पथ स्खलन मय ?
नित्य यात्रा, पर्यटन नित, हे यही जीवन विलक्षण !
यदपि है अति थकित तन-मन !

मत कहो पथ कण्टकित है, मत कहो, मग है अँधेरा,
और, मत पूछो कहाँ पर मिल सकेगा निशि-बसेरा,
बस, सदा चलते रहो, हो साझ, या हो शुभ सवेरा,
पन्थ हो जन सकुलित, या हो निपट सुनसान, निर्जन !
मत करो विश्रान्ति-रत मन !!

तुम स्फुलिंग ज्वलन्त सन्मय, ज्ञानमय तुम पूर्ण चेतन,
है अनादि प्रवास-पथ तव, अन्तहीन त्वदीय विचरण,
तुम स्वय हो ज्योति, तब क्यो मार्ग मे होगा तिमिर घन ?
तव हृदय से ज्योति किरणें आ रही है सतत, छन छन !
क्यो थके तन ? क्यो थके मन ??

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ दिसम्बर १९४३

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?

क्या मै कर सकता हूँ – कृत को अकृत, और,
लिखित को अलिखित ? मै पूछ रहा हूँ यह ।
क्या मै कर सकता हूँ अपना अतीत नष्ट ?
पूछ मै रहा हूँ अपने ही से यो रह-रह ।
किन्तु तर्क मेरा मुझसे यो बोल उठा, ऐ रे !
कर्मबद्ध जन ऐसी पोच बात मत कह,
सचितो की शृखलाएँ कौन तोड सका है यो ?
वे तो दृढतर होती जा रही है अहरह ।

सम्भवत पुष्ट तर्क ठीक ही रहा है कह;
तर्क की अकाट्य बात कैसे ठुकराऊँ मै ?
किन्तु इस विवश प्रारब्ध-बद्ध धारणा से,
हिय मे सन्तोष कहो कैसे टुक पाऊँ मै ?
मानव क्या इतना है विवश नितान्त, अहो ?
तब निज कृति का दायित्व क्यो उठाऊँ मै ?
क्यो न निज धर्म-कर्म प्रेरणा, विवेक, ज्ञान,
सचितो की वेगवती धार मे बहाऊँ मै ?

किन्तु सचितो का पूर्व कर्त्ता है, कहो तो, कौन ?
मै ही हूँ ? तो फिर क्यो मै विवश, विचार-हीन ?
मै ही हूँ जब अपने भाग्य का विधाता आदि,
तो क्यो कहते हो, मै हूँ रज्जु-बद्ध और दीन ?

मैने सिरजी है निज सचितो की प्रेरणाएँ,
मै ही कर दूँगा, उन्हे क्षार-क्षार और, क्षीण।
मै ही यो हुआ हूँ जब स्वेच्छा से प्रवृत्ति-पीन,
तब क्यो न होऊँगा मैं स्वेच्छया निवृत्ति-लीन ?

हा। हा।। आज कृत को अकृत करने की, और,
लिखित को अलिखित करने की चाह है,
किया है उच्छिष्ट जो प्रसून इन अधरो से,
उसके लिए ही इस जीवन मे दाह है।
तुम स प्रार्थी हूँ, अहो, जीवन-आदश मेरे,
असलग्नता की मेरे लिए नयी राह है,
उनको उबार सकूँ जिनको डुबोया मैंने,
इतने गहरे, कही जिसकी न थाह है।

बल दो। मरोड सकूँ ग्रीवा निज प्यार की मैं,
बल दो कि नोच सकूँ नीड निज हिय का।
बल दो कि मै न बनूँ पिय के पगो का शूल,
निष्कण्टक बने पन्थ मेरे प्राण प्रिय का।।
पीतम बँधे हैं मेरे बन्धन मे, किन्तु यह—
बन्धन है अति अविचारमय जिय का,
बन्ध मुक्त होवे मेरे पीतम का मन अलि,
और करे पान निज चयन—अमिय का।।।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० दिसम्बर १९४३

■

प्रिय, वल दो

प्रिय, वल दो, उत्क्रमित कर सकूँ जीवन के अभिशाप,
यह सेन्द्रियता राग-रग यह, यह मनसिज-सन्ताप !
देख रहा हूँ अपने सम्मुख आत्म-मुक्ति की गैल,
वल दो मुझे न त्रस्त कर सके पथ के कष्ट अमाप ।

अपनापन पाने का केवल माग यही है एक !
कि निज तुरग की वल्गा अपने कर मे हो सविवेक
अश्व हिनहिनाये, या नाचे, या भागे वेताब,
पर, आ रही स्थिर हो, उसका डिगे न आसन नैक ।

अव तक यह मदमत्त तुरगम मुझ पर रहा सवार,
जन-जन हँसे देखकर मेरी छाती पर यह भार !
बोले देखो ये आये हैं लादे अपना अश्व !!
यो वोले वे, जो कि स्वय थे अश्वाक्रान्त अपार !!!

मैं क्या कहता ? मैं तो था ही निज हय मे आक्रान्त,
मुझे हँसी का समय कहाँ था ? मै था अतिशय श्रान्त,
पर, अब कुछ उठ खडा हुआ हूँ कशा-पाणि मै आज
मुझे कदाचित् अब न करेगा यह सैन्धव उद्भ्रान्त !

लख जग-जन, लख जग-जन-निर्मित विकट समस्या आज,
लखकर यह विनाश, लख-लखकर यह विकराल अकाज,
आज पूछता हूँ रे जग, क्यो यह भीपण-विस्फोट ?
क्यो ये ज्वालाएँ ? जलता है क्यो यह मनुज-समाज ?

वोल उठा समता का भौतिक ज्ञानी खाकर ताव।
यह है विषम और वैयक्तिक धन-सम्पत्ति-प्रभाव।
रच डालो अभिनव समाज तुम, रचो नया संसार,
तब अपने ही आप मिटेगा यह शोणित का चाव।

मैं कहता हूँ, भौतिक ज्ञानी, रच सँभल कर बोल,
देख तनिक वह घर भी, बजता जहाँ साम्य का ढोल।
नहीं सुना ? वाँ भी मचती है घृणित रक्त की फाग,
भूल गया रे, क्या तू अपने घर की रक्त-किलोल ?

वाँ भी तो होते रहते हैं निशि-दिन अत्याचार,
क्रान्ति-सुरक्षा के मिस वा भी होते दुर्व्यवहार।
प्रश्न यही है। कि क्या अलम् हैं निरे बाह्य उपचार ?
या कि हमे सयत करनी है अन्तर की भी रार ?

बाह्य उपकरण आवश्यक हैं, है उनका भी स्थान,
पर, उनकी सीमा है, इसका रखना होगा ध्यान,
अन्त शुद्धीकरण, भयहरण, सत्य, सनातन मन्त्र,
इसके बिना समाज तन्त्र का हो न सकेगा ज्ञान।

अपने घोडे का चाबुक हो जब अपने ही हाथ,
और, रहे अपने कन्धो पर जब अपना यह माथ,
तभी पा सकेगा यह मानव शान्तिपूर्ण निर्वेद।
तभी, वुद्धि जव समुद चलेगी मन सयम के साथ।

वल दो, इस डग-मग-पग जग को, हे मेरे आदर्श।
वल दो, कि यह कर सके सयत अपना हर्ष-अमर्ष,
धधक रही है आज प्रलय की यह जो अग्नि प्रचण्ड,
मानव उसको करे शमित औ' मेटे यह सघर्ष॥

यह लालसा, एषणा, इच्छा, ये कामादि प्रमाद,
इन सबका कर सके आज यह मनुज पूर्ण अवसाद !
बस दो, प्रिय, हो गया बहुत, कर दो समाप्त यह खेल,
अब तो दो इस चिर याचक को मधुमय मन प्रसाद !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ फरवरी १९४४

■

नैशयाम कल्पमान

निशि का अति क्षुद्रयाम
आज हुआ कल्पमान,
अस्थिर, चल, चपल निमिष
आज हुआ युग समान।

अस्थिर में होता है
जब शाश्वत समावेश—
तन्मय हो जाते हैं
जब अनित्य काल, देश,—
तब होते हैं विलुप्त
अचिर चलन-कलन क्लेश
सुन्दर, शिव, सत्, अकाल
रहता है एक शेष।
पाता है परिवर्तन तब चिरता का प्रमाण।
चपल निमिष युग समान।

निशि के चचल क्षण को
तुम देते स्थिर स्वरूप,—
छिटकाते स्मिति-किरणें,
हरते घन तम कुरूप,—
भरे हुए प्राणार्पण
निज नयनो मे अनूप—
आये साकार बने
तुम मेरे चिर अरूप।
उस क्षण अंकित होता क्यो न अमरता-विधान ?
नैशयाम कल्पमान।

जब आयें देह भरे
सपने मम मनसि जात,
तब वह निशि क्यो न बने
मेरी सौभाग्य-रात ?
तव पद-रति-अर्पित मम
अगीकृत शिथिल गात
निशि का तम लोप हुआ
मम नवजीवन-प्रभात
प्रिय, त्वम् मय मेरा मन, त्वम्-मय मम
विजित-प्राण।
ओ, मेरे भासमान।

एक निमिष-सम्पुट मे
भर भर आनन्त्य प्रहर,—
नयनो मे कौतुक भर
मुसकाये तुम प्रियवर,

मृण्मय यह काल-खण्ड,
जिसको चल क्षण कह कर,
हँसते हैं जग जन-गण,
वही हुआ अजर, अमर।
खूब दिया तुमने इस क्षर को अमरत्व-दान।
नैशयाम कल्पमान।

श्रवणो मे, नयनो मे,
प्राण,व्यजन मे, मन मे,—
अकित है अमर छाप
रोम रोम, कण-कण मे।
गूँजा अनहद निनाद
तव ककण-झन झन मे,
व्योम-गान तान उठी
मेरे प्रिय, तव स्वन मे
आये दिक्-काल तुम्हे वन्दन करने, सुजान।
ओ, मेरे रुचिर प्राण।

■

मेरे मन

अन्तमुख, अन्तमुख हो जा, रे मेरे मन,
उझक-उझक देखेगा तू किस-किस के लाछन ?
कर निज दशन, मानव की प्रवृत्ति को निहार,
लख इस नभ-चारी का यह पकिल जल-विहार,
तू लख इस नैष्ठि का यह व्यभिचारी विचार,
यह सब लख निज मे तू, तब करना मूल्याकन
अन्तमुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

बहुत सरल है करना अन्यो का तिरस्कार,
पर, है दुष्कर करना निज पर पाहन-प्रहार,
अन्यो का चीर-हरण तो है सीधा व्यापार,
कठिन काम जो है वह है निज का नग्न करण
अन्तमुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन ।

देखे हैं कितने ही तू ने विश्वासघात,
और लखे है तू ने अन्यो के स्तर-निपात,
पर, क्या है स्मरण तुझे अपनी भी रच बात ?
अन्यो की निन्दा के पहले कर उसे स्मरण,
अन्तमुख, अन्तमुख हो जा, रे मेरे मन ।

कृष्ण अनादर से यदि यमुना को श्याम कहे–
तो, वह निज कर मे फिर दपण को क्यो न गहे ?
आत्म साक्ष्य हो तो क्यो जग म अविचार रहे ?
मानव की वीथी मे क्यो बिखरे कण्टक-गण ?
अन्तमुख, अन्तमुख हो जा, रे मेरे मन ।

करे हेम यदि अपना आदि वस्तु-रूप वरण,–
तो क्यो रज करे स्वण-स्पर्धा का भार वहन ?
ऊँचे-नीचे क्यो हो माटी-माटी के कण ?
क्यो न थमे अपने ही आप दोप का वितरण ?
अन्तमुख, अन्तमुख हो जा, रे मेरे मन ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मई १९५५

■

द्वन्द्व-समुच्चय

मानव के प्राणो मे पीडा, मनमे विवेक,
अधरो पर खेल रही रुदन-हास मिली रेख ।
चिर पुराण इस नय ने कुछ यो सन्देश दिया
कि इस द्विपद मानव ने रस, विप, सब सग पिया
द्वन्द्व-समुच्चय बनकर यो मानव मरा, जिया,
निज मे अन्तर्विरोध है इसकी गीत टेक,
प्राणो मे दाह और फिर भी मन मे विवेक ।

फिर बोला नभ रे नर, देख, कि मै घूर्णित हूँ,
शत शत शम्पाओ के घोपो से तूर्णित हूँ,
कम्पित हूँ, स्तम्भित हूँ, आन्दोलित, चूर्णित हूँ,
फिर भी हूँ स्थिर, सुशान्त, एक, यदपि मै अनेक,
मेरे अन्तर्विरोध मे भी है एक टेक ।

नभ वाणी सुन मानव पूछ उठा यो हे नभ,
तेरे उर मे भी क्या हो उठती है 'जव-खव' ?
देख मुझ द्विपद को तू, मै हूँ कितना निष्प्रभ
तुझमे अगणित रवि-शशि, मुझम ? तमसातिरेक
मुझमे अविवेक गहन, तेरे मन मे विवेक ।

यह सुन नभ अट्टहास कर बोला हे मानव,
यो मत कह, तू ही तो ज्योति पुज का है लव,
मै तो हूँ भूत-सघ, मै जडगति स्पन्दित शव,
तू है सत् चिदानन्द, जिसका मै दास एक
मत घबरा द्वन्द्वो से, तेरा रक्षक विवेक ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० मई १९५५

निज ललाट की रेख

अब तक की क्या तुम न पढ सके निज ललाट की रेख ?
देखे इतने दर्पण, फिर भी, बाँच न पाये नेक ?
हाँ, उलटे आखर पढने का तुम्हे नही अभ्यास,
किन्तु पढेगा अन्य कौन तव भाल-लिखित ये लेख ?

अच्छा है कि रहे अपठित ही ये विधि-अक्षर वाम,
पढ लोगे तो भी क्या होगा ? कौन सरेगा काम ?
जो होनी है वह तो होगी, अनहोनी होगी न,
यदि यह नियम अटल है तो तुम क्यो होते हो क्षाम ?

यदि है नियति पूव गति-निश्चित-चालित घूर्णित चक्र,–
तव क्या चिन्ता ? रहे भाग्य की रेखा ऋजु या वक्र।
यदि है यहाँ विवशता इतनी, तो फिर,–खेल समाप्त !
मिले भले ही जीवन-नद मे तुम्हे मत्स्य या नक्र !

किसने तीतर-फन्द बनायी है ये तीतर कौन ?
पिंजर यह क्या है ? पिंजर के बाहर-भीतर कौन ?
कौन फँसा है ? फासा किसने ? कैसे ? कब ? किस अर्थ ?
तैत्तरीय गोत्रज तुम हो, तो बोलो, क्यो हो मौन ?

सहस्राब्दियाँ इन प्रश्नो को लेकर अपने अक,
यो विहँसी ज्यो हुलस विहँसता शरद शशाक मयक,
श्यामल शश शशि की गोदी मे, औ' ये धूर्जटि प्रश्न,–
अयुत युगो, कल्पो के हिय मे खेल रहे नि शक ।

निरुद्देश्य ही गिरी कंकरी जल में, उठी तरंग,
और उझक आये जो वारि-ती, काँपी नभ गंग,
उसी प्रकार, बिना आश्रय ही ये सब गहरे प्रश्न,—
करते हैं क्या संसृति-सुर की नीरवता को भंग ?

मत सोचो इन प्रश्नो की है निष्फल ऊहापोह,
चिर चिन्तन ही से कटता है जीवन का व्यामोह,
प्रश्न करी मधुकरी वृत्ति है सहज उन्नयन-पन्थ,
ज्ञात नही क्या कि है हृदय मे निरलस शाश्वत टोह ?

शतियो का शृंगार किया है इन प्रश्नो ने नित्य,
इन ने सिरजा सहस्राब्दियो का मानव-साहित्य,
कम्पन, मन्थन, चिन्तन उन्मन, उलझन-क्षण, ये धन्य ।
जिनके कारण चमका जन का बल-विक्रम-आदित्य ।

कौन कहेगा कि ये प्रश्न है निरुद्देश्य, नि सार ?
कौन कहेगा कि है वृथा ही इनका तत्त्व-विचार ?
यदि ये प्रश्न व्यर्थ है तब तो जन जिज्ञासा-वृत्ति-
होगी सिद्ध व्यर्थ । फिर, होगे बन्द प्रगति के द्वार ।

उठते हैं यदि प्रश्न हृदय मे तो वे उठें सुखेन,
प्रश्नो के बल हमे उपनिषत् मिली प्रश्न, कठ, केन,
करते-करते प्रश्न बन गया नचिकेता यम-मित्र,
और अमृत है केवल मन्थन-जिज्ञासा का फेन ।

तुम हो कौन, कि जिसने हिय यों मथ डाला, हे प्राण ?
तुम हो कौन, कि मैं धरता हूँ निशि-दिन जिसका ध्यान ?
विरही ने अकुला कर पूछा [illegible], जिस याम-
उसी निमिष मे [illegible] हृदय-द्वार [illegible] ।

मानव ने भर प्रश्न दृगो मे जब देखा जग-जाल-
वैज्ञानिकता बरबस जनमी उसी दिवस, तत्काल,
उसी प्रबल परिपृच्छा का पय पी कर हुई वयस्का
और कुशल इतनी कि खिलाती है वह अणु के व्याल ?

अन्तमुख हो कर मानव ने पूछी जब कुछ बात-
तब वहिरंग रूप की महिमा हुई और कुछ ज्ञात,
तू-तू, मै-मै, यह वह के सब हुए आवरण दूर,
वह अद्वैत हुआ सम्मुख, जो अब तक था अज्ञात।

अपने श्रम की देख व्यर्थता मानव ने चुपचाप,-
गही शरण उस नियति नियम की जिसका क्षेत्र अमाप,
और, सोचने लगा कि क्या है यह सब दुदम खेल ?
क्यो है जीवन मे इतना यह निपट विवशता शाप ?

नियति तुम्हारे लिए अटल है, पर, सोचो यह बात,-
कि जो नियति-निर्माण हेतु है वह क्या है अज्ञात ?
है निबन्ध प्रेरणा चेतन के विकास मे व्याप्त,
तब, इच्छा-स्वातन्त्र्य तुम्हारा है स्वभाव, सहजात।

कलिल जात जीवन-अणु से तुम स्वेच्छा से ही आज-
द्विपद द्विभुज, मनवान्, बुद्धियुत बने सृजन के राज,
इस प्रकार है स्वय सिद्ध तव इच्छा का स्वातन्त्र्य,
और कर्म-स्वातन्त्र्य सजाता है सजन के साज।

क्या है नियति ? नियति है केवल कर्म-समुच्चय, मित्र
और क्रिया की प्रतिक्रिया है निश्चय अक्षय, मित्र,
कर्म तुम्हारे पच न सके जो वे बन नियति कठोर,-
तुम्हे विवश-सा नचा रहे है जीवन-नाच विचित्र।

स्वेच्छा प्रेरित, स्वकृत, शुभ, अशुभ, जो एकत्रित कर्म–
उनमें ही है निहित नियति की जन्म-कथा का मर्म,
फिर भी सन्तत विद्यमान है तव स्वकर्म-स्वातन्त्र्य,
विषम मम नियति नाश, तुम्हारा है आत्यन्तिक धर्म।

कथित अमोघ नियति का कर्ता जो मानव मनवान्–
हर्ता भी हो सकता है यदि हो सचेष्ट सज्ञान,
चक्रव्यूह-भेद प्राक्तन का करना, यह है शक्य,–
यदि हो लौह-सार-बल संयुत इस मानव के प्राण।

यह सब है ध्रुवसत्य किन्तु तुम निरखो वह निरीह प्राणी,–
जिसके नयनों में जल-कण हैं और मूक जिसकी वाणी,–
जिसका जीवन नियति हस्तगत कन्दुक बनकर लुढक रहा,–
स्वकृत कर्म-स्वातन्त्र्य भावना ऐसे तन ने कब जानी?

वृथा के डींग भरो तुम न यारो,
तनिक निज ओर भी तो तुम निहारो,
मिला कब कर्म का स्वातन्त्र्य तुमको?
तनिक अपनी दशा भी तो बिचारो?

आ गया सम्मुख तुम्हारे भाग्य का यह खेल,
हो गयी है वक्र, बन्धुर, कठिन जीवन गैल,
पूर्व के अभिशाप का सह-चरण तुमको प्राप्त,
काट सकते हो सहज क्या कलित जो विष-बेल?

चिर तितिक्षा, धैर्य, साहस, शान्ति, क्षान्ति अपार,–
नित्य निज कर्त्तव्य पालन, हृदय-भाव उदार,–
दोष दर्शन-शून्य आँखें, स्नेहमय मन, प्राण,–
ये मिले तब स्वयं होगा नियति का संहार।

सहन कर लो, सहन कर लो, नित सहो यह शाप,
अन्य का यह नही, यह तो है तुम्हारा पाप,
भाग जाओगे कहाँ ? कुछ तो कहो, रण छोड ?
बाँध दोगे किस कामी पर कर्म के शर-चाप ?

पलायन है व्यर्थ का ही पापपूर्ण प्रपच,
कौन कहता है कि इससे शान्ति मिलती रच ?
लुढकते वे अतल पहुँचे, फिर वितल, पाताल,–
जो पलायित हुए सहसा छोड जीवन-मच ।

तुम न भागो, लडो, जूझो निज नियति के सग,
बस, तभी होगी तुम्हारी शृखला यह भग,
भागने से तो निगड सम तव चरण को बाँध–
वह बनेगी विकट भावी बन्धनो का अग ।

कालकूट जो घोला–
जीवन-रस मे अजान मे तुमने,–
उसे पान करने क्या–
शिव आयेगे शिवा छोड गिरि वे ?

अमृत स्वसचित मधुमय–
सम्पुट भर-भर चाहो तो बाटो,
पर, विष प्याला अपना
पीना सदा पडेगा तुमको ही ।

तव प्रसन्नता मे हैं–
भागधेय ससृति के सब प्राणी,
किन्तु तुम्हारा रोना–
तुम्हे छोडकर अन्य न रोवेगा ।

अपनी सजला आँखे-
करो निजला, और भरो उनमे-
वे दृढ निश्चय-किरणे-
हर ध्वान्त जो विकृति-नियति-सृति का।

कालकूट पी कर ही
धूर्जटि बन आये अशक की शका
स्वकृत हलाहल पी कर
और नही, तुम बनो शम्भु-किकर ही।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून १९५५

■

दुराव

कुछ रहस्य है ऐसा,
जिसे तुम्हारे विश्वासी जनमी
तुमको नही बताते,
तो तुमको क्यो हो इससे अचरज ?

सब जन अपनी खिचडी-
पका रहे हैं अपने चूल्हे पर,
तुम्हे क्या पडी है जो-
देखो दाने पके हैं कि कच्चे ?

भाग्य सराहो अपने
कि तुम रखे जाते हो दूर सदा,
विपद मोल क्यों लोगे ?
गुप्त मन्त्रणा एक यन्त्रणा है।

'अपनी-अपनी ढपली,
अपना-अपना राग, गीत अपना,'
नियम नहो यह दूपित
यदि न बने जन क्षुद्र स्वार्थ केन्द्रित।

स्वयं बजाने से ढप
ठीक ताल-गति सीखेगा मानव,
क्या गति होगी उसकी–
तुम्ही बजाते रहे ढोल-ढप जो ?

और बिना आलापे–
अपना राग, सिद्ध स्वर कैसे हो ?
गाओ तुम जो चाहो,
पर, अन्यो के कण्ठ न सुधरेगे।

अच्छा है, वे तुमसे
निज सम्बन्धित बात नही कहते,
करो प्रशंसा उनकी
कि है आत्म विश्वास उन्हे इतना।

हा, पर, एक खटक है
कि जब गोपनीयता रहे इतनी–

तो फिर, सग चलने मे
क्या कोई शुचि रुचि रह जाती है ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून १९५५, रात्रि १२ ३०

■

वृकोदरी ज्वाला

नारी के नेत्रो मे –
मँडरायी दानवी वासना की,
तब मानवी बिचारी
गली-गली की डाइन बन आयी।

नर मे भी नारायण
चाहे उतरें, या कि नही उतरें,
पर, नारी के हिय मे
नारायणी न उतरे तब क्या हो ?

देखी है वे आँखे
जहा जल रही वृकोदरी ज्वाला ?
देख, रह गये होगे
स्तम्भित, निष्पन्दित, वचित, शकित !

नग्न मानवी देखी ?
वैसी जैसी कि हाट मे बैठी ?
स्वय चलित वाहन मे (ऑटोमोबाइल मे) (ऑटोमबील मे भी)
वैसी ही निलज्ज बैठी है !

सुख की ललक हिये मे,—
ले कर विचरी मानव की वेटी,
मद्य, मास, मैथुन की—
वन आयी वह घृणित क्रीत दासी ।

घनी सान्ध्य-वेला मे—
कुतुब लाट छाया के नीचे,
जार-अक मे, पी कर,
धन्य कर रही है वह निज जीवन ?

क्या रोना आता है—
लख समाज का सस्ता नारीपन ?
रोना हो तो रो लो,
पर, न बनाओ अम्ल प्रेम-पय को ।

मत खोओ तुम नर के
नारायणत्व मे अपनी आस्था ।
और, मानवी को तुम
दैवी गुण-विभूषिता ही मानो ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून १९५५, रात्रि २ ३०

■

पि जर-मुक्ति-युक्ति

'राधा कृष्ण' न वोले,
और, न 'सीता राम' कहा उस ने,
चुग्गा खा कर शुक्जी—
'टॅर्के-टॅर्के-टियाँ' लगे करने ।

कई युगो से बैठे
बन्दी कीर पीजरे मे अपने,
खाते हैं, पीते हैं,
किन्तु न अक्षर एक सीख पाये।

रहे असस्कृत अब तक,
तो क्या छोडे आशा सस्कृति की ?
ये क्या वह ऊसर है–
जिसमे कोई बीज नही जमता ?

सुआराम, क्या यो ही–
बने रहोगे जंगली के जगली ?
वन्य भाव अब छोडो
करो पठित एकाध नाम-अक्षर।

व्यर्थ करो मत टें-टें,
और, न अपने पख फडफडाओ।
पिंजरे की तीली पर
मत रगडो अब चोच अपनी।

पिंजर-मुक्ति मिलेगी,–
जब तुम निश्चल, शान्त, सौम्य हो कर,
ले कर अक्षर-आश्रम,–
अन्तरिक्ष नापोगे नयनो से।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२३ जून १९५५

■

यो शूल-युक्त, यो अहि आलिंगित है जीवन

था एक समय वह जब जीवन मे सूनापन—
करता रहता था साँय-साँय प्रतिपल, क्षण-क्षण,
जब था अतृप्ति से आच्छादित यो अन्तरतम—
हो भरा हुआ ज्यो गो खुर-रज से सान्ध्य-गगन

उस सूनेपन मे ऊषा जब कि विहँसती थी—
अपनी प्राची-गोदी मे मधु कल्पना भरे,—
तब लगता था श्मशान की नीरव पीडा मे—
भावी मगल के स्वप्न व्यर्थ आ कर उतरे।

उस समय दिवस बढता था हौले-हौले यो,—
जैसे बढता हो श्रान्त पथिक सूने पथ पर,
यो लगता था कि काल भी अपना कलन-क्रम—
बिसरा बैठा है, और हुआ है वह स्थावर।

ज्यो त्यो कर के सूनी सन्ध्या झुक आती थी,
मानो कि रूक्ष केशी भिखारिणी, लकुटी पर,—
झुक जाये, नयनो मे भर याञ्चा युग-युग की,
हा जिसे न आस्था रच काल की भृकुटी पर।

आती जाती थी अँधियारी या उजियाली—
रत्नोपजटित या सोम-रश्मि सिंचित रातें,—
जिनके अतर म गिलीभूत आसू मन के
रच न कर पाते थे अपने भव की बातें।

प्राची से, पश्चिम दिशि से, या कि मध्य दिन मे–
जब-जब रवि ने देखा मेरा सूना जीवन,–
तो वह भी लगा सोचने कि क्या कभी देखा
ऐसा चेतन-मण्डित हत भाग्य मृत्तिका-कण ?

अन्तरतर मम क्षुत्-क्षीण, नेत्र मम तृषा भरे,–
मन मेरा अमन, हृदय रीता-रीता अशान्त,–
अस्तित्व भार दुवह, पथ-चरण असम्भव अति,
मै चर, स्तम्भित स्थित अचर सदृश, मम प्राण शान्त।

ऐसे क्षण मेरा पूर्व शाप बन हितकामी–
बोला क्या भूखा-प्यासा है, रे तू प्राणी ?
तो ले यह प्रभु प्रसाद, ले प्रभु चरणामृत तू,
मैने समझा मम सुकृत हुआ औघड दानी।

ले लिया ईश की कृपा समझ जो कुछ मैंने,
वह विप-फल और विप-उदक ही निकला, भाई,
पर, यह है यदि मम कृत का फल तो फिर क्या वश ?
निश्चित थो जो कुछ कुगति वही आगे आयी।

शीतल, कोमल, अति मसृण व्याल मे गरल अमित,
नयनाभिराम नर नारी मे वासना-ज्वाल,
यह देख पूछ बैठा मानव अपने मन से-
हे मन, ऐसे जन से क्या अच्छा नही व्याल ?

विश्वास, स्नेह, सम्मान-दान का प्रतिफल यदि–
है केवल प्रवचना, छल, लज्जाहीन कपट,
विश्वासघात, सकोच शून्य वासना-तृप्ति,
तब मानव के हिय मे न उठे क्यो एक लपट ?

मैंने तोड़ा जो फुल्ल कुसुम तो क्या देखा ?
उसके अन्तर मे एक भयकर तक्षक है।
मैंने सोचा मैंने कब ऋषि अपमान किया ?
जो मुझको मिला परीक्षित जीवन-भक्षक है ?

मै कितना हूँ सर्पाभिभूत, कुछ मत पूछो,
मै लहराता ही रहता हूँ प्रत्येक घडी
औ' तक्षक मुझसे लिपटे बैठा है ऐसे
जैसे मै हूँ चन्दन की कोई एक छडी।

थक हारे बीन बजा कर, साबर पढ-पढ कर,
गारुडी अनेको सर्प - मन्त्र - तत्त्वज्ञानी
पर, यह तक्षक है कि न टस से मस हुआ रच,
उसको चालित न कर सका अभिमन्त्रित पानी।

नय की परिभाषा बाँची और अनय की भी
दिन - रात, बैठ, एकासन, बडे परिश्रम से,
जितना ही पढा, बढ गयी उलझन उतनी ही,
मन मुक्त नही हो सका विचारो के भ्रम से।

स्थिर बैठ, रात को झिल-मिल तारो के नीचे,–
मैं लगा पूछने जब कि प्रश्न पर प्रश्न निरे,–
तब कहा किसी ने कि मत व्यर्थ मे उलझ, अरे,
उलझन के बल क्या तव पूर्वज भव-जलधि तिरे ?

मन पूछ कि सम्मुख जो कुछ आये आने दे,
ले ले प्याला पसार कर, वह मधु हो या कटु,
तू कैसे उसे ग्रहण करता है, बस, इससे –
निर्णय होगा – तू अकुशल है या है तू पटु।

होती नभ से जीवन-दायिनी अमिय-वर्षा,
पर, यदि कृशानु की नदी बह उठे अम्बर से–
तब क्या तू यों कह उठेगा कि अन्याय हुआ ?
क्या सृष्टा से है प्रेम ? नही प्रलयकर से ?

कट गया मोह का जाल, मिट गया भ्रम भारी,
जो तेरे सारे सपने चकनाचूर हुए,
जो अपने कहने भर को ये हो गये अन्य
अच्छा है, जो कि निकट थे वे अब दूर हुए।

गड गया पग थली मे जो काटा कीकड का
मैं बोल उठा है दुष्ट स्वभाव - युक्त काँटा।
पर, शूल बोल उट्ठा झुँझला कर, ओ अन्धे,
निज चरण-धग्ण हित तूने मुझको क्यो छाँटा ?

मै पडा हुआ था, तू निकला उम पथ हो कर,
औ' चरण लीन कर के मुझको तू ले आया,
अब खटक रहा हूँ तव तू क्यो रोता है, रे,
तू ही तो मुझको उस सूने पथ से लाया।

तू एकाकी था, मै अब तेरा सगी हूँ
तू जहाँ जायगा वही रहूँगा तेरे सग,
तू लँगडाता है तो लँगडा ले, किन्तु मित्र,–
मुझसे ही तो है निपट कण्टकित तव अग अग।

है बात ठीक यह मम पग तल गत कण्टक की,
है मेरा दोष कि मैंने पाव धरा उस पर,
पर, यदि उसमे सुमनोचित गुण होते तो क्यो–
वह मुझे सालता रहता यो भीतर घुस कर ?

मै स्वय वन गया हूँ शूली उसको ले कर,
शूली भी ऐसा जैसे हो कोई ववूल,
है कुसुम व्याज से फूल रहे मुझ पर इतने—
ये नोकदार, छेदन-समर्थ अनगिनत शूल।

यो शूल-युक्त, यो अहि-आलिगित है जीवन,
पर, सुमन - सुधा का है स्वभाव मेरा, निश्चय,
निश्चय ही होगे कण्टक परिणत सुमनो मे,
बरसेगा अमृत और होगा अहि-विप का क्षय।

मै अमृत-पुत्र, मै सुधा सुवन, मै सुमन-जात,
यह गरल और ये शूल छद्म छल-छाया है,
मै सदानन्दमय, मै चिन्मय, मै ईश वृत्ति
वेदना वृन्द तो भ्रम है, केवल माया है।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३० जून १९५५

करुणा घन

झर झर झर बरसे करुणा-घन,
सर-सर-सर सिहरे तृण तरु-तन,
झर झर-झर बरसे करुणा घन।

नाद-निरत, अति ध्वनित गगन-मन,
अवनि मृदग-घोर सुन उन्मन,
हरित भरित नित चिन्मय चेतन,
सिहर-सिहर हरषे मृण्मय कण,
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन,
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु तन ।

सन-मन-सनन समीरण-रिगण,
झीगुर-झकृति किंकिणि-सिंजन,
करवन-उपवन-राजि प्रमन्थन,
हहरा हर-हर-हहर-प्रभजन,
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन,
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन ।

तरणि-ज्वालमय धरणि-काल-क्षण
शान्त, तृप्त पाकर घन-तपण,
ले अम्बर का अर्घ्य-समपण—
थर-थर-थर वसुधा-हिय आगण
कम्पित भू-प्रागण,
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन,
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ जुलाई १९५५, रात्रि २ ५५

■

हे ज्योतिर्मय

अपनी दीप्ति-किरण से कर दो जग-मग इस धरणी का आँगन
हे ज्योतिमय,निज द्युति स्मिति से कर दो सम्मित जन-गण-आनन।

यह वसुधा, यह धीर धरित्री, यह वराह-उद्धृता, नग धृता,–
अचला, विश्वम्भरा, रसा यह, अणव-वसनोर्मि-आवृता,–
सुमन पर्ण-तृण-राजि-सयुता, रत्न-पण्डिता, यत्न सस्कृता,–
आज ध्वस-उन्मुखी बन रही मानव की लिप्सा के कारण,
हे ज्योतिर्मय, तव द्युति-कर से हो जन-मन-घन-ध्वान्त-निवारण।

निज विनाश रत, उद्धत, मतिहत, योगभ्रष्ट यह वामन मानव,–
अहकार-मज्जित, निलज्जित, बना रहा है, निज को दानव,
अहकार-कदम-निमग्न, यह नग्न बन रहा है अति दानव
उन्नत बुद्धि अधोनत निष्ठा, तव, इसका हो क्यो न पराभव ?
तुम मगलमय इस जगती पर करो अवतरित नन्दन कानन,
हे ज्योतिमय, निज आभा से चमका दो धरणी का आगन।

भारत-भूमि तो सदा रही है प्यारी क्रीडा-स्थली तुम्हारी,
सदा भेजते रहे यहा तुम अपने तेज अश-अवतारी,
वर दो इस स्वाधीन देश के हम आबाल वृद्ध नर-नारी,–
तव विश्व भर रूप निहारें, वह नित्य उसका आराधन,
हे ज्योतिमय, विश्व-नाश का तिमिर हरो, चमके वसुधागन।

५, विण्डसर प्लेस, नयी दिल्ली
८ अगस्त १९५५

■

नौका-निर्वाण

यह रात मौन-व्रत धारे,
ओढे यह चादर काली,
लक्षावधि झिलमिल आँखें
क्यो दिखा रही मतवाली ?

अन्तरतर का अँधियारा
यह फैल पडा भूतल मे,
सब ओर यही है छाया--
वन-उपवन मे, जल-थल मे।

कैसे बन गया अँधेरा
मेरा वह रूप उजेला ?
कैसे लुट गया अचानक
मेरे प्रकाश का मेला ?

क्या तुम सुनना चाहोगे ?
वह तो है एक कहानी,
जग सुनके हँस देता है,
उलझी-सी बात बिरानी।

गिनता रहता हूँ तारे,
सूनी कुटिया रोती है,
ये तारे हैं अगारे
या थाल-भरे मोती है ?

मोती को सुध आते ही
सोती पीडा जगती है,
ग्रीवा की माल तुम्हारी
हिय मे डुलने लगती है।

आ के बयार धीरे-से
थपकी दे लगी सुलाने,
उस निशि की मधुरस्मृति को
हलके से लगी भुलाने।

पर नीद हो गयी बैरिन,
नैनो को छोड सिधारी,
यह रात, बिरात हुई है,
आखें क्या करे बिचारी ?

धीरे-धीरे सब बातें
जग-जग के आयी आगे,
विस्मृति ने नाता तोडा,
ये पुन स्मरण सब जागे।

उस निशि की सुध आयी है,
जब शरद-चादनी छायी,
नभ को कर के आलोकित
सरिता तट पे मुसकायी।

मेरी टूटी सी नैया
गगा के नीले जल मे
डुलती थी, थिरक रही थी,
कम्पित होती पल-पल मे।

तुमको निठला के हिय मे
पूनो का चाद निहारूँ,
लहरो पे राज करूँ मैं,
तुम पे सब सरवस वारूँ।

यह सोच-सोच कर नौका
हिय मे हुलसी डुलती थी,
उस दुग्ध-फेन रजनी मे
मन की मिश्री घुलती थी।

कितने उल्लास भरे थे,
आशाएँ हिय मे कितनी,
अनुमान नही था, तुममे
होगी निष्ठुरता इतनी!

मैं ड्योढी पे जा बोला—
सरकार, नाव डुलती है!
तुम बोल उठे — पागल की
क्षण मे आँखें खुलती है!

उफ्! कैसी निष्ठुरता थी!
क्या अरमानो का वध था!
उन वचनो मे, हे निर्दय,
कितना पीडाकर मद था!

वह शरद-पूर्णिमा मेरी
सूनी ही रही अभागी,
उस रात लगा जो झटका,
हिय भी हो चला विरागी।

अब शीतल जल के तल मे
मेरी तरणी सोती है,
तट पे, यह भग्ना वशी
उसकी पीडा रोती है।

इस रात, अचानक, कैसे,
सुध उस निशि की हो आयी ?
निष्ठुरा पुन स्मृति मेरी
क्यो उसे खीच ले आयी ?

■

दोलाचल वृत्ति

ओ अभिशप्त, की न तूने ही यह याचना अलख चरणो मे
'देव, नेह मेरे प्रति उनका गरल बना दो, दुखद क्षणो मे,
उनका नव अनुराग सलोना बन जाये विरक्ति की छाया,
वरद, नेह को घृणा बना दो, मुझे बना दो निपट पराया,
इस सनेह-वरदान भार को, बोलो, कैसे सहन करूँ मैं ?
इस वलिष्ठ, पर, कम्पित कर मे यह धन कैसे ग्रहण करूँ मैं ?'

अरे अभागे यही प्राथना उट्ठी थी तव अतरतर से,
नभ-गगा-सी यही याचना धार बही थी हिय अम्बर से,
अलख चरण तक गयी धार वह और हुए वे पद प्रक्षालित
अथवा तव याचना हो गयी 'एवमस्तु' वर से प्रतिपालित,
हा, इसी से वरदान-रूप मे उपजी घृणा आज तेरे प्रति,
पर हिय मे अब पलिता है उनके अमर नेह की संस्मृति।

क्या सूझा था तुझ ? जनम म, एक बार वह नेह मिला था,
एक बार ही तो जीवन मे पीतम तुझे सदेह मिला था,
फिर भी तो तू घबरा कर यो चीख उठा 'हे देव, नहीं यह,'
जरा बोल क्यो थी दाहकता ? क्यो थी वह घबराहट दु सह ?
पद निक्षेप एक दिशि मे, फिर, झिझक, और फिर चलने का मन ?
यह कैसी अटपटी बात ? यह कैसा मन्थर आत्म प्रवचन ?

ओ अजान, मनु वशज के तुम अति अथाह हिय सिन्धु सलौने,
कैसे तेरी गहराई मे पैठें ? सब मानव है बौने,
हृदय-उदधि मे घोर विरोधी भाव वीचि, विक्षोभ मचा है,
इसके अरटि ने अपना एक अलग ससार रचा है
कुट्टति, सुकृति, स्वीकृति, अस्वीकृति,
सदसद्गनि, रति, विरति भयकर
इस विडम्बना ही मे अब तक उलझा रहा सनेह निरन्तर।

पिय का नेह मिला, हिय हुलसा, ललचाया, दौडा फिर झिझका,
फिर कुछ आतुर हुआ, और फिर कुछ अकुलाया, कुछ कुछ हिचका,
मधुरस मे यह कँकरीलापन । है कुछ ऐसा भाग मनुज का,
वर मे भी अभिशाप देखना, शेवा है इस देवानुज का
मन प्रसार क्षणो मे भी है आत्म ग्लानि की सुप्त व्यथा कुछ,
नेह प्राप्ति मे भी रहती है अस्वीकृति की अकथ कथा कुछ।

ये औचित्यानौचित्यो के किसने रच डाले है बन्धन ?
ज्ञान भाव यह कैसा जो यो कहता हे कि थमे हिय स्पन्दन ?
यह सदसद्विवेक का भीषण शाप मिला रे द्विपद पशु तुझे,
और विवेक शून्य अगारे मिले, बुझाये भी न जो बुझे,
आग जलाती है विवेक यह रो-रोकर वर्जित करता है,
और अवश अनुताप-दु ख से यह मानव-जीवन भरता है।

अब, जब उनके रोम-रोम मे उदासीनता, घृणा छा गयी,
अब, जब उनके मृदु नयनो मे कटु, विरक्ति-भावना आ गयी,
तब तू यो लालायित होकर मना रहा है क्यो यह मन मे
कि इस दुखी जीवन से तो कुछ सुख शायद मिल जाय निधन मे।
अब, जब तव प्यासे लोचन ये उन चरणो मे अड जाते हैं,
तब, क्या देखा नही कि, उनके माथे पर बल पड जाते हैं?

तेरा दिल भी आने-जाने वाला एक हिंडोला है, नर,
बडी होशियारी है तुझमे, फिर भी तू कुछ भोला है, नर,
क्षणिक ज्ञान के क्षणिक जोश मे माँग चुका है विरति दान तू,
अब लो उन्हे असह्य हो उठा तव अवलोकन, सत्य मान तू,
अब क्या फिर भी ललक ललक कर मागेगा उनका सनेह तू
अरे क्या रखा है इसमे अब ? बना नेह अपना विदेह तू।

देव बता दो तुम्ही कि कैसे रोकूँ यह उन्मत्ताकर्पण ?
सयम अग्नि कुण्ड मे कैसे 'स्वाहा' कह छोडूँ हिय घपण ?
मेरा अग्नि-कुण्ड है केवल पावकहीन राख की ढेरी,
और सुनो, स्वाहा कहने की इतनी ताव नही है मेरी,
खिचता ही जाता हूँ बरबस, किन्तु, हाय, फिर पछताता हूँ,
'तथा करोमि नियुक्तोऽस्मि यथा'–यही कथन मै सच पाता हूँ।

क्यो यह दिया राग रस इतना ? क्यो यह चचलपन दे डाला ?
क्यो त्रिगुणो को सूत्रबद्ध कर पहिना दी आकर्पण माला ?
इतने पर भी तुम कर लेते यदि सन्तोप, न था कुछ भी डर,
पर विवेक शृखला डाल कर नर को बना दिया है वानर,
अब देखो यह कैसे-कैसे नाच नाचता है निशि वासर,
इसके पद-विन्यास कँप रहे विरुद्धाचरण गति से थर-थर।

भीख माँगता हूँ, याचक हूँ, बल दो, हे, बल दो, हे बल दो,
मन्थन थम जाये, सेन्द्रियता विजिता हो, यह वर अविकल दो,
लीला की प्रियता की भी तो मर्यादा है, कुछ सीमा है,
फिर भी मुझे नचाने का यह तव उत्साह न क्यो धीमा है ?
हिय मे षण्ढ विराग भरा है, है अनुताप, किन्तु है निष्क्रिय,
अब तो समय आ गया है तुम कर दो इसको सक्रिय, हे प्रिय।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जुलाई १९२६

■

उड चला

उड चला इस सान्ध्य नभ मे,
मन विहग तज निज बसेरा,
क्यो चला ? किस दिशि चला ?
किसने उसे यो आज टेरा ?

क्यो हुए सहसा स्फुरित, अति,
शिथिल, सश्लथ पख उसके ?
क्या हुए है उदित नभ मे,
चन्द्रमा अकलक उसके ?
विकल आतुर-सा उडा है
मन – विहगम आज मेरा ?

शून्य का आतुर निमन्त्रण,
आज उसको मिल गया है,
क्षितिज की विम्तीणता का,
पवन – अचल हिल गया है

प्राण पछी ने गगन मे
ललक कौतूहल बिखेरा।

स्वनित उड्डीयन ध्वनित – गति –
जनित अनहद नाद से यह
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल,
रहा है गूँज अहरह,

ऊध्व गति ने ध्यान-मग्ना –
गीत यति को आन घेरा।
उड चला इस सान्ध्य-नभ मे
मन – विहग तज निज बसेरा।

■

सिरजन की ललकारे मेरी।

धधक रहा है सब भूमण्डल,
भूधर खौल रहे निशि-वासर,
सखे, आज शोलो की बारिश
नभ से होती है झर-झर झर,

घन गजन से भी प्रचण्डतर
शतघ्नियो का गजन भीषण, –
घषण करता है मानव हिय,
जग मे मचा और सघर्षण,

नर ही स्वय बना है नर के
रक्त मास का प्यासा भक्षक,
आज पुष्प - से मानव-हिय मे
आ बैठा है कोई तक्षक।

रक्त-भूमि बन गयी हाय, यह
पयस्विनी वसुधा मानव की,
शुक कपोत कोकिला कूजिता
कहा गयी वीथी माधव की ?

आज उठ रही है चित्लाहट
नभ मे त्राहि ! त्राहि !! के रव की,
स्वग-भूमि हो गयी, सखे यह
मज्जास्थली घृणित रौरव की,

नर के नारकीय भावो ने
जगती मे ऐसा खुल खेला —
कि यह विश्व बन गया निमिप मे
एक भयानक मरघट - मेला !

जहाँ दौडते थे पहले नर
जीवन - दान मृतोको देने,
वही आज बढते है वे ही
जीवित के प्राणो को लेने,

दारुण द्वेप दृगो मे छाया,
मारण भरा किचकिचाहट मे,
करुणा, दया, स्नेह वत्सलता,
कहाँ रही मानव के घट मे ?

नाश – शकट अपने चक्रो से
चूर-चूर करता है जन को,
हिंसा की व्यालिनी उगलती
है विप, फैलाये निज फन को।

निविड और तिमिराच्छादित घन
निशि मे नर तज तज अपने घर –
बने निशाचर, रेंग रहे हैं,
पेटो के वल झुका झुका सर,
है वन्दूक – कारतूसो से,
किरचो – वमगोलो से, सज्जित,
उनकी कर्त्तव्यता – नाश है,
उनके हिय हैं रक्त निमज्जित,
घनी रात कीचड धरती पर
नभ से गिरती मूसलधारे –
फिर भी रेंग रही हैं, देखो
द्विपद जन्तु की कई कतारे।

वह देखो, खन्दक मे सिकुडी–
सिकुडाई बैठी है पल्टन,
धरती माता की छाती पर
मृत्यु उगलती है मशीनगन,
दिग्-दिगन्तको कँपा रहा है
तोपो के गोलो का गर्जन,
मखे, खदको मे होता है
मानवता का पूर्ण विसर्जन।

तोपें धायँ-धायँ करती हैं
मानव हाय, हाय, करता है
रणचण्डी के भरे लबालब
खप्पर से लोहू झरता है।

क्षण-क्षण मे आकाश-बाण वे
तिमिर हटाते छूट रहे हैं,
थल को शोणित-पंकिल करते
बम के गोले फूट रहे है।

लो, मासूम नौजवानो के
छिन मे चिथडे उड जाते हैं,
लग जाते है ढेर शवो के
गीदड भी न उन्हें खाते है।

खून-नरो का यही कीमती
खून फैलता है धरती पर,
वही बना देता है कीचड
धरती की मिट्टी मे सनकर।

पख लगाये, चीर कलेजा
नभ का, करती घघर-घर्घर–
वायुयान मिस गुर्राती वह
आयी मौत नरो के सर पर,

एक घृणा से देख रहा है
ऊपर से नीचे को सत्वर,
और दूसरा भीति-त्रस्त हो,
देख रहा नीचे से ऊपर,

यन्त्रारूढ हुए है दोनो,
दोनो भाई-भाई जूझे,
फूट गयी दोनो के हिय की
अपने हित की क्योकर सूझे ?

बरसी आग, जहर भी बरसा,
गोले बरसे, सन-सन करते,
अरे मृत्यु को नभ से भू तक
छिन भी लगा न हाय, उतरते।

मार-काट के सभी वलवले—
पल-भर मे काफूर हो गये,
लिये भीति, विद्वेष हिये मे
खन्दकवाले वीर सो गये,

इतने ही मे गगनविहारी
भी खा गये चोट गोले की
भू पर गिरे, उड गयी चिन्दी—
चिन्दी उनके भी चोले की

पर कब रुकी रक्त की लिप्सा ?
बढती गयी बुझायी जितनी
प्राण स्तब्ध है देख-देखकर
जग मे चढा-ऊपरी इतनी,

युद्ध-भूमि की आग फैलती
आती है गावो-नगरो तक,
ध्वस्त हो रहे हैं शहरो के
गगनविचुम्बित उन्नत मस्तक,

इतनी सदियो के सिरजन का
हुआ जा रहा नाश क्षणो मे
रे नर, क्या तू ने सोचा है,
क्या रस है इन गृह्य रणो मे ?

वे प्रस्वेद-कणो से सिंचित
खेत लहलहाते प्रियदर्शन,–
हुए नेम्तनाबूद क्षणो म
जब यह हुआ अग्नि का वर्षण,
ग्राम्य शान्ति-सर की लहरे वे,
वह अलबेली जीवन-सरणी,–
लोहित-सी हो गयी आज क्यो ?
कहा गयी यह जन-मनहरणी ?
हिंसा की लपटो से झुलसी
नर की चिर-निर्माणवृत्ति सब
क्षार हो रही है देखो तो
भूत-दया, चिर-नेह, सुकृति, अब।

गाँव सभी वीरान हो रहे,
खेत हो रहे मरघट सारे
उपजाने वाले निर्माता
बनते है नाशक हत्यारे,
यह कैसा है पट-परिवर्त्तन ?
यह कैसा स्वरूप परिवर्त्तन ?
कौन पतित प्रेरणा जगी जो,
नर करता यो नाशक नर्तन ?

लुप्त हो चुका ग्रामीणो का
वह अलमस्त तराना मनहर,
अब तो उसकी जगह सुनाई
देती है चीत्कार भयकर,

गाँवो नगरो की गलियो मे
लगे ढेर लाशो के कितने।
धूल - धूसरित हुए, हो रहे
है प्रासाद भव्य थे जितने,
वही नालियो मे पानी की
जगह उष्ण शोणित की धारा,
नर, नारी, बालक, बूढो को
भी न तनिक भी मिला सहारा,
मानव ने अपनापन खोया
उसने अपनायी दानवता,
भीषण सघषण मे पड कर
चकनाचूर हुई मानवता।

वे देखो माएँ भयत्रस्ता,
लिये गोद म भावी मानव
जूझ रही हैं उसे बचाने,
उनसे, जो आये हैं दानव,
बालक लिये स्तनो को मुख मे
फैलाये अपने विशुद्ध दृग,–
देख रहे हैं स्तब्ध चकित से
ज्यो आखेटक को घायल मृग,

बच्चे कटे, खून से उनके
हुआ जननियों का प्रक्षालन,
यों मानव ने किया कड़क कर
अपनी वत्सलता का ज्ञापन,

माँओं के जाये नर-रूपी
चण्ड राक्षसों ने आगे बढ़
छेद दिये स्तन, और दूध की
जगह खून की धार चली कढ़ !

काटे गये वही स्तन – जो थे
करते मानवता का लालन,
खूब किया मानव-दानव ने
पुण्य मातृ-ऋण का प्रतिपालन।

आज क्रुद्ध मातृत्व दे रहा
है अभिशाप हमें निशि वासर,–
कैसे प्रायश्चित्त करेगा
मानव, जो है हिंसक कायर ?

काटीं माँएँ, छेदे उन ने
कोमल बालक सगीनों पर,
बूढ़ों के भी टुकड़े कर के
बने लोग भारी वीरेश्वर,

श्वेत केशयुत छिन्न मस्तकों
को निज बूटों से ठुकरा कर,–
जग में किया प्रदर्शित कायर
मानव ने वार्धक्य समादर !

नैतिकता के सोपानो से
खटखट झटपट उतरा है नर,
और लात से ठेल गिरा दी
उसने स्वर्ग-निसैनी सत्वर,

बैठ वायुयानो पर अपने
वह बरसाता है ऐसे बम
कि झट ग्राम-नगरो मे भीषण
दावानल जल उठता इक दम,

मन्दिर, मसजिद, मठ, गिरिजाघर
रुचिर सदन जल उठते धू-धू,
लपटें आसमान को उठ-उठ
कर उठती है हा-हा-हू-हू।

सदियो की सचित सस्कृतिया
भस्म रूप हो जाती क्षण मे,
निदय मानव ही मानव को
मिला रहा है रज के कण मे।

यह कैसी विक्षिप्तता अरे ?
यह कैसा उन्माद भयकर ?
जला रहे हम अपना ही घर ?
काट रहे है अपना ही सर।

कौन छिन्नमस्ता-प्रवृत्ति यह
जाग उठी मानव हिय-भीतर ?
कि जो आत्महत्या का भीषण
पाप ले रहे हम अपने सर,

क्यो देता है दाह अन्य को
यह नर स्वयं कष्ट मे पट कर ?
क्या मिल जाता है इसे, सगे,
अपने ही प्रियजन से लड कर ?

कौन बडा उद्देश्य सामने ?
क्या है लक्ष्य दृगो मे इनके ?
अरे, यही न कि मारें-काटे
निज स्वजना को ही गिन गिन के ?
इतना घृणित ध्येय ! पर उसके
प्राप्ति-अर्थ यह कठिन तपस्या ?
यह कैसे हो सका सुसम्भव ?
बडी विकट है यही समस्या।
यह अज्ञान भयकर नर का,
ये निम्नगा वृत्तिया उसकी,
यही वजह है कि जो जल रही
जगती जैसे ढेरी भुस की।

हाय वना जग हिंसा पूजक,
मजा आ गया है कुछ ऐसा–
सोच नही पाता है किंचित्
कि परिणाम निकलेगा कैसा ?
शोणित तर्पण मे ही उसको,
ऐसा कुछ आह्लाद मिल रहा ?–
कि वह रक्त की धाराओ मे
उतराता-डूबता बह रहा,

कोई उससे नर कहता है :
हिंसावृत्ति बुरी है, भाई,
तो वह कह देता है तुम हो
प्रगति-विरोधी, जन-दुखदाई।

हिंसा मे विश्वास निरन्तर—
यही प्रगति का है क्या लक्षण ?
प्रगतिशील हिंसा के बल क्या
कर पायेंगे जन-गण-रक्षण ?
तलवारें यदि तुम बोओगे
तो तलवारें ही उपजेंगी,
सर्वनाश कर देंगी जग का
अयुत युगो तक वे दुख देंगी,
है लोकोक्ति पुरानी यद्यपि
फिर भी है सत्यता-विमण्डित,
'जो तलवार चलायेंगे वे
तलवारो से होगे खण्डित'।

वे कहते हैं 'हम हिंसा के
लिए नही हिंसा के हामी,
हम तो जन-गण उद्धारण के
हेतु बने हिंसक निष्कामी।
आज देख लो, हम हिंसा के
बल लाये हैं नवयुग जग में,
आज प्रगति क्रीडा करती है
घोर रूसियो के रग-रग मे,

है आदन्त शस्त्र-सज्जित जग,
तुम हो कौन ? कहाँ से आये ?
इस गत आश अहिंसा का तुम
क्या बेवक्त सँदेसा लाये !

हटो सामने से तुम वरना
टुकडे-टुकडे हो जाओगे,
व्यर्थ बरबराओ मत, वरना
हाथ प्राण से धो जाओगे,

अरे, अहिंसा का इस जग मे
कौन काम ? है कुटी धर्म वह,
रक्तपान-रत शोषक जग मे,
हिंसा ही है परम कर्म यह,

आज शस्त्र-आयुध-मय जग के
अति कराल दंष्ट्रा के नीचे, —
मानव-मुक्ति दबी, न खिचेगी,
अरे अहिंसे, तुम्हारे खीचे !

है सिद्धान्त आदि से प्रचलित
नीति-शास्त्र का बडा पुरातन,
अन्तिम लक्ष्य, कार्य-साधन को,
सदा बना देता है पावन,

मानवता के इस शोषण का
उन्मूलन है ध्येय हमारा
मानव मुक्ति प्राप्त करना ही
प्रेम हमारा, श्रेय हमारा,

हम वम के गन-पिस्तौलो के
वाहक है, सचालक भी हैं,
हम हिंसक विप्लवकारी हैं,
हम जनगण प्रतिपालक भी हैं।

हम क्यो हैं हिंसा-विश्वासी ?
क्या हम हैं खूँख्वार जानवर ?
हम क्यो असि-धारण करके यो
चले खेलने आज प्राण पर ?

हम क्यो है, घुटनो-घुटनो तक,
लोहू की नदियो मे तैरे ?
क्यो ? हमने शोणित का यो यह
तिलक लगाया साँझ सवेरे ?

क्या हम खूनी हैं ऐ शिक्षक,
मुँह न चिढाओ आज हमारा ?
हैं उपदेश तुम्हारे कोरे,
हमने भी है तत्त्व विचारा।

जग के अनाचार का मशा
है यदि यही कि खून बहे नित,
तो हम यह्ते हैं हमम है
रक्त स्राव सामथ्य अपरिमित,

हमे नही परवाह ज़रा भी,
हम भी है तैयार सुसज्जित,
हैं ध्रुव चरण हमारे सन्तत,
हिय मे है विश्वास अनिगित,

हम शोणित वैतरणी का भी
करने को सन्तरण खडे हैं
लगी हुई है इन प्राणो की
बाजी, हम तो जुटे पडे हैं।

हिंसा और अहिंसा की यह
तत्त्व-दीपिका मत समझाओ,
तुम छोडो यह नाद व्यर्थ का,
चलो, चलें सग, तुम-हम आओ,

इस हिंसक साम्राज्यवाद के
बडे-बडे तानाशाहों की —
गरज रही हैं भीषण तोपें,
क्या बिसात है वाँ आहो की ?

गर मानवता रोती है तो
रोये, क्या परवाह उन्हे है ?
तुम हो कौन खेत की मूली ?
कौन तुम्हारी आह सुने है ?

हमसे तो तुम खूब कहोगे,
जरा कहो उनसे भी जा कर
जरा देख लो क्या होता है,
उन्हे अहिंसावाद सुना कर ?

वे ये साधुपने की बातें,
सुन कर मुँह फेरेगे अपना,
या फिर अट्टहास सुन उनका
होगा भग तुम्हारा सपना,

पूण शान्ति-स देश जरा भी
आज नही सुनने का यह जग,
हिंसामय है जन-शोणित-कण,
हिंसामय उनकी नस रग-रग,

ज़रा देर तुम खुद अपना ही
हृदय चीर कर के गर देखो,
कुछ तटस्थतामय वैज्ञानिक
गति से तुम निरखो अपने को

तो तुम देखोगे कि अहिंसा
निपट पराजयवाद मात्र है
यह तव नैतिक पात्र हिरण्मय
केवल इक मृत्तिका पात्र है,

आज अहिंसा तुम कहते हो,
इसीलिए न कि विजित हुए हो ?
सूझी यह विधि, क्योकि पराजय–
वाद-पक मे निहित हुए हो।

सचमुच कहना यदि तुम होते
इस विशाल से गृह के स्वामी –
तब भी इसी अहिंसा के क्या
तुम सचमुच बनते अनुगामी ?

तब तो राजदण्ड धारण कर
तुमको हिंसक बनना पडता,
तुम आखें निकालते जग की,
गर वह तुमसे आ कर लडता,

किन्तु पराजित हो, बस इससे
आज अनुत्तरदायी हो तुम,
अत अहिंसा की मदिरा के
आज बने मधु पायी हो. तुम,

आँखें खोल जरा तो देखो,
यह नर क्या है इसे विचारो,
फिर तुम यहाँ अहिंसा साधो,
तब तुम पूण शान्ति-व्रत धारो,
नर क्या है ? केवल कुछ आदिम
प्रबल भावनाओ की ढेरी,
है नर की रुझान युग-युग से
निम्न - वासनाओ की चेरी,
शोणित औ' मज्जासे लथपथ
है नर के नख, चरण और रद,
नर क्या है ? सोचो, नर तो है —
काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, मद।

इसी वासना पुज जीव को
क्या तुम देव बनाने आये ?
आज इसी के लिए कही क्या
तुम यह शान्ति सँदेसा लाये ?
मानव सदा रहेगा मानव,
है प्रयास सब व्यर्थ तुम्हारा,
नही समझ पायेगा कोई,
है दुरुह-सा अर्थ तुम्हारा,

क्यों अरण्य-रोदन करते हो ?
व्यर्थ न अश्रु वहाओ अपने,
होगे ढेर वक्त आने पर
तव जीवन भर के ग्रन्थ सपने।

एक महा मानव जगती मे
उन्निद्रित-सा ध्यान लगाये,—
श्रवण कर रहा था यह सब कुछ
वडे जतन से कान लगाये,
सुन कर इन सब उद्गारो को
तडप उठा उसका अन्तस्तल,
और हो गया निमिप मात्र को
कुछ विचलित-सा वह चिर अविचल,
अपने अज्ञानी जन-गण के
प्रति उसने कुछ ऐसे ताका,
मानो लोक की सचित
करुणा ने नयनो से झाका।

फिर सागर - गम्भीर गिरा से
उच्चारित की वचनावलिया—
अथवा घृणामयी जगती को
अर्पित की सनेह अजलियाँ
'मानव, तुम तार्किक हो, लेकिन
तर्क नही निस्सीम अपरिमित,
उसकी भी सीमाएँ है, पर,
उनसे शायद तुम न सुपरिचित,

मत अवलम्बित रहो तर्क पर
तर्क-सूत्र का कौन सहारा,
कहीं न हेत्वाभासो मे ही
उलझ जाय यह जीवन सारा।

अरे, विहग – अवलोकन के मिस
उठो जरा सतह से ऊपर,
अपने डैने फैला कर कुछ,
नापो भूधर, सागर, अम्बर,
एक दृष्टि मे मानवता को
देखो, उसकी कुगति निहारो,
आज हमारी विकट समस्या
क्या है, इसको जरा विचारो,
यदि तुम गहरे मे पैठो तो
देखोगे कि प्रश्न है भारी,
केवल शोषण - उन्मूलन ही
नही समस्या एक हमारी,

माना तुम दलितोद्धारक हो,
माना तुम हिंसक निष्कामी,
पर क्या तुम जन-उद्धारण-हित
आज बने हिंसा के हामी ?
हिंसा से जन-मोक्ष मिलेगा ?
इतनी सुलभ मुक्ति मानव की ?
तब तो भाई बडी सुलभ है
बन्धन-खण्डन-विधि इस भव की,

क्या है मुक्ति ? जरा तो सोचो,
अथ-दास्य ही क्या इक बन्धन ?
अरे, रूस मे भी तो अब तक
उठता है मानव का क्रन्दन !

संस्कृति की पूर्णता कहाँ है ?
क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही
शोभा नही मनुज के घर की,
मनोविकार - दमन ही केवल
माप-दण्ड है चिर - संस्कृति का,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय
शाश्वत रिपुदल है संसृति का,
जब तक अवश रहेगे ये रिपु
तब तक कहा नवल युग जग मे ?
बन्धन ही बन्धन उलझेगे
इन मानवता के पग-पग मे।

निशिवासर सदनुष्ठानो के
लिए निरन्तर तन्मय खपना,
वर को सत्य सन्ध करने के
लिए धर्म-धूनी मे तपना,
यही परम पुरुषार्थ सनातन,
है बस यही कर्म श्रेयस्कर,
अपने बन्धन से विमोक्ष निज,
इसी तरह पा सकता है नर,

बुद्धि-विलासी हुआ जीव यह,
रुका सहज नैतिक विकास-क्रम
बढ कर मस्तिष्क ने हृदय के
आगे फैलाया है सम्भ्रम,

अर्थ-दास्य से मुक्ति-मात्र क्या
फैला सकती है सुख जग मे ?
जब कि अर्थ-एषणा घुसी है
इस मानवता की रग-रग मे ?

जन-शोषण-विनाश-क्रम केवल
नही बहिस्साधनावलम्बित,
है सर्वथा असम्भव जब तक
अन्तस्तल भी हो न अकम्पित,

इस आन्तरिक शुद्धि का तुमने
क्या उपाय सोचा है ? बोलो ?
अपने क्रान्तिवाद को ले कर
सत्य तुला पर तो कुछ तौलो,

यह क्रान्ति है कि तुम करोगे,
हिंसा से हिंसा का मर्दन ?
क्रान्तिवाद क्या यही कि घहरे
इधर-उधर तोपो का गर्जन ?

सोचो तो यह क्रान्ति कौन-सा
पावन नवल सँदेसा लायी ?
नभ का वक्षस्थल तो यों ही
सदियो से कम्पित है भाई,

उसी 'कण्टकेनैव कण्टकम्'
को फिर से तुम दुहराते हो,
घावो को गहरा करते हो,
उन्हे कहाँ तुम सुहराते हो ?

अरे मत कहो कि यह अहिंसा
निष्प्रभ कुटी-धर्म है कोरा,
इसे समष्टि रूप देने मे
मैने निज को है झकझोरा,
मेरी सत्य अहिंसा मे है
गति, उद्यम, बल, ओज, निराला,
मै हूँ महाक्रान्तदर्शी नर,
मेरी क्रान्ति निपट विकराला,

शोणित-पायी इस जग-भर को
देता हूँ मैं अमृत-पात्र यह,
रूढिवादियो को ललकारा
मैंने दे कर नया शास्त्र यह,

मेरे हिय-मन्थन से निकला
यह रस रुचिर पुरातन चिर नव,
आज नये अधिकरणो मे मैं
जग को देता हूँ यह आसव,
कहता हूँ जब तक न बनेगा
यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह
जग-मोक्षकारी सब गति-विधि,

कितने वरदानो को हमने
भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा ?
कितनी विधियाँ हम ले डूबे ?
साक्षी है इतिहास हमारा,

जब तक वैयक्तिक-सामाजिक
आचरणो मे भेद रहेगा—
जब तक व्यष्टि - समष्टि धर्म का
स्रोत अलग से यहाँ बहेगा,—

अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब
तक न विश्व-व्यापिनी बनेगी,—
जब तक न यह नदी छोटी, जग—
प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,—

जब तक बुद्धि और नैतिक बल
गलबहियाँ डाले न चलेंगे,—
तब तक ईति-भीतिके दानव
मानवता को सतत खलेंगे ।

शोणित-मय युद्ध-प्रवृत्ति का
यह नैतिक पर्याय महाबल,—
आज रक्त के प्यासे जग के
सम्मुख रखता हूँ मै अविचल,

है ब्रह्मास्त्र अहिंसा मेरी
तेजपुंज बलशाली, गतिमय
ऊर्ध्वगामिनी, क्लेशहारिणी,
वरदायिनी बनाती निर्भय,

तुम जन-शोषण-उन्मूलक हो ?
मैं कब हूँ शोषण का पोषक ?
पर तुम शोषक के नाशक हो,
मैं शोषण-भावो का शोषक,

तुम सामाजिक परिवर्तन के
ही केवल सन्तत विश्वासी
पर मैं सामाजिक-वैयक्तिक
परिवर्तन का हूँ अभ्यासी

कहता हूँ सामाजिक ढाँचा
बदलो, उसमे हो परिवत्तन,
किन्तु साथ ही व्यक्ति-भावना
मे भी हो नव जागृति-नतन,

यदि न ऊर्ध्वगामिनी बनेगी
वैयक्तिक प्रवत्तिया सारी,
तो सामाजिक परिवत्तन की
होने लग जायेगी स्वारी।

केवल बाह्य उपकरण के ही
नही बदलने के नर-नारी,
उन्हे न कर पायेगी जाग्रत
यह हिंसा विधि मतत तुम्हारी,

इसीलिए मम प्रबल अहिंसा–
तत्त्व तुम्हारे सम्मुख आया,
जिससे मानव एकरूप हो
भूले अपना और पराया,

अन्तर्राष्ट्रीयता असम्भव
जब तक मन मे संस्कारी है,
सामाजिक कल्याण न होगा
जब तक हिंसा हत्यारी है,

हिंसा मे विचार-मन्थन का
समय नही, अभ्यास नही है,
हिंसा मे सान्तता भरी है,
वां, अनन्त अवकाश नही है,

बिना सदाशय-मय प्रणोदना
के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता
पराभूत जन-हिय का दानव ?

हिंसा से वह और भडक कर
प्रतिहिंसक बन तन जायेगा,
बिना शान्ति के कैसे उसका
हिय-परिवर्तन आ पायेगा ?

निश्चय मानव-मुक्ति दबी है
विकराली डाढो के नीचे,
पर वे डाढें दबी हुई है
लिप्सा के हाडो के नीचे

जब तक लिप्सा के जबडो की
हड्डी नही बदलती है, नर,–
शोषण-डाढो से मानवता
तब तक नही निकलती है, नर,

तुम कहते हो! डाढ तोडना
ही है केवल ध्येय हमारा,
मैं कहता हूँ! लिप्सा जबडो
का परिवतन श्रेय हमारा

नीति-शास्त्रकी न दो दुहाई
कि शुभ ध्येय है साधन-पावन,
ध्येय वही हो जाता है शुभ
जिसमे जब रम जावे जन-मन,
इधर क्रान्तिकारी कहते हैं
अपने लक्ष्यो को जन-रजन,
उधर घोर तानाशाहो ने
कहा स्वलक्ष्यो को दुख-भजन,
दानो निज-निज लक्ष्यो की ही
पावनता के अतुलित बल पर
निज पाशविक कायशैली को
बतलाते रहते है शुचितर,

अन्तिम लक्ष्य बना देता है
पतित साधनो को भी पावन?
यह सिद्धान्त निपट मिथ्या है,
न लें सहारा इसका जग जन,
जो साधन नर के शोणित से
लथपथ, वे कब है श्रेयस्कर?
आओ, जग-जन, आज त्याग दें
यह सिद्धान्त, कुरूप, घृणाकर,

हिंसक विप्लवकारी होना
है विप्लव का अन्तिम तर्पण,
विप्लव मे नवरस होता है,
हिंसा है पौराणिक चर्वण

मत समझो मैं चिढा रहा हूँ
यह कह कर मुँह आज तुम्हारा,
मत समझो मैं समथ रहा हूँ
तुमको पापी या हत्यारा,

तुम हो प्रबल लोक-सग्राहक,
तुम प्रचण्ड उद्बोधनकारी,
तुमने दी हैं मानव के हित
रक्ताजलियाँ न्यारी - न्यारी

तुम तो मम समानधर्मा हो,
उग्र सरफरोशो की टोली,
तुम कब झिझके ? हाँ, तुमने कब
कायरता की बोली बोली ?

तुम महान् स्वप्नो के द्रष्टा,
तुम प्राणो के वीर खिलाडी,
तुमने अपने हुकारो से
शोषकगण की छाती फाडी,

इसीलिए तुमसे कहता हूँ
सुन लो वीर बाँकुरे भाई,
आज साधनो की अशुद्धता,
देखो, हमे कहाँ ले आयी ?

हिंसा की शब्दावलियो का
लिये सहारा क्यो बढते हो ?
अरे शस्त्र सज्जित हो कर क्यो
मनुज मोक्ष के हित लडते हो ?

जग का अनाचार खूनी है,
हम क्यो बने खून के प्यासे ?
यदि जग रोता जाये तो क्या
हम भी होगे यहा रुआँसे ?
अरे, हमे तो शान्ति सौख्य का
देना है वरदान नरो को,
ध्वस्त नही, निर्मित करना है,
हम को गाँवो को, नगरो को,
आज खून का नही अमिय का
वर्षण करने यहाँ पधारो,
आओ, इस झगडे के नीचे
अहो, वीर, यह जगत् उबारो,

तानाशाहो की तोपो को
खूब गरज लेने दो मन-भर–
हम भी तो तोपो का चारा
बने खडे है अडिग चरण धर,
क्या इन तोपो के गर्जन का
है जवाब तोपो का गर्जन ?
नही, बन्धु, इसका जवाब है
सैनिको का प्राण - विसर्जन,

इसीलिए भीषण तोपो के
गर्जन को न करो तैयारी
भूल-भुलैया मे पड कर मत
दिखलाओ अपनी लाचारी

क्या कहते हो कि मैं सुनाऊँ
तानाशाहो को स्वर अपना ?
खूब जानता हूँ न सुनेंगे
वे मुझ एकाकी का सपना,
पर, तुम क्यो यो उपालम्भ यह
मुझे दे रहे हो सहधर्मी ?
मैं तो जग को आज बनाने
निकला हूँ अपना सहकर्मी,
विनिमुक्त सन्देश क्लेशहर
सुनें जिन्हे सुनना हो जी-भर,
और उपेक्षा करें वे जिन्हे
कँपा रहा हो भव-भय थर-थर,

मेरा स्वप्न उपेक्षाओ से
नही टूट सकता है यो ही,
जगन्मोक्ष की यह आकाक्षा
कभी छूट सकती है यो ही ?
आज तुम्हे भी मेरी आह
जँचती है बेकार, असम्भव ?
पर, विकराल क्रान्तदर्शी मैं,
मै क्यो सुनूँ उपेक्षा की रव ?

मेरी जडें गहन भावो के
गभ देश लौ पैठी है, नर,
मैं वह नही, उगाता है जो
सरसो को कर-सम्पुट मे भर,

मेरी चिर - मानिनी अहिंसा
नही पराजयवाद - जन्य यह,
कहा अहिंसा सवविजयिनी,
कहा पराजय अति जघन्य यह !

सबसे वडी आत्मजय जग मे,
उसका यह प्रमाद दुखहारी,
इसे पराजयवाद समझ कर
ठुकराते हो विप्लवकारी ?

सोने को समझा है माटी
तुमने बिना परीक्षा के ही ?
कोई वात कही जाती है
यो ही बिना समीक्षा के ही ?

अगर अहिंसा का सामाजिक
सदुपयोग है विजित - वाद ही,–
तो फिर सत्य, न्याय, सयम का
सदाचरण होगा प्रमाद ही,

तब तो हिय की सकल मधुरिमा
क्षीण - शक्तता का लक्षण है,
और शक्ति का रूप भयकर
दुराचरण ही दुराचरण है,

कैसा है यह तर्क जरा तो
सोचो - समझो अपने मन मे
मानो जीवन तत्त्व भरा है
चरम पाशविकता - गजन मे ?

अरे, क्या कहा ? हिंसामय है
जनगण के शोणित के कण-कण ?
यदि जग हिंसामय होता तो
कैसे होता उसका पोषण ?
अन्य प्राणियो सा यह नर भी
लुप्त हो गया होता कब का,
रच पता भी कही न होता
जन सस्कृति का औ', हम सब का,

हृद्गत स्नेह अहिंसा के बल,
बन्धु, जी सका है अब तक नर,
जीवन - धारण किये हुए है
सर्वविनाशो से भी घिर कर,

हिंसा और अहिंसा दोनो
प्रकृति-सिद्ध गुण है मानव के,
विष, मधु, दोनो ही निकले है
मन्थन-सार हृदय-अणव के,
एक राक्षसी क्रीडा है तो
दूजा है देवत्व दिवाकर,
एक निम्न गति प्रेरक है तो
बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर,

हमें खीचना है मानव को
ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योकि ऊर्ध्व गति मे ही पाता
यह नर निज स्वरूप चिर सुन्दर,

मत पूछो मुझसे, क्या करता
यदि मैं होता राजदण्ड-धर,
यदि ऐसा होता तो शायद
नये चमकते चन्द्र-दिवाकर,

यदि निज गृह का स्वामी होता
तो ये सारे आयुध जग के,—
कुण्ठित - से दिखलाई देते
कण्टक हट जाते जग - मग के,

यदि ऐसा होता तो होता
इस जग का विश्वास और ही,
तब निरशस्त्रीकरण सभा का
बन जाता इतिहास और ही

मेरा वह सपना है जिसको
मैंने देखा बडे जतन से,
जिसे देखने की चेष्टा मे
लगा रहा प्राणो के पण से,

रुधिर - विनाश - मृत्यु - मण्डित इस
हिंसा - प्रेरित जगती तल मे,—
मेरी यह ललकार गूँजती
है इस घृणामयी हलचल मे

मानव अपने को पहचानो,
सुवन नहीं तुम हिंसा-लालित
मधुर अहिंसा के पथ से तुम
हो आचरण क्षीर्य प्रक्षालित,

मैं हूँ कहाँ ? बन्धु, मैं तो हूँ
खडा हुआ ज्वाला पवत पर,
जिसके गभ देश म स्फोटक
द्रव्य पिघल कर करते घघर,

भाफ, धुआँ है, लपटें भी हैं,
मँडराती है आग भयानक,
कौन जानता है ? –क्षण मे ही
हो जाये विस्फोट अचानक,

क्षण मे ही बन सकती ससृति
भस्मीभूत राख की ढेरी
प्रलय - क्षिप्त वसुधा है, लेकिन
सिरजन की ललकारें मेरी !

इस आग्नेय शिखर पर सस्थित
अडिग अहर्निश हूँ प्रयत्नरत
कर दूँगा शुचि स्फटिक शिला मे
इस ज्वाला भूधर को परिणत,

खतरा है, भय है, कि कही यह
भडक न उठे आग अन्तर की,
किन्तु क्रान्तदर्शी ने कब की
चिन्ता असफलता के डर की ?

असफलताएँ तो आयी हैं,
फिर भी प्रगति हुई है जग की,
रही सदा से ही जन-सेवा
क्रीडा-केलि क्रुद्ध पन्नग की।

यो वचनो को उद्गीरित कर
हुआ महामानव प्रशान्त कुछ,
और हुआ जग को भासित यो
मानो आया है निशान्त कुछ,

ध्रुव विश्वास, अडिग निष्ठा यह,
अविचल मार्ग-क्रमण निरन्तर,
शुद्ध-बुद्ध तत्त्वार्थ निरूपण,
एक रूप बाहर-अभ्यन्तर,

मैत्री, दया और करुणा से
आप्लावित है जीवन सारा,
निश्चय ही नवजीवन देगी
उसके शुभ विचार की धारा,

सखे, कौन यह आत्मजयी है?
अरे कौन यह पुण्य महा नर?
अपने एक एक ध्रुव डग मे
नाप रहा जो सागर-अम्बर?

जिसके उदधि गभीर वचन मे
यह नवीन सन्देश समाया,—
है वह कौन लोक का वासी?
इस डगरी मे कैसे आया?

इस शोणित लिप्सा से त्रस्ता
जगती को वरदान दिया है,
जरा सुनो, उसकी वाणी ने
कैसा नर-कल्याण किया है,

मृण्मय बने हिरण्मय छिन मे
उसके पावन परस - मात्र से
मृत-प्राय भी अमृत हो उठे
केवल उसके दरस - मात्र से,

वे आजानु भुजाएँ उसकी,
ले अजलियो मे प्रसादकण,—
आज कर रही हैं जगती मे,
शान्ति, अहिंसा, ऋत का वितरण,

भर कर शुभ वरदान दृगो मे,
शिर पर ले अभिशाप जगत् का,
मुसकाता है खडा, भरे निज
हिय मे अडिगपना पर्वत का,

इस यथार्थवादी जग - मग मे
विचर रहा आदर्श लिये वह,
परिपाटी को तोड चला है
नवल विचार-विमर्श लिये वह,

इस हिंसा की गत-अनुगति की
प्रबल शृखला को खण्डित कर,—
नयी प्रणाली चला रहा है
वह सुक्ष्म योगी पण्डितवर,

एक करिश्मा-सा होता है
जग-जन की आँखों के आगे
सनकी उसे कहो या कुछ पर,
भाग आज जगती के जागे,

लुप्त हो गयी है इस जग में
अरे स्वप्न-दर्शन की क्षमता,
निपट वास्तविकता - वादी में,
कहाँ लोम हर्षण-मय ममता ?

उल्का बरसानेवालों में
कहा अमिय - वर्षण की क्षमता
रुधिर - लोलुपों में कब आयी
नव विचार - संघर्षण - समता ?

आज नवल संघर्षण का यह
इसने भाग बताया बेढब,–
अपने शस्त्र फेंक दे, रे, जग,
अनुभूत आया विप्लव अब,

मानव की विचार-धारा में
आयी नूतन महाक्रान्ति यह,
जगन्मोक्ष - दायिनी बनेगी
सत्य-अहिंसा-पूर्ण शान्ति यह,

सखे, आज इस महापुरुष ने
देखा है कुछ ऐसा सपना,
कि सब भेद मिट गया, हो गया
एकाकार पराया अपना,

आज उड़ा ले खूब मजहका
जग चाहे उसकी बातों का,
पर, उसके ही कर से होगा
पूर्ण नाश जग की रातों का,

जग-जन के शका-मेघो से
आवृत है उसका विचार-रवि,
नही देख पायी है जग ने
उसकी शुद्ध, ज्वलन्त ज्योति छवि

फिर भी निविड गहन तम-भजन –
कर किरणे आ ही जाती हैं,
और एक उल्लास-प्रेरणा
नर-हिय मे छा ही जाती है,

हट जाते हैं जरा देर को
जब सन्देहों के दल - बादल, –
तब होता है ज्ञान कि चिरपद
पा सकता है मानव दुर्बल,

उसके नयनो मे सपना है,
कर मे हैं वरदान अनेकों,
अपनेपन को होम - होम कर
पाया है उसने अपने को,

यम - नियमो के नागपाश से
बाँध विराग मेरु, धीरज धर
हिय समुद्र - मन्थन कर, लाया
वह यह अमृत शुद्ध, शुचि, भयहर,

एक लँगोटी के वल उसने
किया दिग्विजय जगतीतल मे,
नव्य माग - निर्माण किया है
शोणित सिंचित इस दलदल मे,

देकर अपने दॉत कर लिया
दुर्दान्तो को भी अपने वश,
एक, दो, नही, अरे किये है
अपने वश सैन्धव ये दश - दश,

निज सीमित पजर मे उसने
किया बद्ध नि सीमा को भी,
शान्त देह मे भी देही वह
हुआ अनन्त टोह का लोभी,

उसका जीवन सदा सत्य के
शुद्ध प्रयोगो की शाला है,
जग टटोलता है अपना पथ,
उसके कर मे उजियाला है,

अपनी विपमय फुफकारो से
जग ने अपना दीप बुझाया,
और काटने दौडा उसको
जिसने उसे सुपन्थ सुझाया,

आज अँधेरे मे जग अटका,
अपने ही जगल मे भटका,
मार्ग - भ्रष्ट होते ही उसको
लगा खून झटके पर झटका,

ऋषि कहता है मार्ग इधर है,
मेरे कर मे है उजियाला,
जग कहता है पागल तेरे
उजियाले मे है अँधियाला,

वह है एक चुनौती जग को,
वह है एक प्रखर नैतिक बल,
वह है इक ललकार घोर-मय,
वह है एक शकरी हलचल,

पोथा-पण्डित नही क्योकि वह
स्वय विचारो का दाता है,
वह क्यो चले पुराने पथ पर ?
वह नवयुग का निर्माता है ?

उसने आज अन्ध जग-जन को
दिये दान मे सुन्दर लोचन,
जिससे वह कर सके वास्तविक
तथ्यो का विशुद्ध अवलोकन,

धन्य हुई है वसुधा वृद्धा,
मानवता भी धन्य हुई है,
उसके विप्लवमय प्रसाद से
भय - भावना नगण्य हुई है,

हम मिट्टी के पुतले भी वढ-
वढ लड गढ चढने दौडे हैं,
क्या ही फूँके प्राण कि हमने
सदियो के वधन तोडे हैं,

आज उठी अश्रुत स्वर - लहरी
प्राची जगती के अम्बर मे,
एक नवल उल्लास-वीचि है
उमडी यहाँ चराचर-भर मे ॥

वोल, अरे, दो पग के प्राणी

कब तक प्यार किये जायेगा,
वोल, अरे दो पग के प्राणी ?
क्षण-भर की स्थिति है जगती मे
पल-भर की है यहाँ जवानी,
मत कर, रे, क्षण-भगुरता मे
तू आरोपित चिर अभेपता,
क्या स्थिरता ? जब यहा वह रहा
पल पल काल नदी का पानी,

यह विस्तृत दिग्देश अमित-सा,
महाकाश यह परम अगम सा,
चपल समय नद यह अनन्त-सा,
यह विकराल काल निमम सा,
ये दिक्-काल तत्त्व लगते हैं
जो कि सनातन, परम चिरन्तन,
ये भी तो हैं अतवन्त ही,
है आनन्त्य एक मति-भ्रम सा।

निपट शून्य से उठ आती है
हूक-भरी जो स्मृति अनजानी,
जो मथ देती है अंतरतर,
जो करती हिय पानी-पानी,–
उसी सजल स्मृति से चूती हैं
क्या आनन्त्य-मुरस की बूँदें ?
यह भ्रम है। रे मानव, तू ने
क्यों अनन्तता की हठ ठानी ?

सुनकर यह ललकार तर्क की
हो दयार्द्र मानव मुसकाया
और अनेक युगों के सपने
वह निज नयनों में भर लाया,
कब बाँधी दिक्-काल-परिधि ने
मानव की उडान अलबेली ?
भावार्णव का थाह, कहो तो,
तर्क-वादिता ने कब पाया ?

जगती की क्षण-भंगुरता में
यदि न रहे आनन्त्य चिरन्तन,–
यदि न रहे निमिषों की गति में
नित्य सनातनता का कम्पन,–
तो इस सृति मय सकल विश्व का
तिरोधान पल में हो जाये।
अरे नित्यता ही करती है
इस अनित्यता का गति-रंजन।

यह, जो है चल, चपल, अनस्थिर,
यह जो है अतिशय क्षण भगुर
यह सब है अनन्तता का ही
किंचित् परिवर्तित नव अकुर।
यदि न रहे आनन्त्य सनातन,
तो फिर कहाँ रहे भगुरता ?
यदि न सरल पथ की स्थिति हो, तो,
कैसे कल्पित हो पथ वन्धुर ?

जग की गमन-शीलता भी क्या
बिन स्थिरता के बुद्धि गम्य है ?
और सतत 'परिवर्त्तन' मे भी
क्या न 'नित्य' की छटा रम्य है?
विना नित्यता के सम्भव है
क्या अनित्यता का दिग्दर्शन ?
अरे तर्क, तव मूढ-वादिता
क्या किंचित् भी यहा क्षम्य है ?

किसका साहस है कि कर सके
मेरा स्नेह काल दिक् सीमित ?
कौन बाधने आ सकता है
उसे जो कि है सदा असीमित ?
नित्य, सनातन, सदा शाश्वता
है मेरे हिय की रस-धारा,
और मदिर लोचन मम प्रिय का
चिर प्रसाद है अमित, अपरिमित

जिन कोमल भुज वल्लरियो ने
बाँध मुझे चल, चपल क्षणो मे,–
निमिषो को अनन्तता दी थी
अमिय भरा था रक्त-कणो मे,
वे भुज-लतिकाएँ जगती से
लुप्त हुई हैं। पर, इससे क्या ?
अरे, हो गयी है अनन्तता
समाविष्ट इन प्राण-पणो मे।

वह पीयूप-दान साजन का
वह रिम झिम-रिम मधु-रस-वर्पण,–
वह उन्मादक नयन-निमन्त्रण
वह दृग्-नि सृत चिर आत्मार्पण,–
कौन कहेगा इन्हे कि ये हैं
केवल अचिर राग क्षण-भगुर ?
होता है जिनकी स्मृति ही से
सन्तत रोम-रोम का हर्पण।

मम सनेह औ' मेरे प्रियतम
कब थे अन्तवन्त, बोलो तो ?
क्या न सुने वे स्वर जिनसे है
गुजित दिग्-दिगन्त, बोलो तो ?
गहन राग-रस-निझरिणी मे
तृण बन वही क्षणिकता चचल,
क्या न हृदय की अमल भावना
है शाश्वत, अनन्त, बोलो तो ?

१३ बी० फीरोजशाह रोड, नयी दिल्ली
२९ मार्च १९४७

यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन

यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह सश्लथ तन,
हिय मे यह अम्बर-विहरण-रण
ये टूटे उड्डीयन-साधन।

पख नोच पटका मानव को
किसी खिलाडी ने धरती पर,
पर, होती रहती है उसके
अन्तर मे पखो की फर-फर,

पृथिवी माता ने पहनायी
उसे बेडियाँ आकर्पण की,
और, किसी ने सुलगा दी है
हिय मे चिनगी सघर्पण की

परवश है, पर चाह रहा है
यह करना रहस्य-उद्घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघु जन,
पख हीन यह, यह सश्लथ तन!

निगड बद्ध मानव के युग पद,
पाश-बद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रान्त किये है
उसे एक अभिशाप-ताप-रुज,

जिसे मेदिनी ने जकडा है,
तुच्छ समझता जिसे प्रभजन,
और नियति ने डाल दिये हैं,
जिसके रोम रोम मे बन्धन,—

उसी द्विपद को, नील गगन ने
भेजा है उड्डीन-निमन्त्रण।
गूँज रही है उसके हिय मे
पखो की सन-सन-सन-सन-सन ॥

मानव रहा न जाने कितने
युग-युग लौ सोया-सोया-सा,
क्या हिसाब कितने युग से वह
विचर रहा खोया-खोया-सा ?
किन्तु नीद मे भी तो उसने
देखे उडने के ही सपने !
औ' सन्तत विचरण मे भी वह
रहा खोजता डैने अपने !
नही पा सका है अब तक भी
अपने पख, और अपनापन,
यह रहस्य - उद्घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह मश्लथ तन !

क्या जाने कितनी लम्बी है
उसकी यात्रा की पगडण्डी ?
क्या जाने कितना कर आया
मार्ग-क्रमण अब तक यह दण्डी ?
नित देशाटन, सतत परिव्रजन,
सन्तत चलन, दिग्भ्रमण क्षण-क्षण,
सतत अतन्द्रित निमिप-गणन यह,
यह दिक्-काल सकलन क्षण-क्षण,

यही रहा है मानव का क्रम,
यही नियति का है रेखाकन।
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
कर-कर भ्रमण हुआ सश्लथ तन।

पीछे मुडकर कौन निहारे–
कितनी दूर आ चुका मानव?
करता है स्वीकार गणित भी–
इस दिशि अपना पूर्ण पराभव।
आगे की भी क्या गिनती हो,
जहाँ सकुचते है मन्वन्तर?
जहा ब्रह्म - दिन भी छोटे है,
लघु है द्युति - वर्षों के अन्तर।
इस महान् दिक्-कालाणव मे
मानव करता सतत सन्तरण,
यह रहस्य-उद्घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह सश्लथ तन।

मानव की झोली मे सचित
है कितने ही ककण - पत्थर,
जो कुछ मिला पन्थ मे, उसने,
वह सब उठा लिया है सत्वर,
यह सब सचित बोझ युगो का
टाँगे वह अपनी लकुटी पर,
झुका भार से चला जा रहा
नाप - नाप पथ - लीक निरतर।

इतने पर भी गूँज रहे हैं
हिय मे 'नेति-नेति' के ही स्वन।
यह रहस्य - उद्घाटन-रत जन
सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन ॥

मानव ने विसृष्टि लीला लख
पूछा निज से 'का सा ? कोऽहं ?
मानव अपने अन्तरतर मे
निरख कह उठा 'साऽहं ! सोऽहं !'
इस 'कोऽहं ! सोऽहं !' की अब तक
रार मची है अन्तम्तल मे,
नेति और इति जूझ रही ह
मानव के इस हृदय विकल मे !
यह रण व्यक्त कर रहे उसके
रोम-रोम, शोणित के कण-कण।
है रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यद्यपि है सश्लथ मानव तन !

जगत्-रूप हृदयगम करने
कहा-कहाँ दौडायी निज मति !
कितनी प्रखर साधना उसकी !
अति प्रचण्ड विज्ञान-ज्ञान-रति
एक एक कर दूर हटाये
प्रकृति नर्त्तकी के अन्तर-पट,
किन्तु अभी तक, इतने पर भी
मिटा न रच यवनिका मकट !

परदे मे हो रही प्रकृति की
नृत्य चलित पौजन की झन झन !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
सुन-सुन होता क्षण क्षण उन्मन ॥

लीलामयी प्रकृति मानव से
खेल रही है आँख-मिचौनी,
औ' मानव है अपिहित लोचन,
जडगुण-बद्ध, स्तब्ध, अति मौनी !
ऐसा खेल, कि रहता ही हे
सन्तत दावँ इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मण्डित
जिज्ञासा - अभिशाप भयकर
कहा जाय ? किस दिशि यह झाके ?
ढूढे कहाॅ ? किसे यह क्षण क्षण ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह सश्लथ तन !

कभी कुहुक आयी अम्बर से
'ढूढो !' यों बोलो सब उडुगण,
मानव ने उद्ग्रीवी होकर
उधर उठाये अपने लोचन,
इतने मे 'ढूढो ढूढो' के
आये स्वर पाताल अतल से
मानव ने घबडाकर मोडे
अपने युग दृग चकित अबल से,

किन्तु उसी क्षण दिशि-दिशि गूँजा
'ढूँढो - ढूँढो' का यह गुंजन
किधर निहारे ? किसको ढूँढे,
यह बौराया-सा जन उन्मन ?

बाहर तो 'ढूँढो - ढूँढो' - की
सब दिशि यह गुंजार भरी है,
पर भीतर भी यही महाध्वनि
मन्थन शील, अपार भरी है,
लखो, चतुर्दिक् वह पागल सा
आकुल मानव डोल रहा है,
अपने युग-युग के यत्नों को
निज दृग-जल मे घोल रहा है,
उसे दिखाई पड़ा सभी दिशि
अपने हिय का सन्तत कम्पन,
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
भ्रमित हुआ है, है सश्लथ तन।

यह गभीर सृजनार्णव दुस्तर,
परम अगम, फेनिल, चिरपंकिल !
लहराते जिसके अन्तर मे,
नित्य, सनातन प्रश्न - तिमिंगिल !!
'कुत आयाता इयं विसृष्टि' ?
'क इह प्रवोचत् ? अहो वेद क ।'
'अम्याध्यक्ष परमे व्योमन्,
अग वेद यदि वा न वेद स ?'

अपना मुख फैलाये आये
सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन।
यह रहस्य – उद्घाटन – रत जन,
है सश्लथ तन, है अति उन्मन।

यो आयो बन अतिथि, मनुज के
हिय मे, यह विदेशिनी पीडा,
यो मानव अपने को भूला,
भूल गया वह अपनी ईडा।
चिदानन्द मय अपनी सत्ता
उसने अपने - से बिसरायी,
प्रश्नो की उलझन मे पडकर
अपनी विपदा और बढायी,
किन्तु अँजा है मानव-दृग मे
ऊहापोह व्यथा का अजन,
अत रहस्योद्घाटन - रत जन,
है उत्सुक, यद्यपि सश्लथ तन।

मानव की जिज्ञासा की है
साक्षी स्वय प्रकृति कल्याणी,
युग - युग से हुकारे करता
चला आ रहा है यह प्राणी।
ये भीषण - दिक् - काल - अरर उस
ध्वनि - ध्मात से चिर कम्पित है
लख मानव के यत्न निरन्तर
प्रखर प्रभाकर भी स्तम्भित है।

देख-देखकर इस वामन को
अमित चकित है नभ-तारक-गण,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन
चला जा रहा है सश्लथ तन।

अम्बर काँपा, अवनी काँपी,
काँप उठे नभ के सब तारे,
इस मानव की 'न-इति! न-इति!' सुन
सभी लोक-लोकान्तर हारे,

काल कँपा, आकाश कँप उठा
सुन-सुन इसकी 'न-इति' हठोली,
सब ने देखा है मानव की
ग्रीवा उन्नत, यदपि लचीली।

इतिहासों के पन्ने भी हैं
मानव का कर रहे सस्मरण
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन
चला जा रहा है सश्लथ तन।

कोटि-कोटि ज्योतिर्वर्षों तक
फैला है विस्तार मनुज का,
कहाँ-कहाँ तक पहुँच चुका है
अति तनु मन इस द्विपद-द्विभुज का।

विस्तृत है इसकी लीला लघु
विद्युन्मणि से ब्रह्माण्डों तक,
इसके महाकाव्य की गाथा
पहुँची है अगणित काण्डों तक।

किन्तु पता क्या कितने गहरे
और करेगा यह अवगाहन ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन,
यह अति उन्मन, यह मश्लथ तन।

अमित ज्ञान-भाण्डार, युगो के
यत्नो से, सचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोप को
नाना रत्नो से भर लाया,

जहा सभी दिशि इस अग-जग के
स्फुरणो मे था केवल सम्भ्रम,
जहा अन्ध व्यस्तता मात्र थी,
वहा लखा इसने कारण-क्रम।

निरलकृता प्रकृति को इसने
पहनाये नियमो के ककण।
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन,
फिर भी फिरता है नित उन्मन,

किन्तु पैठ गहरे जो झाका
तो नियमितता हुई तिरोहित,
केवल दैवायत्त भावना
होने लगी पुन आरोहित,

अगु-स्फुरणकारी पदार्थ कुछ
जग मे मानव ने देखा है,
जिसे दीप्ति-सक्रिय तत्त्वो की
श्रेणी मे इसने लेखा है,

होता रहता इन तत्त्वो के
अणुओ का नित सहति भेदन ।
जिसे निहार पूछ उठता है
'क्यो? क्यो??' इस जन का उन्मन मन !

•

जिसे कराल काल मेटेगा,
अहो कौन सा अणुविशेष वह ?
क्यो सहति-भेदन होता है ?
क्यो होता ह अणु अशेष वह ?

इस प्रश्नो का नही दे सका
उत्तर यह मानव विज्ञानी,
यादृच्छिक अणु - भेदन - लीला
अब तक नही किसी ने जानी,

कहो, क्या न अकुलाये मानव
देख-देख यह पटावरण घन ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
पख हीन यह, यह मरलय तन !

मानव ने विद्युन्मणियो को
देखा नयनो मे अचरज - भर,
मानो विश्व आ गया सम्मुख
अपना मूर्त्त रूप ही तजकर,

ज्योति किरण तो थी तरगमय,
अब, घनत्व भी हुआ तरगी !
मानो ऋण विद्यु-मणियाँ ये
बना रही ब्रह्माण्ड अनगी !

लुप्त हो रहे हैं क्या जग से
मूर्त्त अमूर्त्त-रूप के बन्धन!
पूछ रहा है यों आकुल-सा,
यह रहस्य-उद्घाटन - रत जन!

•

असन्तोष है इस मानव को
सारे जग के इस सपने से,
औ' जग की क्या करे शिकायत?
असन्तुष्ट है वह अपने से,

वह आया है करने इतने
ब्रह्माण्डों का तत्त्व-निरीक्षण,
किन्तु मिले हैं निपट अधूरे
उसे इन्द्रियों के ये लक्षण,

इतने क्षुद्र, असगत इतने
ये विज्ञान - ज्ञान के साधन!
तब, फिर क्यों न हृदय में खीझे
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन!

श्रोत्र, चक्षु, रसना, स्पर्शन, मन,
घ्राण, इन्हीं के बल यह मानव—
सुलझा रहा उलझनें जग की,
खोज रहा है अचरज नव नव!

किन्तु साथ ही, नयी समस्या
मानव - उपजाता जाता है,
एक प्रश्न सुलझा कि दूसरा,
उसके सन्निधान आता है,

सांझ सवेरे, रहती ही है
सम्मुख एक पहेली नूतन,
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
उलझन में उलझा है प्रतिक्षण ।

जाना है जग-रूप, मनुज ने
इन लघु - इन्द्रिय - उपकरणों से,
कार्य और कारण की लड़ियाँ
उसने गूँथी हैं स्मरणों से,
पर, यथाथता क्या है ?
यह जो है केवल इन्द्रिय-संवेदन ??
पूर्वोत्तर का घटना - क्रम ही
है क्या कारण - कार्य - विवेचन ?
ये प्रश्नावलियाँ सदियों से
करती हैं मानव - हिय - मन्थन
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
यह सश्लथ तन, यह नित उन्मन ।

ये इन्द्रियाँ कभी क्या देंगी
हमको यथाथता का परिचय ?
नयनों से देखा है जिसको
है क्या वही वास्तविक निश्चय ?
प्रकृति विलोकी जब आँखों से,
तब, क्या देखी ? केवल झांई ।
तब अवलोकी इक छल - छाया ।
देखी बस केवल परछाई ।

दृश्य सत्य है, तो सपना भी
है यथार्थ का पूर्ण प्रकेतन ?
यों विचार कर रहा युगों से
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,

नयनों ने घनत्व देखा था,
नयनों ने तारल्य निहारा,
पर, मानव के गहन ज्ञान ने
यह सब भेद मिटाया सारा,

अब देखा कि जगत् है केवल
धन औ' ऋण विद्युत्कणिका-मय,
औ', विद्युन्मणियाँ भी ऐसी
जिनका कठिन वास्तविक परिचय,

ऐसी मणिया, होता रहता
जिनका प्लवन विना ही कारण,
तब फिर कारण-काय तक का
जन-हिय से हो क्यों न निवारण।

यों इन्द्रियगण की परिगणना,
यों मन का घटना सश्लेषण,
हिय को जँचे अधूरे ये सब,
ये जग के सब रूप विशेषण।

किन्तु क्या करे ? थक कर बैठे
क्या यह मानव हिय हारा सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे
करे क्रमित यह बेचारा-सा

भूत ग्रस्त है जो, वह कैसे
भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
सोच रहा है यों अपने मन।

क्या है स्रोत ज्ञान का ? पूछा
यों जब मानव ने अपने से —
तो आयी इक ध्वनि कि ज्ञान है
केवल इन्द्रिय के कँपने से।

बोल उठा भौतिक विज्ञानी
हैं इन्द्रिया ज्ञान के साधन,
इनके बिना कहो कैसे हो
मानव का यह ज्ञानाराधन ?

मानव ने अपने स्वरूप के
सुने तर्कमय ये सब प्रवचन,
किन्तु तत्त्व - उद्घाटन - रत जन
पा न सका सन्तोष - शान्ति-धन

क्या है वे इन्द्रियाँ कि जिन ने
दिया ज्ञान-भाण्डार अतुल यह ?
या वे है केवल साधन ही ?
यों बोला मानव आकुल यह।

कहो, इन्द्रियों से ही केवल
ज्ञान - नोदना कैसे जागी ?
केवल यह उपकरण - समुच्चय
कैसे बना ज्ञान - अनुरागी ?

क्या विज्ञान - ज्ञान का दाता
है केवल इन्द्रिय संवेदन ?
पूछ रहा है आज अथक - सा
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन !

आदि मनुज ने लपट देखकर,
अग्नि बनायी सदन - लालिता !
वह थी कौन प्रेरणा जिसने
कहा करो तुम वह्नि पालिता !

आदि मनुज ने पशुगण देखे,
उन्हें बनाया निज अनुगामी !
वह क्या थी प्रेरणा कि जिसने
कहा बनो तुम इनके स्वामी ?

यह, जो आदि प्रेरणा हिय में
है यह भी क्या इन्द्रिय - स्पन्दन ?
अथवा यह है शक्ति अभौतिक ?
पूछ रहा है यों जग उन्मन !

अपने को उपकरण - समुच्चय
कैसे माने मानव प्राणी ?
जब कि विचार और चिन्तन की
उसने पायी अमर निशानी !

[illegible] मनुज कर रहा है घोषित यों
[illegible] अरे, नहीं हूँ भूत संघ मैं !
[illegible] हूँ, साग, उपकरण संयुत,
[illegible] फिर भी हूँ नित अनग, मैं !

इसी नित्य प्राप्तव्य ध्येय को
ओर जा रहा है यह लघु जन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन,
भयहीन यह, यह मग्लय तन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ दिसम्बर १९४३

८

नास्तिक का आधार

जब लहराता बहा समीरण, सर मे उठी तरग,
जब सस्मृति बयार डोली, तब हिय में उठी उमग;
रवि किरणो से नभ मे चमका, इन्द्रधनुष का रूप;
प्रिय, तव स्मिति द्युति से चमकी मम स्नेह-कल्पना-चग।

हरित, नील, लोहित, नारगी, श्याम, पीत सुरचाप;
त्यो मम नेह-चग पर चमकी तव रगो की छाप,
सूत्र उडाओ इसे, प्राण-धन, अपने अम्बर बीच,
तव क्रीडनक बने,—इसकी है यह अभिलाप अमाप।

तव आधार रहे, तो फिर क्या विपदाओं की बात ?
तुम अनुकूल रहो विपदाओ की तब कौन बिसात ?
कुछ न बिगाड सकेगी मेरा अति प्रतिकूल बयार,
मैं हँसते-हँसते सह लूँगा झझा के आघात !

प्रिय, मै जानूँ हूँ, है अति ही दुवह मेरा भार,
पर, अब तो मै आन पडा हूँ विवश तुम्हारे द्वार,
आस्तिक कहते है उनका है हरि के हाथ निवाह,
मैं नास्तिक कहता हूँ मेरा भी है कुछ आधार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ मई १९४४

■

यथार्थवादी

मुझे लग रहा है यह मेरा जीवन विफल महान्,
फटा फटा सा मुझे लग रहा निज अस्तित्व-वितान,
सभी ओर से जुट आयी हैं असफलताएँ आज
कहाँ गया वह सृजन परिश्रम ? कहा नवल निर्माण ?

अपना, अथवा अन्य जनो का हो न सका उत्थान,
निपट अहैतुक रहा समचा जीवन कर्म-विधान,
कुछ अपना, कुछ निखिल राष्ट्र का, ऐसा घूमा चक्र,
कि न आ सका विहँसता, मेरे नभ मे रजत विहान !

स्वार्थ, पराथ, रहे है दोनो ही अब तक अप्राप्त,
और इधर होने को आया मम दिनमान समाप्त,
बटता जाता है असफलता का यह अन्धकार,
क्यो न फटे हिय, जब रह जाये अवाप्तव्य अनवाप्त ?

मत कहो कि है निपट पराजय-वादी मम विश्वास,
मत कहो कि नैराश्य-वाद मय हैं मेरे निःश्वास,
तुम आलोचकगण, क्या जानो विजय पराजय-वाद ?
मैं यथार्थवादी कमठ ! हूँ फिर भी आज उदास !

केन्द्रीय कारागार बरेली
८ अप्रैल १९४४

¤

तुम हो ?

तुम हो ? सब कहते हैं तुम हो,
निःसंशय तुम हो, तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो,
प्रकृति भाल के कुंकुम हो।
क्या हो ? कैसे हो ? कितने हो,
रमे कहाँ ? कुछ तो बोलो ?
मन फाँसी संशय गाँसी की
ये ग्रन्थियाँ तनिक खोलो।
अपलक अलख झलक-रेखा की
अति बाँकी झाँकी तुम हो।
प्रकृति - वधूटी के सुहाग के
सुनता हूँ, तुम कुंकुम हो।

यम नियमों के संचालक हो,
उनके प्रतिपालक तुम हो,
सुनता आता हूँ निशाचरी
माया के घालक तुम हो,

कर्म - अकर्म - विकर्म - विधाता,
फलदाता हो वडे खरे
सब के हो, सब मे हो, फिर भी
रहते सब से सदा परे,
सब कहते है जगत् - सून के
चालक मायावी तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति-वधू के
चिर सुहाग के कुकुम हो।

अहकार, मन, वुद्धि, चित्त से
सत, रज, तम से, रहो परे,-
अनल, वायु, जल, भूमि, गगन के
स्वामी त्रिगुणातीत अरे,-
जटिल अष्टधा प्रकृति-नियति से
भिन्न तुम्हे सव कहते हैं,
यो तद्गत मन से ये कविगण
तुमको भजते रहते है,
तुम्ही वता दो तो तुम क्या हो ?
सब जन कहते है तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो
प्रकृति-भाल के कुकुम हो।

वुद्धि गम्य तुम नही, तुम्हे फिर
कैसे कोई जान सके ?
कैसे भौतिकता मय पुतला
यह तुमको पहचान सके ?

लिपटा है अस्तित्व तुम्हारा
शकाओ के अचल मे,
छटा तुम्हारी कहा दिखाई
देती नियति-दृगचल मे ?
फिर भी सब गुरुजन कहते हैं
तुम हो, तुम हो, हाँ, तुम हो!
सुनता हूँ तुम प्रकृति-वधू के
चिर सुहाग के कुकुम हो।

कैसे जानूँ! क्यों कर जानूँ ?
क्या जानूँ ? तुम हो कि नही ?
कुछ प्रतीति होती हिय मे यदि
तुम दिख जाते कही कही!
तर्क, वितर्क, वितण्डाओ मे
तुम सहसा कब मिलते हो ?
शत-शत युग की अचल शिला हो
तुम सहसा कब हिलते हो ?
कहते ह, अविचल भूधर-से
अटल जगद्धर बल तुम हो
सुनता हूँ, तुम प्रकृति-नटी के
चिर सुहाग के कुकुम हो।

तुम हो, या कि नही ? यह निश्चय
करना [illegible] झगड़ा है,
यह है भूल-भुलैया, इसका
मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा है

क्या जानूँ तुम क्या हो ? तुम तो
भानमती के थैला हो।
कैसे कोई तुमको बूझे ?
तुम तो एक पहेला हो।
क्या जानूँ तुम हो कि नही हो,
कहते है तुम हो, तुम हो
यह भी एक कहावत है, तुम
प्रकृति - भाल के कुकुम हो।

रग-बिरगे चित्र तुम्हारे,
बेढगी नामावलिया।
तुम प्रकाश के पुज, तुम्हारी
अँधियाली श्यामा गलियाँ।
बडे सच्चिदानन्द बने हो,
जग मे निरानन्द छाया,
यहा अचिन्तन व्याप्त हो रहा,
फैली है मिथ्या माया,
फिर भी सब तोते-से रटते
जाते हैं तुम हो, तुम हो
सुनता हूँ तुम प्रकृति वधू के
चिर सुहाग के कुकुम हो।

कहते है कि तुम्हारे तप का
है परिणाम विश्व सारा,
कहते ह, बह रही तुम्हारे
रयि - प्राणो की यह धारा,

अहो तपोधन! अपने तप का
देखो तो परिणाम जरा,
देखो तो क्या क्या रग लायी
विद्या अपरा और परा
इस पकिल थल की किलकिल मे,
कहते है, तुम हो—तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति-वधू के
चिर सुहाग के कुकुम हो।

अहो सच्चिदानन्द! क्षोभ यह
क्यो छाया है इस जग मे ?
अहो सत्यसकल्प! असत् यह
फैल रहा क्यो जग-मग मे ?
रग-रग मे क्यो असत्, अचिन्तन,
निरानन्द की है पीडा ?
दिखा रही क्यो पाप-वासना,
अपनी कटुता की क्रीडा ?
है यह जटिल दुरूह असगति,
इसकी जड मे क्या तुम हो ?
क्या तुम ही ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुकुम हो ?

पतन-भाव क्यो प्रकृति-नटी की
नासा का आभरण हुआ ?
बोलो तो काम-वासना का
क्यो सहसा जागरण हुआ ?

सुभग तुम्हारे विश्व - दीप मे
कैसे जगी पाप – वाती ?
बोलो, हिय - युद्धस्थल मे क्यो
खडी सदिच्छा अकुलाती ?
यह अनाथिनी पुण्य - भावना
क्या इसके स्वामी तुम हो ?
क्या इस सतत विरहिणी के तुम
चिर सुहाग के कुकुम हो !

पाप - पुण्य का समर – तुम्हारा
नखरा एक निराला है !
क्या ही अदा – कही अँधियाला
और कही उजियाला है !
क्या सदसत् का चिर सघर्षण
रुचिर तुम्हारी लीला है ?
अहो तुम्हारी यह लीला तो
कुटिला है, दु शीला है !
सकल विरोधाभासो मे भी
क्या केवल तुम ही तुम हो ?
क्या सचमुच तुम प्रकृति - वधू के
चिर सुहाग के कुकुम हो ?

कैसे कहूँ कि तुम हो ? – हिम मे
होती नैक प्रतीति नही !
नीति - निपुण के तपोराज मे
होती सदा अनीति कही ?

रीति नयी मे देख रहा हूँ
पूत तपोद्भव तव जग मे।
देखो मँडराता रहता है
मलिन भाव अभिनव जग में,
इस पर भी किसका साहस है
जो यह कह दे। हाँ तुम हो ?
कौन कहेगा कि तुम प्रकृति के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

पाप-पुण्य के ये अवगुण-गुण
बन्धन किसकी कृतियाँ हैं ?
दुखित हृदय की शान्ति निकन्दन
कैसी ये सस्मृतियाँ है ?
किसने अकलकित-सकलकित
मर्यादा - रेखा खीची ?
यह विष वेल, कहो, किसने, हिय
आँगन मे बोयी-सीची ?
पाप-भाव की आदि प्रेरणा
के प्रेरक भी क्या तुम हो ?
फिर भी क्या तुम प्रकृति-वधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इन
रिपुओं का सघात करो –
कहते हैं, निशि दिन हिय मे यह
करना है आघात इन्हें।

किन्तु कहो इन षड् रिपुओं का
उत्पादक है कौन हठी ?
कौन मनाता रहता है इन
षडयन्त्रो की जन्म छठी ?
इन सन्तानो के भी प्रजनक
अहो जगत्पति, क्या तुम हो ?
सच कहना क्या इसी तरह तुम
प्रकृति-वध के कुकुम हो ?

गुरुजन कहते हैं कि रज-तम से
प्रकटे है ये षड् वैरी,
री माया, यह विकट बखेडा
क्या सब तेरा ही है री ?
त्रिगुणात्मिका प्रकृति का स्रष्टा
क्या कोई है या कि नही ?
क्या यह भी है एक स्वय-भू
जिसका अन्त न आदि कही ?
एक स्वय-भू बनी प्रकृति यह
दूजे स्वयभूत तुम हो,
फिर कैसे कह दूँ कि तुम्ही तो
प्रकृति-भाल के कुकुम हो ?

सकल वस्तुओ के अणु अणु मे
सकर्षण होता रहता,
प्रकृति-पुरुष मे यहा सदा यह
सघर्षण होता रहता,

इस ब्रह्माण्ड अनन्तवन्त में,
सकल लोक-[illegible] में–
क्या द्विछत्र शासन फैला है
अखिल विश्व [illegible]?
यदि दोनो का राज रहा है
तब, कैसे [illegible]?
प्रकृति नटी के चिर [illegible] के
फिर [illegible]?

टूटी गाडी ढचर-ढचर-खड
भड भड-भड-भड-भड करती,
दचके लगते, ऊबड-खाबड
है जग-मग की यह धरती
इस अपूर्ण नि साधनता मे
छटा दिखाते क्या तुम हो ?
असम्पूण उत्क्रान्ति वधू के
क्या तुम रजित कुकुम हो ?

नही, नही यह है विडम्बना,
बस केवल तुम ही तुम हो,
पापो के दुर्बल छल-बल तुम,
पुण्यो के बल भी तुम हो,
विषय-वासना, पुण्य कामना,
इनमे भी तुम ही तुम हो,
अजब अटपटे रूप धरे हो,
बहु मुख, बहुरगी तुम हो,
तुम यह भी हो, तुम वह भी हो,
इधर-उधर तुम ही तुम हो
प्रकृति तुम्हारी है, तुम उसके
चिर सुहाग के कुकुम हो !

असम्पूर्णता पदस्खलनता
सभी तुम्हारी रूप बनी
यह ठगिनी छलना आयी है
हिय छलने को बनी-ठनी,

यह अधम, यह काम-राग,
यह विधि-निषेध, है तव लीला।
अहो सत्य-शिव-सुन्दर ! तव गति
विचर रही चिन्तन शीला,
रजत वालुका के कण-कण मे
सभी ओर, तुम ही तुम हो
प्रकृति वधूटी के मस्तक के
चिर सुहाग के कुकुम हो !

जीव-जगत् की यह अनन्तता—
क्रीडा एक तुम्हारी हे
जल - थल - वायु - गगनचारी सब
तव आतप - विनगारी ' है।
अहो हुताशन-पुज ! तुम्हारा
इक स्फुलिंग ब्रह्माण्ड बना
तुम्ही मृत्तिका, कुम्भकार तुम,
विश्व तुम्हारा भाण्ड बना,
अलग-थलग नग, अपलक टक तुम
अलख झलक-झाकी तुम हो,
समझा हूँ, तुम प्रकृति-वधु के
चिर सुहाग के कुकुम हो !

किन्तु हृदय विश्वास शून्य है–
क्या ही अजब तमाशा ह,
अन्तस्तल मे उलझ रही यह
आशा और निराशा है !

सशय-निश्चय जूझ रहे है,
अविश्वास - विश्वास लडे ।
त्वमसि-नासि त्वम्, अस्ति, नास्ति के
मचे यहाँ हिय मे झगडे ।
यह सशय प्रवृत्ति हिय-मन्थन
क्यो करती है यदि तुम हो ?
तुम कैसे ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुकुम हो ?

बडी दुरूह समस्या है यह,
इसको कैसे सुलझाऊँ ?
निज मन-मीन, 'अस्ति' - रस-वसी
मे मैं कैसे उलझाऊँ ?
यह श्यामल ससार-अतल-जल—
उदधि - वीचि - विक्षुब्ध यहा
प्रबल तरग-वासना मे मन—
शफरी उलझी लुब्ध यहा !
यह ऐसा क्यो, यदि अनादि मन—
मीन-पीन वेधक तुम हो !
बतलाओ तुम प्रकृति-वधू क
कैसे रजित कुकुम हो ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१८ फरवरी १९३१

सुन्दर

ओ सौन्दर्य-उपासक, तुमने
सुन्दर का स्वरूप क्या जाना ?
मधुर, मजु, सुकुमार, मृदुल ही
को क्या तुमने सुन्दर माना ?

क्यो देते हो चिर सुन्दर को
इतने छोटे सीमा - बन्धन ?
कठिन, कराल, ज्वलन्त, प्रखर भी
है सौन्दय - प्रकेत चिरन्तन !

कल कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर,
यही नही सुन्दर की वाणी,
इन्द्र वज्र-ध्वनि भी है उसकी
गहर गभीर गिरा कल्याणी !

क्या सुन्दर बोला है तुमसे
अब तक केवल विहँस विहँसकर ?
क्या तुमने देखा है उसका
केवल मजुल रूप हृदय - हर ?

क्या तुमने न लखा है अब तक
सुन्दर का विकराल स्वयवर ?
क्या न निरख पाये हो अब तक
उसका उग्र रूप प्रलयकर ?

लो, तब तो है अभी तुम्हारी
सुन्दर की साधना अधूरी।
नहीं कर सके हो तुम अब तक
सुन्दर की उपासना पूरी।

अरे, सुमन ही क्या? सुन्दर के
तो है ये पाहन भी पाहुन।
गर्जन भी है वहा। नही है
केवल मधुपो की ही गुन गुन।

मत समझो मलयानिल ही है
उसका शीतोच्छ्वास भला-सा,
अनलानिल भी नित्य उच्छ्वसित
करती ही है उसकी नासा,

फूलो पर ही नही, कण्टको
पर भी है सुन्दर का नर्त्तन,
सुखद, दुखद, यह तो ह केवल
उसका क्षणिक रूप परिवर्त्तन।

है जीवन के एक हाथ मे
मधुर जीवनामृत का प्याला,
और, दूसरे कर मे उसके
है कटु मरण-हलाहल-हाला।

एक आग मे निकल रही है
सब दहन की वह्नि अपारा,
और दूसरी से झरती है
नित्य वरुण जल-मुक्ता-धारा।

चिर सुन्दर के किस स्वरूप का,
कहो, करोगे तुम अभिनन्दन ?
सदा रहेगा क्या सीमित ही
तव पूजन, अचन, अभिन दन ?

ललित, चारु, लघु, कोमल, तनु पर
हिय न्यौछावर करने वालो,
मधुर, मधुर, सुकुमार गीत के
तुम मनहर स्वर भरने वालो,

नही हुई है पूर्ण तुम्हारी
सुन्दर की अचना अलौकिक,
चिर सुदर का स्तवन तुम्हारा
रहा अभी तक केवल मौखिक,

जब तक उसकी वह कराल छबि
कर न सकोगे मन से स्वीकृत,
तव तक नही हो सकोगे तुम
सुन्दर के द्वारा अगीकृत।

ओज, तेज, विक्रम, बल, दृढता,
महानाश - क्षमता - निममता,–
अडिग धीरता, कुलिश कठिनता,
भीम शक्तिमत्ता, चित्-समता,–

नित अपराजित सहन-शीलता,
नित्य अकम्पित नवल सृजन-रति
नित बाधा-भूधर उत्पाटन,
नित्य क्रान्ति-कृति, नित अबाध गति,

ऐसा है सौन्दर्य समुच्चय,
ऐसा है वह सुन्दर प्रियवर,
ऐसा है वह जीवन-रजन,
ऐसी है उसकी छवि हिय - हर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ जून १९४४

सूना सब संसार हुआ है

यों अनुभव होता है मानो सूना सब ससार हुआ है,
ऐसा लगता है मानो यह जीवन दूभर भार हुआ है।

देख रहा हूँ मैं उन्मन सा, आज रात, निश्चल ध्रुवतारा,
और गगन-मण्डल मे मैंने यह सप्तर्षि-समूह निहारा,
देखी उधर कृत्तिका, देखा बिद्ध मृगशिरा का नज्जारा,
देख भ्रमित नभ पूछूँ हूँ मै क्यों यह सब व्यापार हुआ है?
यों अनुभव होता है मानो सूना सब ससार हुआ है,

गगन विलोका, इकटक अपलक, झुक झुक यह धरती भी देखी,
भूधर देखे, नदियाँ देखी, ताल-तलैयाँ भी अनुलेखी,
जीवन देखा विकसित होते, और मरण-लीला भी पेखी,
पर, कुछ समझा नही, कदाचित्, मुझको बुद्धि-विकार हुआ है।

मानव को अवलोका जग मे, उगते, बढते झरते दिन-दिन,
यों जीवन की क्रीडा देखी, और मरण भी देखा छिन-छिन,
कालवली का कलन निहारा, जाते देखे पल, छिन, गिन गिन,
यह सब देख, हृदय म अगणित प्रश्नो का सचार हुआ है,
यों अनुभव होता है मानो सूना सब ससार हुआ है।

मानव क्यो आया पृथिवी पर ? यहाँ से कहाँ चला जाना है ?
किस-किस का इससे नाता है ? इसका किस-किस से नाता है ?
जाने वाला गया ? या कि जो जाता है वह फिर आता है ?
इस उधेड-बुन मे ही पडकर मन सम्भ्रम-आगार हुआ है,
यो अनुभव होता है मानो सूना सब ससार हुआ है।

यदि सब क्षण-भगुर ही है तो अमर-भावना है क्यो प्रिय मे ?
अगर अचिरता है, तो उठती अमृत-तान क्यो मन-इन्द्रिय मे ?
मानव क्यो अनन्तता का ही आरोपण करता निज प्रिय मे ?
इसी प्रश्न-मन्थन से मम मन विचलित बारम्बार हुआ है,
यो अनुभव होता है मानो सूना सब ससार हुआ है ?

■

राजेश्वर मानव

"छोडो माग, हटो सम्मुख से,
भय - श्रद्धा से काँपो थर-थर,
देखो, यहाँ पधार रहे हैं
निखिल सृष्टि के ये राजेश्वर,

नत मस्तक हो इनके आगे
कहो कि हम सब सेवक-गण हैं !
लख अवतार आपका हे प्रभु,
धन्य विश्व के रज कण-कण हैं" ॥

सम्बोधित कर सब अग जग को
महाकाश वाणी यो आयी,
और प्रकृति ने अति अचरज से
इधर-उधर आँखें दौडायी।

यह कैसा आदेश अलख का ?
उनको यह क्या अम्बर-वाणी ?
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?
यो कह रही प्रकृति कल्याणी।

अनिल, अनल, आकाश, विश्व सब,
सत्र ब्रह्माण्ड हिये अचरज भर,
पूछ रहे है आतुर होकर,
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?

इतने मे लख पडा कही पर
डग-मग गति दो पग का प्राणी,
कुछ उन्नत शिर, फिर अवनत शिर
झटपट, अस्फुट, जिसकी वाणी।

प्रकृति हँसी ब्रह्माण्ड हस पडे,
हँसे सभी दिक् - पाल भयकर,
धरा हँसी, अम्बर भी विहँसा,
विहँसे देश - काल प्रलयकर !

एक साथ सब पूछ उठे यो
अरे यही है क्या राजेश्वर !
यह दुबल तन, निपट निबल मन,
यह मानव, यह जन्तु निम्नतर ?

और जगत् की जड सत्ता ने
उस मानव का किया निरादर,
अलख - गगन - वाणी बिसराकर,
लगा घूमने सकल चराचर।

सूय, चन्द्र, तारागण, सब ने
मिलकर उसकी हँसी उडायी,
पर, मानव ने झटका देकर
जडता से निज बाँह छुडायी,

अचरज भरे, टिमटिमाते - से
उसने खोले अपने लोचन,
जल, थल, अनिल, अनल अम्बर का
उसने किया सभय अवलोकन,

अम्बर चुम्बी भूधर [illegible],
देखे उसने बीहड [illegible],
त्रास भर गया [illegible] [illegible] [illegible]
मन मे जागा [illegible] [illegible];

उसने चारो ओर [illegible]
दुदमनीया कठिन [illegible],
उसने देखी निज [illegible],
लखी प्रकृति की [illegible] [illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

पर [illegible]
हिय [illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

मानव जीवित है अब तक भी
यह क्या महदाश्चय नही है ?
बली, भूधराकार भयकर, पूव जन्तु
क्या आज कही है ?

उनके अस्थि-पजरो के कुछ
अश्मीभूत चिह्न मिलते है,
लख विकराला कृतिया जिनकी,
दशक-गण के दिल हिलते है।

हुए लुप्त ऐसे भी जिनको
श्वासो मे खिचते थे हाथी,
पर, बच रहा द्विपद, जिसका था
तब कोई न सँगाती - साथी।

मिले सहस्र पाद जल-थल-चर,
मिटे मेरुतनधारी तमचर,
बडे बडे पखो वाले वे
मिटे भयकर सभी गगन चर।

किन्तु बचा लाया अपने को,
किसी तरह अति दुर्बल यह नर,
यह नर जिसे मारने मानो
तुले हुए थे सकल चराचर।

अब तक निगल न पायी इसको
सवनाश की गहरी खनिका,
इसके आगे नाच थकी है
मोघ - भरी स्मृति की गणिका।

मानव ने जब निज दृग खोले
तब उनसे किसने झाँका था ?
बैठ नयन-वातायन म तब
किसने इस जग को आका था ?

वह भय था ? या वह अचरज था ?
अथवा क्या वह उत्सुकता थी ?
वह थी ज्ञान-पिपासा क्या कुछ ?
या वह बेसुध भावुकता थी ?

कुछ कहते हैं वह अचरज था ?
कुछ कहते है वह तो भय था।
हम कहते है वह विकार-पति
कोई तत्त्व चेतना - मय था।

ऐसा तत्त्व, झलकती रहती
जिसमे महिमा चिर चेतन की,
ऐसा तत्त्व कि जिसके वश है
सकल क्रियाएँ सवेदन की,

वह, जो प्रकृति छटा-उद्दीपन
अपने मे अकित करता है,
ऐसा तत्त्व कि शीत-उष्ण से
जो निज को शकित करता है,

जिसमे वाह्य प्रभावो को निन
धारण करने की क्षमता है,
वही तत्त्व झाका था दृग से
जिसकी कही नही समता है।

प्रकृति विलोकी थी यदि नर ने
नयनो मे केवल भय भरकर,
तो फिर उसके मन मे कैसे
जागा अन्वेषण सशय - हर ?

भय वश मानव कहो कभी क्या
हो उठता है यो लीलोत्सुक ?
भीति ग्रस्त तो सदा रहेगा
गहन कन्दराओ मे छिप-लुक।

और न केवल अचरज ही से
खुलती है उलझन सिरजन की ?
मानव-यात्रा मे लगती हैं
पूर्ण शक्तिया मानव मन की

टुकडे-टुकडे कर के कोई
क्यो मानव को सदा निहारे ?
उसको क्यो यो काटे कोई—
बिन समझे औ' बिना विचारे ?

मानव गठरी नही राग की,
नही विकारो का अनुगामी,
काम, क्रोध, भय, लोभ,मोह, मद,
अचरज, वह इन सब का स्वामी।

दिखने मे जो इनका पुतला,
पर, वास्तव मे जो निष्कामी,—
आया ले दीपक चेतन का,
वह अभिमानी, निपट अनामी।

उसने अपने इस दीपक से
सब नक्षत्र किये आलोकित,
उसने नदियाँ की कल्लोलित
उसने अर्णव किये विडोलित,

झंकृत किये सृजन वीणा के
तार-तार उसने निज कर से,
वह, कल गानवती स्वर-गगा,
लाया खीच नील अम्बर से,

उसने अवलोका इस जग को
अपने उच्च चेतना-स्तर से,
गूँथ बना लाया नियमो की
माला वह निज अन्तरतर से,

पर, उसका प्रवास-पथ कितना
बीहड था, कितना बीहड है!
एक ओर लघु चेतन-दीपक,
उधर तिमिर का वैभव जड है,

जब एकाकी आदि मनुज ने
अपने चारो ओर निहारा,
तो दिखलाई दिया सभी दिशि
उसको निपट विकट अँधियारा,

एक ओर थे ऊँचे भूधर,
एक ओर थे गहरे सागर,
कही पडे थे भारी अजगर,
कही दहाड रहे थे नाहर।

कही बरफ था, कही धूप थी,
कही भयानक आंधी - पानी,
अनजाना सा सारा जग था,
निखिल प्रकृति यह थी अनजानी,

ऐसे जग मे कहो क्या करे
निपट निबल मानव एकाकी ?
जन बिन, शस्त्र हीन, नि साधन,
कैसे विजय करे वसुधा की ?

मानव झिझक हटा कुछ पीछे,
मानव - हिय भय भरा भयकर।
लेकिन उससे कहा किसी ने
कि रे मनुज, तू है शिवशकर॥

पीछे हटा, बढा फिर आगे,
पाव लडखडाये रह - रहकर,
हिय धडका, मिंच गये नयन भी,
निकला खेद - स्वेद बह - बहकर,

किन्तु न रुकी चरण गति उसकी,
मानव सतत गया बढता ही,
होने लगा ऊर्ध्व - पथ निर्मित,
मानव सतत गया चढता ही,

प्रकृति मानिनी के घूँघट को
लगा खोलने धीरे - धीरे,
गहन अगम्या को यह मानव,
लाया ज्ञान सरोवर तीरे।

उसने लांघे धीरे - धीरे
प्रस्तर – लौह – ताम्र मन्वन्तर,
हुई विस्तृता ज्ञान - मेखला,
विकसित हुआ बाह्य - अभ्यन्तर,

बना चुका है निखिल प्रकृति को
अपनी दासी, यह राजेश्वर,
किन्तु अभी तक कर न सका है
अपने वश अपना अन्तरतर।

पर, निश्चय ही यह मानव है
राजेश्वर, अमिताभ, क्लेशहर।
जिस दिन निज को पा जायेगा,
उस दिन होगा यह सर्वेश्वर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१४ सितम्बर १९४३

भूल-भुलैया

इस भूल-भुलैया से कैसे
निकले मानव का भूला मन ?
हो रहा आज तो निष्फल-सा
उसका सब चिन्तन और मनन।
मानव की हर-हर पगडण्डी
बन गयी घूम फिर कर चक्कर,
घानी का बैल बन गया है
फिर भी, वह कब बैठा थककर ?

सन्नाटे मे है फँसा हुआ,
वह झुँझलाता-अकुलाता है।
चक्कर मे है वह बेचारा,
फिर भी चलना ही जाता है।

जिनने कि निकट से देखा, वे
बोले जन ऊर्ध्वगमन मय है,
यह शिल्प और विज्ञान अमित
उसकी उन्नति का परिचय है,
कुछ कहते है कि मनुज तो है
क्षुत्क्षाम अधोगामी प्राणी,
शुभ ऊर्ध्व गमन की बात, कहो,
इन मानव ने कब पहचानी
पर, हमको तो यो लगता है
जैसे कि मनुज है चक्कर मे,
ऊपर, नीचे, नीचे, ऊपर,
वह फँसा इसी आडम्बर मे।

उस उन्नत(?) मानव को देखो,
निरखो तो इस विज्ञानी को,
इस पण्डित को, इस ध्यानी को,
अवलोको इस अभिमानी को।
इसकी आखो मे देखोगे
तुम अति विकराल गुहा मानव।
इसकी त्यौरी मे देखोगे
तुम विकट रक्तपायी दानव।

यदि मनुज आज वैसा ही है,
तो ऊर्ध्व-गमन है कहाँ, कहो ?
वह गुहा मनुज ही तो है जो
प्रासादो मे है यहाँ, अहो ?

जग ने सोचा कि गुहा छोडे
हो गये सहस्रा मन्वन्तर,
मानव इतना बढ आया है
बदला होगा कुछ अभ्यन्तर।
पर, बर्बरता औ' सस्कृति मे,
जैसे, है बँधी एक डोरी,
मानो, रँग नही सका गहरी,
मानव अपनी चादर कोरी।
मानो, वह गुहा द्वार से चल,
फिर जा पहुँचा है आज वही,
जैसे, उन्नति का ऊर्ध्व पन्थ
वह ढूँढ सका है अभी नही।

मानवता ने सुलगायी है
निज बुद्धि-ज्वाल दुर्दान्त, चण्ड,
प्रज्वलित हो उठी है होली
हर हर हर-हर करती अखण्ड।
की बुद्धि मनुज ने अति विकसित,
पर, रहा हृदय रागानुरक्त,
फल भोगे, अब, जब किया आज
मानव ने जीवन यो विभक्त,

सस्कृत न हो सका हृदय भाव,
कर लिया अमित बौद्धिक विकास,
तो आओ मेरे जबडे मे—
या गरज उठा है सवनाश !

आ पहुँचा है जिस ठौर मनुज,
उस ठौर आज है सवनाश,
यदि, वह अपने हिय को मथ कर
कर ले न आज अपना विकास !
ये अगारे, ये सब लपटें,
यह बुद्धि-प्रज्वलित वैश्वानर,
यह अति प्रचण्ड मस्तिष्क ज्वाल,
जो धधक रही है हहर-हहर
ये सब कर देंगी भस्मसात्
जीवित जन की ठठरियाँ आज
चेतो, अन्यथा रहेगी बस
राखो की कुछ गठरियाँ आज !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० जनवरी १९४४

८

कस्त्व ? कोऽहं ?

मानव, तेरा आरम्भ कहाँ ?
मानव तेरी उद्‌भूति कहाँ ?
तेरे जीवन का स्रोत कहा ?
तेरी वह आदि प्रसूति कहाँ ?
तू कब जागा ? तू कब उट्ठा ?
जड से तू कब चैतन्य हुआ ?
जग के इन जगम जीवो मे
कब से तू, बोल, अनन्य हुआ ?
तेरी कैसी परिभाषा है ?
ओ द्विपद जीव, तू कौन अरे ?
कितने दिन से तू विचर रहा
है कैसे - कैसे रूप धरे ?

मै मानव हूँ, मनु वशज हूँ,
मै क्या अपना इतिहास कहूँ ?
मैं अपने ही मुख से कैसे
निज उद्भव और विकास कहूँ ?
इतिहास बना मम भ्रू विलास
मन्वन्तर मेरे दास बने,
घटनाओ के क्रम तो मेरे
प्रतिविम्बो के आभास बने।
मै इतनी बडी कहानी हूँ
जिसका अथ है अज्ञात, सखे,
मैं आदि - अन्त से परे, यहा
अथ-इति की कौन बिसात, सखे ?

मेरी इक - इक धडकन मे है
सचित युग-युग की सस्कृतियाँ,
उच्छ्वास और नि श्वासो मे
मण्डित अनादि की सस्मृतियाँ,

मेरी इन रोमावलियो मे
सिहरन का एक रहस्य भरा,
मेरी तन्द्रा की घडियो मे
नैष्कम्य - तत्त्व - आलस्य भरा,

हे जग, मै एक पहेली हूँ!
क्या दूँ तुमको परिचय अपना ?
मै द्रष्टा हूँ, मै भोगी हूँ,
जड-जगम है मेरा सपना!

आरम्भ ? अरे मेरे अथ का
इतिहास रहा अज्ञेय सदा,
मम प्रथम प्रात के भैरव स्वर
हैं रहे अगम्य, अगेय सदा,

कोई न गा सका आदि-गीत
कोई न भर सका गत स्वर वे,
कोई न रख सका याद, कि ये
कैसे नव-गायन निर्झर वे,

मै आज जगाने बैठा हूँ
वह आदि प्रभाती स्वर-लहरी,
विस्तृत अतीत के सागर मे
कल्पना पैठती है गहरी।

इस विस्तृत-से वक्षस्थल मे
जिसको कहते आकाश महा ,–
इस नीले-से गगनागन मे, –
था कभी नाचता नाश महा,

अगारो का था खेल यहाँ,
शोलो की था इक बस्ती थी,
था धुआँधार का राज यहाँ,
लपटो ही की याँ हस्ती थी,

जिसको जड-जगम कहते है
उसका न पता था कही यहाँ,
जलचर, थलचर की कौन कहे ?
जल-थल भी तो थे नही यहाँ।

उन सर्वभक्षिणी लपटो मे
लिपटा था आविर्भाव स्वयं,
उस महानाश के नर्तन मे
था विश्व-सृजन का चाव स्वय,

प्रलयकारी आग्नेय रास
था आदि रूप निर्माणो का
उस सव - दहन की लाली मे
था तत्त्व निहित चिर-प्राणो का

पावक की दाहक होली की
गोदी मे सृजन विहँसता था
सहारकारिणी लीला मे
चिर-सुन्दर उद्भव बसता था।

यह विश्व और यह रवि-मण्डल
या वैश्वानर का क्रोधानल,
इन लोक और लोकान्तर मे
खद-बद करता था कोलाहल ,

आकारहीन या सौर-जगत्,
आकारहीन थी वसुन्धरा,
तारल्य और नीहारमयी
थी आदि सृष्टि की परम्परा।

उन तरल और आकार-रहित
द्रव्यो मे गति थी चक्रमयी,
क्या किसी कुम्भकर्ता ने ही
दी थी जग को यह प्रगति नयी ?

ये प्रलय और उद्भव दोनो
थे बद्ध एक आलिंगन मे,
थी बँधी सृजन की प्रगति घोर
उस महानाश के रिंगण मे ,

आगे - आगे था महानाश,
पीछे - पीछे था भव-उद्भव ,
अथवा विनाश, उद्भव, दोनो
थे एकरूप मिश्रित, तद्भव ,

है अरे, कौन अज्ञानी वह
जो नाश, सृजन, को अलग कहे ?
तत्त्वार्थ-दीपिका बुद्धि व्यर्थ
विश्लेषण का क्यो भार सहे ?

था काल-ज्ञान [illegible]
उस [illegible]
उस [illegible]
मानव [illegible]

[illegible]

वह [illegible]
[illegible]
थे [illegible]
जिसकी [illegible]

ानो
नही,
हुआ,
रही,

अंगारा [illegible]
[illegible]

अपने को [illegible]
बैठा था [illegible]
जिसका [illegible]
ा महा[illegible]

ोर कई

आयी

[illegible]

यह विश्व और यह रवि-मण्डल
था वैश्वानर का क्रोधानल,
इन लोक और लोकान्तर मे
खद-बद करता था कोलाहल ,

आकारहीन था सौर-जगत्,
आकारहीन थी वसुन्धरा,
तारल्य और नीहारमयी
थी आदि सृष्टि की परम्परा।

उन तरल और आकार-रहित
द्रव्यो मे गति थी चक्रमयी,
क्या किसी कुम्भकर्ता ने ही
दी थी जग को यह प्रगति नयी ?

ये प्रलय और उद्भव दोनो
थे बद्ध एक आलिगन मे,
थी बँधी सृजन की प्रगति घोर
उस महानाश के रिंगण मे ,

आगे - आगे था महानाश,
पीछे - पीछे था भव-उद्भव ,
अथवा विनाश, उद्भव, दोनो
थे एकरूप मिश्रित, तद्भव ,

है अरे, कौन अज्ञानी वह
जो नाश, सृजन, को अलग कहे ?
तत्त्वार्थ-दीपिका बुद्धि व्यर्थ
विश्लेषण का क्यो भार सहे ?

था काल-ज्ञान से बहुत दूर
उस सवनाश का रास - रग,
उस समय काल-अनुभव-कर्ता
मानव था अवगुण्ठित, अनग,

भावी, अतीत औ' वर्तमान
थे एक रूप औ' एक प्राण,
काल - त्रय के गुण-बन्धन से
था विनिर्मुक्त वह कालमान,

वह महाकाल था आदि-रूप,
या था निर्मम सतश्री अकाल,
थे विश्व सृजन मे पूर्ण लीन
जिसकी ग्रीवा के तन्तुजाल

धू-धू करती उन लपटो से,
अगारो से, ज्वालाओ से,—
धूमायित उन कुण्डलियो से,
प्रज्वलित अग्नि-मालाओ से,—

अपने को पूर्णावृत करके
बैठा था क्या कोई साजन ?—
जिसका कन्दुक था अग्निपुज,
था महाशून्य जिसका आसन ?

क्या कोई लीलामय भी है
लोकान्तर जिसकी कृतियाँ हैं ?
ताराओ के ये चलन - कलन
किसकी लीला की सृतियाँ हैं ?

किसके अगुलि - परिचालन मे
रमते हैं उद्भव, नाश सदा ?
किसकी भ्रूभगी का नाटक
है प्रलय, सृष्टि की यह विपदा ?

कोई इसका कर्त्ता भी है ?
या स्वयम्भूत है जगद्वाल ?
इसका निणय करते - करते
थक गयी तक की तीव्र चाल,

कल्पना शिथिल, है बुद्धि थकित
मति गति चकिता, विश्वास मूक,
कर्ता, कारण का तत्त्व कहो,
कोई कैसे जाने अचूक ?

इस जग की नाटक-शाला के
उस सूत्रधार का किसे पता ?
वह है भी, या कि नही भी है,
यह भी कोई कब सका बता ?

पर, मै मानव कैसे आया ?
कब निकला मै अगारो से ?
कैसे मै हुआ विभूपित इन
उपकरणो के श्रृंगारो से ?

इन दस इन्द्रिय के बन्धन से
मैं बँधा अहो किस क्षण, बोलो ?
कब हुए चलित, जीवित, गतियुत
मम अगो के रजकण, बोलो ?

प्रज्वलित पुंज यह पिण्ड, जिसे
भूमण्डल का अभिधान मिला,—
जिसकी छाती पर आज सभी
जड़-जंगम का गुम्भार मिला,—

धीरे-धीरे जम चला ज्वलित
अंगारा भी अन्तस्तल में,
आकार-गृहीत तारल्य हुआ
अति घनीभूत उस हलचल में

लपटों के धुआँ-धुआँ हो
छा गया वायु आवरण यहाँ,
पृथिवी हो गयी उदधि-वसना,
लहरें उट्ठी मन हरण यहाँ।

जल की कल-कल ध्वनि में मानो
नवजीवन की रसधार बही,
उद्भिज का स्फोट विकास हुआ,
जीवन प्रेरणा पुकार रही,

तृण ने, विटपों ने उद्ग्रीवी
होकर जीवन-सन्देश दिया,
उरगों ने गतिमय होकर के
अपने सिर गति का क्लेश लिया,

फिर गगन-विहारी और कई
पगधारी की बारी आयी,
जलचर, थलचर, नभचर आये,
नर आये औ' नारी आयी।

मै आ पहुँचा, हाँ आ पहुँचा,
पर मै कैसे आ गया यहाँ ?
जडता के इन जजालो मे
चेतन कैसे छा गया यहाँ ?

पावक-प्रसूत इस भूतल पे,—
जिसमे जडता ही जडता है,
चचल चेतन बोलो कैसे
विकसित होकर यो बढता है ?

जड चेतन, ये हैं भिन्न या कि
अन्योन्याश्रित इनकी माया ?
क्या जड, चेतन का भेद-भाव
है केवल सम्भ्रम की छाया ?

वे है कुछ, जो यो कहते हैं
"जड,-चेतन मे कुछ भेद नही",
क्या तत्त्व समीक्षक कर पाये
इन दोनो मे विच्छेद कही ?

जड मे भी तो अति की गति है,
उसमे भी तो है शक्ति भरी,
कण-कण मे विद्युद्वेग भरा
आकपण की अनुरक्ति भरी,

है शक्ति निरी उसमे भी तो
जिसको हम चेतन कहते है,
फिर भेद कहाँ जड-चेतन मे ?
इस भ्रम मे हम क्यो रहते हैं ?

चेतनता का अभिव्यजन है
जडता ही के उपकरणो मे,
निश्चय ही जीवन लिपटा है
भौतिकता के आवरणो मे,

पर केवल भौतिकता मे ही
आवद्ध नही है जीव-भाव
भौतिक पदाथ से भिन्न रूप
वहता है चेतन सुरस-स्राव,

जडता विकास गुण शून्य, किन्तु -
जीवन मे वद्धन-शक्ति भरी,
जीवन मे रस-परिपाक-शक्ति
आत्मोत्पादन-अनुरक्ति भरी।

जड मे विकास के भाव कहा ?
उत्पादन की क्षमता न वहा,
जठराग्निक्षिप्त आहारो की
वह सदृशीकृत पक्वता कहा ?

चेतन की ये विशेषताएँ
जडता मे कव उद्भूत हुई ?
तव क्यो कहते हो जडता से
यह चिर-चेतना प्रसूत हुई ?

चेतन आया इस जड - जग म
जडता को धन्य बनाने को,
अपनी अनगता त्यागी है
उसने अगी कहलाने को।

पर आया, मैं माँग आया, —
कैसे आया ? कुछ याद नहीं,
पर समागम की घटना में
है रंचमात्र अपवाद नहीं,

सम्भरण में निपुणता की
गुणतर होने की आस, सगे,
[illegible] हूँ [illegible] की
आज होने की चाह सगे,

निबाह हो रहा है मेरा
[illegible] सिन्धु की लहरों में,
मैं उतराता ही रहता हूँ
अहर्निश के आठों पहरों में।

निर्मोह प्रेम - सरित में,
मेरा निवास [illegible] नहीं,
[illegible] का [illegible] मैं,
[illegible] में [illegible] नहीं,

है [illegible] का [illegible],
और [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] हुआ
है [illegible] [illegible] - [illegible],

है [illegible] का है [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] है
[illegible] है कि [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] की [illegible] है।

मै बन्धन मे हूँ, किन्तु, अरे
बन्धन मेरी ही कृतियाँ है,
ये बन्धन तो मुझ निर्गुण की
गुणयुत होने की स्मृतियाँ है,

मै विनिमुक्त, जब उकताया
अपनी अबद्ध परिभाषा से,–
आकार-रहित मै, जब मचला
साकार भाव की आशा से,–

बस तभी निरिन्द्रियता मेरी
प्रकटी नव सेन्द्रियता होकर,
मैंने ही इसे बनाया है
अपनी वह निगुणता खोकर।

अपने बन्धन का स्वामी मैं
अपने बन्धन का दास बना,
अपनी ही लीला-कृतियो का
मैं आज निरा उपहास बना,

मेरे नयनो के पानी का
कारण मम हास-विलास बना,
मेरे दिग्भ्रम का मूल स्रोत
मेरा ही शोणित-राग बना,–

मैं कभी रहा हूँगा विमुक्त
अब तो हूँ रज्जु-बद्ध प्राणी,
बन गया आज मैं तो अपने
इस नव-बन्धन का अभिमानी।

मैंने अपनी इन आँखों से
देखा अँधियाला-उजियाला,
देखी मग की दोपहरी औ'
पावस की श्याम मेघमाला,

उत्थान और पतनों की सब
लीला देखी, सस्कृति देखी,
सपने देखे, जागृति देखी,
सम्भ्रम देखे, ससृति देखी,

देखे मैंने इन नयनों से
युग-युग के अपने खेल कई,
विप्लव की घटिकाएँ देखी,
देखी हैं रेलमपेल कई,

मैंने अपने इन हाथों से
पाहन-युग में वन-विजय किया,
निर्माण किया, विध्वंस किया,
जग को सुख-दुख, नय-अनय दिया,

दुर्दान्त वन्य पशुओं को भी
मैंने गृह-पोषित, दान्त किया।
वल्गा, अकुश, नाथों के बल
दुदमनीयों को शान्त किया।

भोजन-धान्यों का चयन किया,
यों मैंने अपना त्राण किया,
उटजों, भवनों, प्रासादों का
जगतीतल में निर्माण किया।

मै प्रकृति-विजय करने निकला,
ठोकर खायी, गिर पडा, उठा,
फिर बढा और मेरे श्रम मे
भौतिक उन्नति का साज जुटा,

भूमण्डल हुआ कमण्डल मम
मैंने जल-थल को नाप लिया,
मेरी आकाक्षा ने जग को
वरदान दिया, अभिशाप दिया,

हूँ बना आज मै जग-विजयी,
आकाश-जयी, भूतल-विजयी,
मै देश-जयी, मै काल-जयी,
मैं वायु-जयी, जल थल विजयी।

तब से अब तक मैंने कितने
साम्राज्य बनाये, ढेर किये,
है क्या गणना, मैंने कितने
ये सीधे-उलटे फेर किये ?

मानव को दास बनाकर मै
जगती मे शाहशाह बना,
फिर प्रलयकर विद्रोही बन
मैं मनुज-मोक्ष की चाह बना।

हिय तडप उठा, बन गया पुज
मैं तीव्र विरोधाभासो का,
मेरा आगन बन गया मच
नित नूतन ताण्डव रासो का,

चाहे मैं आज नागरिक हूँ
या हूँ अनागरिक वनवासी,
तब भी तो मैं अतृप्त ही हूँ,
प्यासा हूँ, मैं हूँ अभिलाषी,

मैं द्वन्द्वो का अभिव्यंजन हूँ,
पुंजीभूत द्विधा-गति हूँ,
मैं प्रतिमा-भंजनकारी हूँ,
मैं भक्तिमयी नवधा रति हूँ,

मैं विद्या और अविद्या हूँ,
मैं श्रेय प्रेय सम्मिश्रण हूँ,
हूँ शान्ति तरणिजा-धारा मैं
संकर्षण - संघर्षण - रण हूँ,

मुझमे सनेह का सौष्ठव है,
मुझमें विकार की परछाई,
मेरी आखे है जागरूक,
मेरी आखे हैं अलसायी,

उनमे लाली मादकता की,
उनमे चिरजागृति के जल कण,
उनमे प्रमाद की निगति है,
उनमे अनुतापो की उलझन,

मेरे हिय मे है प्यार भरा,
अभिसार भरा, मनुहार भरी,
रति भरी, दरम-लालसा भरी
औ' विकट विरति की रार भरी,

मै सतत सनातन अन्वेषक,
मै शाश्वत टोह-निरत प्राणी,
हूँ सर्वार्पण - साधना - लीन,
मै यज्ञयुक्त, चिर बलिदानी,

अपने लम्बे यात्रा-पथ मे –
थककर मै बैठा हूँ न कभी,
चलता ही जाता हूँ प्रतिपल,
है यदपि शिथिल मम अग सभी,

मेरे मग मे धुँधलापन है,
धूमिल हे मेरी दृष्टि रच,
मेरे मस्तक से श्रमकण की
होती रहती है वृष्टि रच।

है लक्ष्य अलख, अस्पष्ट, किन्तु
मेरे हिय बीच विराम नही,
अन्वेषण के अतिरिक्त मुझे
कुछ और यहाँ पर काम नही

जिसको ढूँढू हूँ वह क्या है,
इसका कुछ है आभास मुझे,
अपने पिय की है दरस प्यास
ऐसी कि बुझाये भी न बुझे,

अपने मग मे मैं चलता ही
जाता हूँ धीर चरण धर-धर,
हैं सहस्राब्दियाँ बीत चुकी,
बीतेंगे अगणित मन्वतर।

मम अवस्थान का छोर दूर,
मेरे पथ का विस्तार बड़ा,
मेरी प्रणोदना नित नूतन,
मेरा उत्सुक अभिसार बड़ा।

अति दूर - दूर के बहुरंगी
चिर - संगी हैं मेरे सपने
निश्चय अवगुण्ठन के भीतर
छिप बैठे हैं साजन अपने,

घूँघट को तनिक उठाने को
कितने युग से मैं इच्छुक हूँ,
अपनापन खो देने को मैं
देखो तो कितना उत्सुक हूँ।

ये ललित भावनाएँ मेरी,
बल खाती हुई तरंगे ये –
क्षण-क्षण ऊपर को चढ़ती - सी
बहुरंग कल्पना चंगे ये –

जब मेरे लघु अन्तस्तल में
क्रम क्रम से आविर्भूत हुईं,
तब मेरे नयनों के सम्मुख
इक नयी सृष्टि सम्भूत हुई।

मैंने जल थल में, अम्बर में,
देखे हैं अगणित चित्र कई,
इन भावों ने दिखलायी हैं
ये कई सृष्टियाँ नयी - नयी।

मद,काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह
यह मत्सर, घृणा और करुणा,–
वात्सल्य, शान्ति, चिर नेह, लगन
मैत्री, श्रद्धा, लज्जा अरुणा, –

ये सब मेरे हिय - मन्दिर के
चिर-कम्पित-से हैं अधिवासी,
मेरे गति - उत्तेजक हैं ये,
फिर भी हैं मेरी गल फासी,

ये मेरे यत्नों के प्रेरक
हैं मेरे दृढतम बन्धन ये,
हैं ये मेरे मन - सन्तापी,
फिर भी हैं मम हिय-नन्दन ये।

है अपनापन भी तो मुझमे
है अहभावना की धारा,
रस-राग-समुच्चय ही से लो
व्यक्तित्व बना मेरा सारा,

हैं ऊर्ध्व गमन के अर्थ बने
सोपान रूप मम मनोराग,
पर अध पतन - कारण बनते
ये विकृत रूप मे जाग - जाग,

अपने ही हाथो स्वर्ग - नरक
रच लेता हूँ मैं जीवन मे,
देवासुर का सग्राम नित्य
होता मम हृदय - रणागन मे।

है निर्मित रौरव नरक किया,
मैंने भूतल मे यहाँ - यहाँ,
उमडे शोणित के उत्स नई
ज्यों ही मैं पहुँचा जहाँ-जहाँ

असि और अग्नि से मैं ने ज्ञ,
हो गयी रक्त-अम्बरा धरा,
बीभत्स श्मशान बना यह जग
जो किसी समय था हरा-भरा,

इस आँगन म है सुलग रही,
मेरी सुलगायी हुई चिता,
मम असि के घाट चढी-उतरी
चकालो की टोली विजिता।

मैंने ही आज बनाया है
अपना स्वरूप बीभत्स बडा,
मैं आग उगलता हूँ जग के
इस चतुष्पथ पर खडा-खडा।

निर्माण - तत्व ने आशा से
था मेरा आविष्कार किया,
पर मैंने तो अब तक जग को
केवल विनाश-उपहार दिया,

आगे पीछे, दायें, बायें,
भट्ठियाँ नाश की धधक रही,
अगारो के अम्बार लगे,
शोलो से लपटें भभक रही।

मैंने अपना अस्तित्व स्वय
जकडा विनाश के बन्धन मे,
चिर - हास - विलास डुबोया है
निज हाहाकारी क्रन्दन मे,

प्रतिबिम्ब रूप मेरे स्वरूप
हैं भाजन अत्याचारो के,
हो रहे यहा नाटक जग म
मेरे ही क्षुब्ध विहारो के,

पर आज अचानक ही मुझको
सुध आयी बन्धन - खण्डन की,
आतुरता मुझमे जाग उठी
यह निज शृखला - विभजन की

मैं डोल रहा उन्मेष-मत्त
जग मे विप्लव - सन्देश लिये,
मै आज फिर रहा जल-थल मे
प्रलयकर - शकर - वेश किये,

मै देवदूत, मै अग्निदूत
हूँ मन पूत चिर - बलिदानी,
नवजीवन का उन्नायक मै
अगारो की मेरी वाणी,

मम नासा - रन्ध्रो से निकली
मेरे नि श्वासो की ज्वाला,
मेरी वाणी मे वज्रघोष,
मेरे नयनो मे उजियाला।

मैं उग्र मुक्ति - सन्देश - दूत
कहता हूँ अपने जग जन से
"ओ मृतको, उठो, गीत गाओ,
भूले हो तुम अपने मन से,

ओ सिंहपूत, हैं खीच रहे
ये स्यार तुम्हारा कौर, अहो,
फैलाओ तो अपने पजे,
मन मारे या मत बैठ रहो,

तुम आज दहाडो, क्रुद्ध वीर,
काँप जाये वसुन्धरा सारी,
पर्वत शिखरें कँप जायें ये,
दहलें शृगाल अत्याचारी।

क्या कहा कि तुममे प्राण नही ?
मदहोशी है ? कुछ होश नही ?
क्यो कहते हो तुम यो कि रच
तुममे जीवन का जोश नही ?

तुम तेज पुज निर्धूम वह्नि,
तुम गहनशक्ति-भण्डार अहो,
केवल तव शोणित-सिंचन से
वसुधा है हेमागार अहो।

कडका दो तुम अपनी बिजली,
दोहन-गढ होगा नष्ट, अरे,
सत्ता - धारी हो जायेंगे
निज सिंहासन से भ्रष्ट, अरे।

बन गया तुम्हारा रवन - रग
सम्पन्नो के दृग की लाली,
तव स्वेद - विन्दुओ से पूरित
है उनकी मतवाली प्याली,

उनके पट्रसमय व्यजन मे
अभिव्यजन है तव चिर-श्रम का,
उनका धन-वल तो है केवल
फल मात्र तुम्हारे सम्भ्रम का,

कब तक रहने की इच्छा है
इस धोखे मे, कुछ बोलो तो,
अब तो उट्ठो, चेतो, जागो
कुछ हिलो और कुछ डोलो तो ।

धरती पर बेतरतीवी से
तुम अब तक चलते आये हो,
वस इसीलिए तो तुम अब तक
टुकडो पर पलते आये हो,

हा, आज कतारे बाँध चलो,
सम - तालयुक्त निर्बाध चलो,
दाये पर दायें, वायें पर–
वायें चरणो को साध चलो ।

पद-निक्षेपो की धम् - धम् से
मेदिनी कँपा दो, थर्रा दो,
प्राचीन गगन के आँगन मे
तुम नवल पताका फहरा दो ।

क्यों जकड रखा है अपने को
इस जीर्ण पुरातन बन्धन मे ?
ओ मानव, तुम गतिहीन हुए,
शैथिल्य भरा हिय स्पन्दन म,

अब तो अपने म शक्ति भरो,
सामूहिक की अनुरक्ति भरो,
जडता का द्रुत सहार करो,
शकर-विप्लव की भक्ति करो,

सगठित करोडो हाथो से
सत्ता-गढ को कर दो सपाट,
सम्राट् तुम्हारे चरण-दास
तुम हो अनेक, तुम हो विराट्,

जिनके हाथो म हल बक्खर,
जिनके दृढ हाथो मे धन है
जिनके हाथो मे हँसिया है
वे ही भूखे है, निर्धन है,

हे मानव, कब तक मेटोगे
यह निर्मम महाभयकरता ?
बन रहा आज मानव, देखो,
मानव ही का भक्षण-कर्त्ता,

है स्वर्ग-राज्य स्थापित करना
मानव के इस लीला स्थल मे,
सुख-समता का विस्तार यहा
करना है इस जगतीतल मे

जग के उपवनमे सुमन बने
हैं खिले बिन्दु तव शोणित के,
हीरक हारो मे, ओ मानव,
तव युग-युग के श्रमकण झलके,

तुम दास बने उल्लास हीन,
पैठे पृथिवी के अन्तर मे,
खानो की वीभत्सता घृणित
भर लाये अपने पजर मे,

अब तो नीचे से उठो, वीर,
विचरो इस विस्तृत अम्बर मे,
तुम पडे रहोगे यो कब तक
इस गत-अनुगति-आडम्बर मे ?

फिर से तुमको सन्देश मिला,
नाशो का, नव-निर्माणो का
तुम देखो तो, सहारो मे
होता है उत्सव प्राणो का,

डमरू लेकर बन जाओ तो
प्रलयकर शकर रूप रच,
यह नाश और नव सृजनो की
हो लीला यहाँ अनूप रच,

यह सृष्टि पुरानी पडी, बन्धु,
अब तुम रच डालो सृष्टि नयी,
जिसमे उन्नतशिर हो विचरे
ये मुकुटहीन नतमाथ कई,

कार्य-कारण-शून्यता

मानव की प्रयोगशाला से आयी यह ध्वनि आज –
क्यो है ऊहापोह तुम्हारी यह इतनी बिन काज ?
कार्य और कारण के पीछे पडे हुए दिन-रात,
क्यो तुम क्षीण कर रहे हो यो अपने कोमल गात ?
जग है नित्य अहैतुक, इसमे रच न युक्ति-प्रमाद ।
यहा नही मिलने का तुमको कोई युक्ति-प्रसाद ।

क्यो कहते हो कि है तकमय सिरजन के व्यापार ?
क्या है हेतु-बद्ध इस जग के नैसर्गिक व्यवहार ?
नही बन्धु, है कहाँ तकयुत ये नैसर्गिक खेल ?
जग मे फैली कहाँ कार्य ओ' कारण की यह बेल ?
कार्य और कारण है केवल मन-हृय की विक्रान्ति ।
'पूव' और 'पश्चात्' 'पर'-'अपर', यह है हिय की भ्रान्ति ॥

'तब' औ' 'जब' का काल विभाजन है नितान्त ही भ्रान्त,
और, इसी कारण मानव-हिय हुआ भ्रान्ति-आक्रान्त,
'तब'-'अब' का यह भेद न हो तो कहाँ हेतु का भाव ?
कहाँ काय-कारण का झमट ? कहा ? तक का चाव ?
इसी 'पर'-'अपर' के झूले मे मनुज रहा है झूल ।
अत काय कारण का, हिय मे, खटका है यह शूल,

यहाँ काकतालीय न्याय है, यहाँ घुणाक्षर न्याय,
अत दिखाई दिया जगत् मे हम हेतु-व्यवसाय,
नही हेतु मलकता जग म, यो है हेत्वाभास,
यो भौतिक विनान कर रहा तर्को का उपहास ।

जड विज्ञानी अपने कर मे ले अणुवीक्षण यन्त्र, –
बोला जग मे नही हेतु का कोई शासन-तन्त्र ।

यहाँ कार्य-कारण है केवल दृग्गत स्थूल विकार,
विद्युन्मय परमाणु - कणो मे नही हेतु-विस्तार ।
यह उत्प्लवन विद्युर्मणियो का यादृच्छिक है नित्य,
लो, कर दिया अहैतुकता ने कारण-वाद अनित्य !
है सविकल्प सदा अणु-सहति-भेदन का व्यापार
अशु-स्फुरणकारी पदार्थ का है विचित्र व्यवहार,

हेतुवाद की जड़ें हिलाकर यह भौतिक विज्ञान,–
मिला रहा है आज धूल मे तर्क युक्ति का मान ।
कहता है ये विद्युन्मणियाँ कण हैं ! किन्तु तरग ।
कहता है ज्योतिष्किरणें है भौतिक, किन्तु अनग !
कहता है यह घनीभूत जग है तरंग उत्ताल !
किन्तु तक कहता है मत यो फैलाओ भ्रम-जाल !

कहता है विज्ञान : नही है यह कोई भ्रम-जाल,
है निसर्ग की यह लीला ही युक्ति-हीन सब काल,
जो दिक्-काल कहे जाते हैं आदि अन्त से हीन,
वे भी हैं सीमान्त युक्त औ' वे भी होगे क्षीण,
युक्त-वाद तब बोला मेरे, हे भाई विज्ञान,
कही न कही तुम्हारे भीतर है भारी अज्ञान !

अणु-सहति-भेदन-कारण को यदि न सके तुम पेख,–
और पूर्ण हैतुकता को तुम यदि न सके हो देख,–
तो क्यो कहते हो कि जगत् है हेतु-हीन व्यापार ?
क्यों कहते हो कि है अकारण यह समस्त ससार ?

तुम्ही कह रहे हो कि विश्व मे है कुछ नियम अटूट,
तब क्यो पिला रहे हो हमको यह अयुक्ति की घूँट,

यदि विस्तृत ब्रह्माण्ड महत् मे है नियमितता रच,—
यदि है नियमो के स्तम्भो पर निखिल प्राकृतिक मच,—
समीकरण सिद्धान्त गणित के यदि हैं सृष्ट्याधार,—
तो क्यो कहते हो कि हुआ है हेतु वाद निस्सार?
कहो कि नही पा सके हो तुम अब तक कारण ज्ञान,
किन्तु न कहो अकारण जग को, करो न निज-अपमान,

है स्वीकार कि नही पा सका मानव अणु का भेद,
नही मिटा है अब तक उसका यह अन्वेषण खेद,
किन्तु मनुज की तार्किकता है अमित प्रेरणा पूर्ण,
वह तो इस विसृष्टि का दुर्गम गढ कर देगी चूर्ण।
तर्कवाद बिन क्षण-भर भी तो चल न सकेगा काम,
कारण-वाद मार्ग पर ही जग चलता है अविराम।

अणुओ की, विद्युन्मणियो की, लीला अपरम्पार,
औ' खगोल दे रहा चुनौती हमको बारम्बार,
किन्तु युक्ति औ' तर्क, कहो तो, कब बैठे हिय हार?
अरब खरब लौ, अनाद्यन्त लौ, है इनका विस्तार।
आज जहा दिखलाई देती हेतु-शून्यता अन्ध
वही तक रवि हमे दे रहा प्रखर ज्योति निर्बन्ध।

दिक् मे काल, काल मे दिक् को करके जटित सयत्न,
तुमने यह सापेक्ष्यवाद का दिया जगत् को रत्न,
तर्कवाद है सदा तुम्हारा अनुग्रहीत महान्,
शुद्ध सत्य शोधक हो तुम भी, हे भौतिक विज्ञान।

किन्तु तुम्हारे इस विवाद से असन्तुष्ट है तर्क,
मानो नही हुआ है तुमको पूर्ण सत्य - सम्पर्क।

कहते हो, है काल परिधिमय, वितति-वान है किन्तु,
तुम कहते हो, दिक् सीमित है, वर्द्धमान है किन्तु,
यदि है काल परिधिमय तो फिर उसके बाहर कौन ?
यदि दिक् है सीमित तो उसके बाहर किसका मौन ?
तर्क कह रहा है कि अगर है अन्तवन्त दिक्-काल,
तो फिर आदिवन्त भी होगी इनकी स्थिति विकराल ?

देश-काल के पहले क्या था ? कुछ तो कहो सुजान।
इनकी सीमा के बाहर का कुछ तो करो बखान।
वर्द्धमान दिक् की होती है किसमे वृद्धि महान् ?
और काल किससे वृद्धिगत होता, हे विद्वान् ?
मत कहना कि नही है किंचित् यहाँ तर्क का स्थान,
मत कहना कि वास्तविकता ही दिखलाता विज्ञान।

यो लगता है कि है कही पर मानो कोई भ्रान्ति।
लगता है मानो आवश्यक है विचार मे क्रान्ति।
संकल्पात्मक देश - काल को देकर भौतिक रूप,
मानो यह विज्ञान खोदता है नित अन्धा कूप,
किन्तु विचार मनुज का कहता है यो बारम्बार,--
निश्चय ही हट जायेगा यह घटाटोप अम्बार।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जनवरी १९४४

■

जीवन-प्रवाह

हहर-हहर-हर-हहर-हहर - हर,-
यह जीवन-नद उमड रहा है,
प्लावित कर दिक्-काल निखिल को
यह प्रवाह घन घोर बहा है,
पाकर यह प्रसाद चेतन का
सकल सृजन अति धन्य हुआ है,
यो जीवन के आरोपण से
जड ब्रह्माण्ड अनन्य हुआ है,
जड रूपिणी निरर्थकता मे
यह सार्थकता चमक उठी है,
प्रखर चेतना की किरणो से
सृष्टि चमकती दमक उठी है।

क्या जाने, किस तुग शैल की
अलख शिखर के अभ्यन्तर से,
उमड वह रहा है जीवन-नद
जाने कितने मन्वन्तर से
शून्य, अरूप, अलख, निध्वनि, जब
घन-ध्वनि-मय हो करके हहरा-
अदिक्, अकाल, चिरन्तन, चेतन,
जब जीवन नद बनकर लहरा,
तब दिक्-काल बने उस नद के
अति अमाप दो कूल किनारे,
औ' अनेक बुद्बुद सम प्रकटे
जल-थल नभ चर न्यारे-न्यारे।

गहन, अलख उद्गम वाली यह
घहर रही है जीवन-सरिता,
राग रग आवर्त्तवती है,
है इसकी प्रवाह-गति त्वरिता,
मानव-हिय के प्रश्न अनेको
इसके मकर बने बलशाली,
जीवन की दृढता बन आयी
इस तटिनी की वहन-प्रणाली,
इसमे काम क्रोध के वतुल,
गहरे-गहरे भँवर कुटिल है,
कोटि-कोटि उच्छ्वास-फेन से
ये दिक्-काल कूल फेनिल ह।

इसका घोर प्रवाह घोप यह
हास्य भरित, आक्रोश भरित है।
अयुत विरुद्ध भावनाओ का
अभिव्यजन इसमे मुखरित है॥
सशय-कदम-पकिल जल है,
द्वन्द्वो की उठ रही तरगें,
मीन-सदृश कर उठी केलि ये
रग-बिरगी हृदय-उमगे,
असफल आकाक्षा की बूँदें
कूलो से टकराकर छहरी,
किन्तु जा रही है बहती ही
यह जीवन की गगा-लहरी।

कौन सिन्धु है जिसे भेंटने
आतुर होकर यह धायी है ?
अथवा, केवल यो ही क्या, यह
पन्थ भूल, जग मे आयी है ?
क्या आवद्ध हो गयी है यह
इन दिक्-काल-तटो से यो ही ?
अहो, वही है यह सरिता क्या
यो ही निरुद्देश्य ज्यो-त्यो ही ?
सोख जायगा क्या इसको यह
देश-काल का विकट मरुस्थल ?
क्या इसके प्रवाह की गाथा
होगी यो ही स्मृति दृग-ओझल ?

क्या स्वभाव है इस सरिता का ?
क्या है यह चिर ऊर्ध्वगामिनी ?
अथवा इस अपगा की गति है
क्या सन्तत ही अधोगामिनी ?
किंवा, अधश्चोर्ध्व स्यन्दन का
क्या यह केवल भ्रम ही भ्रम है ?
यो प्रश्नो की झडी लगाना
क्या विन काज, व्यय का, श्रम है ?
पर, मानव, जीवन प्रवाह लख,
कैसे बैठ रहे बिन बोले ?
बुद्धि-तुला दी है चेतन ने,
तो वह क्यो न स्वय को तोले ?

कहते हैं आनन्द मिटेगा
यदि निरखा जीवन गहरे से।
कहते हैं गभीर दर्शन हित,
तुम न रुको ठहरे-ठहरे से॥
कहते हैं जीवन प्रवाह है,
बहे चलो अहर्निशि बिन सोचे,
कहते हैं मत रुको रच भी,
यदपि गहन चिंतन हिय नोचे।
यह शिक्षा अवश्य ही होगी
जग - जीवन - कल्याणकारिणी,
किन्तु सीख यह नहीं बन सकी
द्विपद मनुज की क्लेश-हारिणी।

कैसे मनुज रहे पत्थर - सा,
प्रश्नों की ऊना-सासी में?
नियति स्वयं ही झुला रही है
उसको इस ठण्डी फाँसी में।
उसको तो यह जिज्ञासा का
मिला शाप-वरदान चिरन्तन,
ऊहापोह बिना वह कैसे
पाये निज हिय-तोष निरंजन?
मत दो यह उपदेश मनुज को
कि वह रहे जड़वत् होकर ही,
कि वह परम सुख प्राप्त करेगा
अपनी जड़ता को खोकर ही।

आदि अलख है, अन्त अलख है,
किन्तु मध्य भी क्या सुविदित है?
जो है दृग्गोचर जीवन-क्रम,
वह भी तो अतिशय अपिहित है
किन्तु झलक जब-तब जो मिलती
उससे तो इतना निश्चित है
कि है अबाध गमन-मय जीवन
यदपि शृंखला से विजडित है।
हो सकती है दुग्ध-फेन-सी,
जीवन की मटमैली चादर,
उसे धूसरित देख करे क्यो
कोई उसका निपट निरादर?

प्राणो मे भर अमिता दृढता
मनुज आज हुकार रहा है,
मानो निज विस्मृत स्वरूप वह
स्मृति मे पुन उतार रहा है,
इस प्रवाह-आकर्षण मे पड,
मानो भूला था अपने को,
आतुर है वह कि अब मेट दे
इस परवशता के सपने को।
सहसा आज घनक उट्ठे है
नवल जागरण घण्ट घनन-घन।
देखो, खुलने वाले ही हैं
मानव के लोचन-वातायन।

जो अब तक बहता जाता था
अति परवश-सा, अथवा शव सा,
निपट अकर्ण पोत-सा, तृण सा,
अथवा तिमि-सा, या राघव-सा,
वही प्रवाही जन्तु आज तो
उभर रहा है बन विद्रोही,
जो वाहित था, वही हो रहा,
आज, ओघ - लहरी - आरोही !
इस जीवन-प्रवाह की गति भी
ग्रहण करेगी दिशा ईप्सिता
मानव को न बहा पायेगी
इधर-उधर जीवन की सरिता !

यह जीवन की सरिता यद्यपि
लगती है निम्नगा निरन्तर,
किन्तु ऊर्ध्वगामिनी करेगा
इसको मानव का अभ्यन्तर,
धार बहेगी अब ऊपर को,
अधो - वहन - आभास मिटेगा,
उद्ग्रीवी होगा जीवन - क्रम
विवश गमन का भास मिटेगा,
मानव अब हुंकार उठेगा,
मैं जगपति हूँ ! मैं हूँ स्वामी !
मनोविकारों का न दास मैं,
मैं निज मत् स्वभाव अनुगामी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१३ फरवरी १९४४

मानव की क्या अन्तिम गति-विधि ?

क्या है नर का भाग्य जगत् मे ?
क्या है उसकी अन्तिम गति विधि ?
आवागमन-रेख ही से है
क्या चिरवेष्टित उसकी सुपरिधि ?
लख निज को, लख इतर जनो को
उगते, बढते औ' मुरझाते,–
लख घूर्णित गति-चक्र जगत् का,
ऐसे प्रश्न हिये - फुर आते,
क्या है कुछ उद्देश्य ? या, कि है
केवल निरुद्देश्य जग - सम्भ्रम ?
मानव का क्या काम यहा पर ?
निरद्देश्य है क्या जीवन - क्रम ?

मैने जब - जब पूछा 'क्या है ?'
तब-तब अनुध्वनि आयी 'क्या है ?'
मेरी ध्वनि लौटी बन प्रतिध्वनि,
यह अच्छी भौतिक विद्या है !
मेरी यह 'क्या है ? क्या है ?' सुन,
मानो जग मुंह चिढा रहा है,
अम्बर यह, अज्ञात, अगम से,
मुझको मानो भिडा रहा है,
क्या है भवितव्यता मनुज की ?
उसका भी है क्या अपना पद ?
या उसका जीवन है केवल
दस पैने नख, तीस तीक्ष्ण रद ?

पीछे मुड़कर मैंने डाले
जन - यात्रा - पथ पर अपने चख,
उस पर अंकित मुझे मिले हैं
हिंसक पशुओं के पंजे, नख।
मैं निकला था हुलस ढूँढने
मानव - चरण - चिह्न अंकित मग,
किन्तु मुझे मानव से खाली
लगा अतीत युगों का भी जग।
मैंने लखा आज अपने को,
लखे पार्श्ववर्ती अपने जन,
मैंने अपने में, अन्यों में
लखे रक्त के प्यासे पशु गण,

मैंने देखा निज अन्तर में
पंजे फैलाये इक नाहर।
और निहारे कई भेड़िये
गुर्राते अपने से बाहर।
मैं हूँ कौन? कौन हैं ये सब?
सोच रहा हूँ मैं यों पल पल,
है किनका समाज शोणित रत?
किन - किन का यह कोलाहल?
क्या मैं मानव हूँ? या मैं हूँ
केवल कुछ उफान की सन-सन?
क्या मानव मानव है? या हैं
वे सब घनीभूत उत्तेजन?

कभी - कभी तो यो लगता है
कि है जगद् - व्यापार अहैतुक,
यह है इक जजाल अकारण,
यह है एक बखेडा बेतुक,
यह जो चेतनता है जग मे
वह भी है मरीचिका – झाई !
यह जो जीवन लहराता है
वह भी है भ्रम की परछाई,
नर का ज्ञान-भान है केवल
वानर – कर - करवाल भयकर,
देखो आज उसी के कारण
फैला है प्रमाद प्रलयकर !

कौन काम इस चेतनता का
चिर जड रज्जु-बद्ध इस जग मे ?
है यह विश्व कालमय, दिङ्मय,
चेतन क्यो हो इसके मग मे
देश – काल चेतना – शून्य हैं,
वे ही हैं ब्रह्माण्ड – विधाता,
ऐसे चिर निर्जीव विश्व से,
चेतन का कैसा नाता ?
जडता है जिसके कण-कण मे,
जडता जिसकी लहर – लहर मे,
ऐसे जग मे चेतन आये, तो,
वह क्यो हो न भिन्न आगार मे ?

जीवनाय परमावश्यक है
जहाँ उष्णता भी थोडी-सी,—
जहा प्रकृति चलती रहती है
चिन्मयता मे मुँह मोडी सी,—
एसे इस ब्रह्माण्ड - भाण्ड मे,
जिसमे ठुसी भरी है जडता,—
यदि चेतन - कण आ जाये तो,
मन मे है यह भाव उमडता,—
कि यह चेतना जगड्वाल मे
निरी व्यथ, अप्रासगिक है।
माना प्रकृति कह रही इसमे
तुझे, चेतने, धिक है। धिक है।।

आज यही नि सार - भावना
उमड रही है अन्तरतर मे,
आज यही लहरे उठती है
प्रश्न - मथित मम मानस सर मे,
पर कोई कहता है चुपके
'किन्तु ' और मै जग जाता हूँ,
अपनी इति निश्चितता पर मै
फिर विचारने लग जाता हूँ,
क्या यह चतन निरा व्यथ है ?
क्या मानव आया है यो ही ?
ये विचार क्या बना न देंगे
नर को और विकट नर - द्रोही ?

मै इस मानव को क्यो कोसूँ ?
मैं क्यो धिक्कारूँ जीवन को ?
मानव को उपमानव-सा लख,
मैं क्यो मारूँ अपने मन को ?
मानव ही ने पहनायी है
प्रकृति - नटी को नूतन साडी !
मानव ही उसके सग खेला,
ऐसा मानव कुशल खिलाडी !
मानव ही उसके दुरुहतम
अन्तस्तल मे पैठा अचलित,
मानव ही न उसे दिया है
नियमो का पाटम्बर सुललित !

चेतन बिन जो निपट अन्ध थी,
उसके हुए अनेको लोचन,
चेतन सग हुआ गठ - बन्धन,
माथे जीवन - कुकुम - रोचन !
हुई कुमारी जब परिणीता,
भागा दूर द्विधा का घनतम !
उन दोनो के सह - मन्थन का
मानव निकला फल सर्वोत्तम !
लख मानव की यह अपूर्णता
क्यो विराग मेरे हिय जागे ?
उसकी गति - इति नही हुई है,
वह तो और बढेगा आगे।

क्या आश्चर्य कि जन - यात्रा पथ
सिंह - व्याघ्र - नख से है अंकित ?
धीरे - धीरे ही होती है
आदिम हिंस्र वृत्ति अति - लंघित,
उस पथ का कुछ झुककर देखो,
तो पाओगे वे चरणांकन,
जिनको निरख हुलस उठते है,
जन गण लोचन, जन हिय प्रांगण !
वे पद चिह्न, कि काल - सलिल पर
चिर ध्रुव छाप कर गये अंकित,
वह मग - रेखा, जो कि करेगी
युग - युग लौं जन - मन निःशंकित,

मानव की क्या गति होगी ? यों
हिय मे आज उठे क्यों शंका ?
सुनो - सुनो, बज रहा दूर पर
मानव की जय - जय का डंका !
फहर रही है विजय पताका,
घहर रहे हैं घण्टे घन - घन,
मानव - मुक्ति - आगमन का यह
श्रवण पड रहा गहर तुमुल स्वन,
मत निराश हो, ओ मानव तू,
मत निराश हो ओ हिय मेरे,
देख, दूर पर विहँस रहे हैं,
वे आदर्श प्राण प्रिय तेरे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ सितम्बर १९४३

धधक उठो अब, ओ वैश्वानर

धक्-धक् धधक उठो, री ज्वाला,
हर-हर हहरो तुम, वैश्वानर!
अन्धकार का भार हरो यह,
छिटकाओ निज ज्योति अमाहर!!

यह एकाकी मानव बैठा
गहन गिरि - गुहा में खोया-सा,
नग्न शरीर, निविड, तिमिरावृत,
यह जागृत सा, यह सोया-सा,

भीति ग्रस्त यह द्विपद, शूपणख,
यह अजान, यह लोमावृत तन,
अगम विजन विचरण-रत यह जन,
मूढ, क्षिप्त विक्षिप्त भ्रमित मन,

यह अकुशलकर, यह अज्ञानी,
यह नर, जो लगता है वानर –
आज कर रहा है आवाहन
धधक उठो तो, ओ वैश्वानर!

किच-किच, किट किट, अगट, अनगल,
गडबड, बरर जिसकी वाणी,
जिसके आदि शब्द का क्रम भी
है अचरज की एक कहानी,–

मानव यहाँ पर उठा गरजा
आज प्रचण्ड अग्नि धाराधर!
यहाँ अन्धकार आज हुआ है
कहाँ था जग हुए दब जाता!'

तिमिर तिमिर आज तिमिर में
जागा आभा ज्योति अपार,
घर घर, धधक उठी है ज्वाला,
तू हट हटजा, ओ अँधियार!

यहाँ चतुर्दिक् अन्धकार है,
फैली अवाङ्मनस की माया,
यहाँ अपरिमित का संचय है,
यहाँ सभी दिशि है तम छाया,

दिन का गोला चमक-चमक कर
सदा शाम को छुप जाता है,
और रात का यह गोला भी
रह रह कभी-कभी आता है!

अन्धकार का देख भुजंग का
हिय काँपने लगता है थर-थर,
औ' पुकारता है यह बरबस
धधक उठा अब, ओ अँधियार?

मानव ने देखा कि तिमिर में
होती है गर्जना भयानक,
मानव ने देखा कि तिमिर में
होते हैं आक्रमण अचानक

मानव ने देखा कि तिमिर मे
परिचित भी बन गये अपरिचित,
मानव ने देखा कि तिमिर म
भय ही भय है भरा अपरिमित,

मानव ने सोचा कि कर सकूँ
यदि मैं स्ववश प्रकाश अमाहर,
तो भय भागे, ज्ञान जग उठे
यदि धधके प्रचण्ड वैश्वानर !

लखी शैल ज्वाला मानव ने,
जगल मे निरखी दव-ज्वाला,
मानव ने सोचा सुलगाऊँ
कैसे यह ज्वाला विकराला ?

शक्ति-साधना की इस पहली
सीढी पर चढने को उत्सुक,—
मानव लगा सोचने अपने
पथ की पगडण्डीपर झुक-झुक !

अनल-मन्त्र-साधन करने को
उद्यत है यह मानव बर्बर,
वह मन मे गुनगुना रहा है
धक्-धक् धधको ओ वैश्वानर !

रच दृगो मे अचरज भरके
प्रकृति निहारे इस प्राणी को,
विधि की अवल इस निशानी को,
डग-मग-पग इस अज्ञानी को,

किसी तेज धार इसने भी
पहले आये थे भूतल पर,
पर, किसने सोचा कि करेंगे
वे अधिकार प्रचण्ड अनल पर ?

किन्तु विधाता प्राण जन्तु का
होने पाया धनुर्धर !
और वह रहा है अन्तर में,
इन्द्र [illegible], [illegible], वैश्वानर !!

किसने सोची प्रकृति तत्त्व को
यों अपने वश में करने की ?
किसने माना था अन्तर में
अग्नि-पवन महिमा भरने की ?

यह है इसी मनुज का साहस,
यह तो इसका ही जीवट है !!
अग्नि-वायु के वशीकरण का
तो इस प्राणी का ही हठ है !!

इसने इन कौतुक-यत्नों को
लगा देखने सतत बराबर
और उठी इसकी कण्ठ-ध्वनि
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

यों मानव ने अन्धकार में
ज्योति जगाने की सोची विधि,
मानव निकल चला यों करने
अपनी सीमित सत्ता अपरिधि !

हस्तागुष्ठ, अँगुलियाँ इसकी
कौशल का नव सृजन कर चली,
अथवा जगती के घन, दुदम,
निविड तिमिर का हरण कर चली,

यह मानव ही था कि गुँजाये
जिसने 'कोऽह ? कोऽह' के स्वर
यह मानव ही था जो बोला
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

रिच्छ, व्याघ्र, अजगर नाहर ने
कभी न पूछा 'कोऽह ? कोऽह ?'
मानव है जिसने यो पूछा,
औ' फिर बोला 'सोऽह ! सोऽह !!'

मानव ही के हिय मे जागी
चाह अनलके आराधन की
मानव ही के हिय मे जागी
चाह नग्नता-आच्छादन की !

निखिल सृष्टि जल रही दिगम्बर
मानव ने सोचा पाटम्बर !!
लख तम, मनुज पुकार उठा यो
धधको, धधको, ओ वैश्वानर !

इसने पत्थर मे पत्थर को
लाकर रगड चमकते देखा,
इसने घर्षण से जगल को
जलते और दमकते देखा,

मानव क्या जाने मन में
आग छिपी है क्या पत्थर में ?
क्या पत्थर ही न पाऊँगा
निर्जन-वन अग्नि-शिखा में ?

अपनों में अपनी समझ कर यह
बोला प्रस्तरो, ओ चिन्तन रत !
अन्धकार का भार हुए यह,
दूर हट हटो, ओ पाषाण !

सोचा किसने मुदित-मान,
सुन्दर होगा यह पावन क्षण ?
जिस क्षण मानव के अन्तर से
छिटके होंगे ज्वलित आलोक-कण ?

यह था प्रथम प्रयास मनुज का
विजित प्रकृति के स्ववशी-करण का
यह क्षण था अजेय पग में
नर के सर्वप्रथम विचरण का,

प्रकृति वधू के चीर-हरण का
यह शुभ क्षण था भयहर, मनहर,
यह क्षण था, जब मानव बोला
जागो ! जागो ! ओ वैश्वानर !

पैनी चिनगारियाँ चमक कर,
ऊँची लपटें उठीं लपक कर,
जगने पायी प्रचुर अग्नि निधि
उमड़ी ज्वाल लाल भक-भक कर,

पूण हुई मानव साधक की
तिमिर-विजय-साधना भीति हर,
जन का निशा-विजय यात्रा-पथ
हुआ चमत्कृत औ' प्रशस्ततर !

भय भागा, सन्देह मिट गया,
पथ मे चमकी ज्योति अमाहर,
धक् धक् धधक उठी ज्वालाएँ !
हर-हर हहर उठे वैश्वानर !

तव से अव तक पार कर चुका
यह मानव इतने मन्वन्तर,
अवगुण्ठन-आवरण प्रकृति के
हरण किये इसने अति श्रमकर

वैश्वानर को अपने वश कर
इसने खोजे तत्त्व प्रकृति के
बडी दूर लौ पैठ चुका यह
गहन गभ मे इस ससृति के

पर न अभी तक वुझ पायी है
इसकी शाश्वत टोह-पिपासा
जितना ही गहरा यह पैठा,
उतनी बढी 'और' की आशा ।

अरे, तृप्ति तो है गति बाधक, तो फिर प्यास जगे तो जागे !
सब व्यापिनी प्यास छोडकर, मानव, कहो, किधर को भागे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ सितम्बर १९४३

◻

धरती के पूत

तुम पृथिवी के सुवन, अरे तुम ओ मृत्तिका-प्रसूत निरे,
तुम खेतो खलिहानो के सुत, तुम धरती के पूत निरे,
घास और कडवी-सँग शैशव-काल बिताने वाले, ओ,
तुम हो मक्का, ज्वार, चनो के सग सग सम्भूत निरे।

ओ ग्रामीण आन पहुँचे हो, आज ग्राम की छाया मे
फिर भी नागरता का छिलका लिपट रहा है काया मे।
रँगे स्यार - से तुम जँचते हो इस आडम्बर - हीन गृहे,
बनो प्रकृत नर, रहो न हठ कर कृत्रिमता की माया मे।

यही चरम दारिद्रय, दैन्य मे जीवन उगा और फूला,
यही परिस्थितिया घिर आयी, दुखमूला अति प्रतिकूला,
यही हुआ कुछ कुछ विकसित निज मानस दिङ्मण्डल सारा,
ओ नगर देहाती, तुमने यहीं बहुत सीखा, भूला।

या बीते शैशव के सपने, छिन्न-भिन्न-सी स्मृति शेष रही,
बीती है कौमार्य - काल की सब घड़ियाँ अवशेष यही,
यौवन का आगमन हुआ है इन्हीं द्रुमो की छाया मे,
आज कहाँ हैं वे सब बातें ? रहा न उनका लेश कहीं।

आज साझ को गोधन हेरा, चिर परिचिता पहाडी पे,
खूब चढे तुम गिरते - पड़ते चोटी निरी उघाडी पे
उछली साँस, हृदय-गति धड़की, चरण कँपे, नाना [illegible]
लो, अंतस्तल बढ़ आया है निज नवीन [illegible] [illegible]

इस झुटपुटे समय मे देखो, मन गहरे मे डूब रहा,
अन्यमनस्क - भावना आयी, हिय उलझा-सा ऊब रहा,
खिंचे जा रहे हो जोरो से, तुम पीछे को बरबस - से !
सन्ध्या की श्यामल घडियो मे यह मजाक भी खूब रहा !

क्यो है यह इतना आकर्षण, उन सचित सस्मरणो मे ?
क्यो है मादकता सस्कृति के झकृत चरणाभरणो मे ?
मद है, मोहकता है, रस है और जबदस्ती भी है,
पूरी तानाशाही ही है स्मरण - राज्य - उपकरणो मे।

कौन बताये तुम्हे कि क्यो है मादकता की घडियो मे ?
तनिक कहो मादकता क्यो है करुण गीत की कडियो मे ?
अपनो की सुध करके क्यो यो प्राण टूटने लगते हैं ?
उनकी याद कहा क्यो आती पावस ऋतु की झडियो मे ?

स्मृति - आकपण - तत्त्व - निदशन क्या जाने नवीन ज्ञानी ?
वे तो बस ऐसे क्षण, भर-भर लाते है दृग् मे पानी,
इतना वे अवश्य कहते हैं, जीवन है स्मृति - पुज निरा,
स्मृति मे निज साक्षात्कार ही अनुभव करते है प्राणी।

आत्म - रूप - दशन मे सुख है, मृदु आकर्पण लीला है,
और विगत जीवन सस्मृति भी स्वात्म - प्रदशन - शीला है,
दपण मे निज बिम्ब देखकर यदि हम सब खिंच जाते हैं,
तो फिर सस्मृति तो स्वभावत नर-हिय-दृपण शीला है।

वह आयी, देखो आयी है वह तन्त्री सस्मृति रानी —
गत जीवन - घटनाओ के मदु नूपुर पहने कल्याणी,
वन-शृगाल, मत शोर मचा, तू सुनने दे झकार अरे,
गेह प्रवासी, गेह विनाशी उत्सुक हैं नवीन ज्ञानी, —

ठहर, अरी ओ वर्तमान की नव-सन्देश-पवन दूती,–
यो दहाडती सी मत बह तू, कर न शोर हा हा-हूति,
सस्मृति के नूपुर की झन-खन अन्तरिक्ष मे गूँज रही
तू सन सन करती न डोल री, दोनो श्रवणो को छूती !

एक-एक घटना जीवन की, याद आ रही रह रह के
इन्ही ग्राम गलियो मे, मौजी, तुम कितने भटके, बहके !
नव विकास की प्रथम वेदना यही हुई अनुभूत तुम्हे,
यही तुम्हारे भाव-विहगम पहले-पहल जरा चहके

वह नगे पैरो नित रहना, वह नि साधनता सारी,
अपर्याप्त वे वस्त्र तुम्हारे वह दारिद्रय कष्टकारी,
ये तो बचपन के साथी है, अब तक साथ निभाते है,
अति दारिद्रय-दैन्य-पीडा के तुम हो शूल-मुकुट-धारी ।

तुम गुदडी के लाल ? नही, पर हो गुदडो के बाल सखे,
उस दरिद्रतामे दुख पाके तुम हो गये निहाल सखे,
दुख पाया, अरमान मर मिटे, बहुत सहा, भोगा इतना !
पर इस सकरुण हिय को पाकर तुम हो माला माल सखे ।

■

आये नूपुर के स्वर झन-झन

आये नूपुर के स्वन झन झन,
खिच गये प्राण भर गये श्रवण,
आये नूपुर के स्वन झन झन !

हो उठा तरंगित सुख-समीर,
काँपा अम्बर का वक्ष धीर,
आयी श्रवणों मे उत्कण्ठा
जग गयी जगत् की विसुध पीर
जब ध्वनि आयी रुन झुनन-झुनन, जब गूँजा मादक नूपुर स

भग गया दिशाओ मे सपना !
जग भूला अह् भाव अपना !
मृण्मय भी बना परम तन्मय !
झकृति-गुजार - वितान तना !
स्वर भर लहराया मलय पवन ! आये नूपुर के स्वन झन झ

कोऽहं की तान पुरानी मम,
अब तक थी अनुत्तरित विभ्रम,
पर अब नूपुर-गुजारो मे !
मिल गया समुद सोऽहं का सम !
हमने पाया कुछ आश्वासन, आये नूपुर के स्वन झन झ

हिय का यह हा-हा कार निरा,–
जिससे यह जीवन आज घिरा,–
क्या अब न शान्त, उपरमित बने ?
मन अब क्यो डोले फिरा-फिरा ?
जब मान पडी यह ध्वनि नूतन, आये नूपुर के स्वन झन-झ

सब पूछे है झन-झन क्या है ?
जग पूछे है यह स्वन क्या है ?
हम शब्द-मूढ क्या बतलायें ?
प्रिय का यह चपल गमन क्या है ?
हो सकता है यह अल्हडपन, आये नूपुर के स्वन झन झ

झन झन–श्रवणागत अनिल-लहर,
झन-झन–यह अनहद-नाद गहर,
झन झन–ये ध्वनि-सुरधुनी भँवर,
झन झन झन–अमर प्रणय अक्षर,
झन झन झन गूँजा हिय आँगन, आये नूपुर के स्वन झन-झन।

ध्वनि धाराएँ रिम-झिम वरसी,
दश दिशि गुंजारमयी सरसी,
ध्वनि सुनी, किन्तु झाँकी न मिली
प्यासी दृग कनिकाएँ तरसी,
वे अलख, अलख उनके सुचरण, आये नूपुर के स्वन झन झन।

दाये - वायें आगे - पीछे, –
वाहर - भीतर, ऊपर - नीचे, –
सब ओर सुनी गुंजार वही,
ध्वनि ने जल-थल अम्बर सींचे,
अनमने प्राण, मन नाद-मगन, आये नूपुर के स्वन झन झन।

आये अग को करते जग वे
अपगा को देते गति-पग वे,
चचलता का परला पकडे,–
आये धीमे धरते डग वे,
हुलसा सिरजन, गूँजा कण-कण, आये नूपुर के स्वन झन झन।

धरती नाची, नाचा अम्वर,
तारक-माला नाची सत्वर,
ता-थइ, ता-थइ कर नाच उठे,
अनगिनत सौर-मण्डल थर-थर,
उनने जब किया चरण नतन, आये नूपुर के स्वन झन झन।

कुछ धुआ और कुछ द्रव्य-तरल,
उसमें भर गति का चपल-गरल,–
रच डाला यह सिरजन-प्रपच,
गो वे बनते हैं बहुत सरल !
गूँजा नितान्त निस्तब्ध - गगन, आये नूपुर के स्वर झन - झन !

था मौन किसी क्षण यह प्रपच,
आभास नाद का था न रच,
पर किसने मुखरित कर डाला,–
निस्तब्ध सृष्टि का रग - मच ?
है अनु गुजित किंकिणि शिंजन, ये हैं नूपुर के स्वन झन - झन !

उल्लास भरे, उन्माद भरे,–
मद भरे और अवसाद भरे,–
हम आज पूछते हैं उनसे,–
कोई किस तरह विवाद करे,
जब नूपुर बोलें झनन झनन, हो उठे प्राण मन, जब उन्मन ?

देखा टटोल हमने अन्तर,
खोजा हमने बाहर - भीतर,
यूँ ही टटोलते बीते हैं,
ना जाने कितने मन्वन्तर,
पर मिटी न मन की यह तडपन, हम खोज रहे हैं नूपुर-स्वन ।

युग-युग पहले,जिस दिन जिसक्षण,
पाये हमने सुकुमार – श्रवण,
उस दिन, उस क्षण ही से हम तो,
सुनते आये हैं, यह गुजन,
पर मिले न पिय के पदाभरण, यद्यपि सुनते हैं स्वन झन झन !

परदा ही है मजूर अगर, –
करना ही है दिल-चूर अगर, –
तो छिपे रहो नूपुर वाले,
भटकाओ हमको डगर-डगर ।
तुम लुक-छिप बैठ रहो बन-ठन, ठुनकाओ नूपुर स्वर झन-झन ।

अपनी हस्ती ही आज बनी,
परदे की यह दीवार घनी,
पर, इस हस्ती ही से हमने,
पायी यह श्रवण शक्ति इतनी,
हो हम मुबारक अपनापन, जो श्रवण कर सके नूपुर स्वन ।

तुम 'और' और हम 'और' रहे,
तुम उस दिशि, हम इस ओर रहे,
तुम छुप छुमकाओ नूपुर, हम,–
श्रोताओ मे सिर-मौर रहे ।
ध्वनि ही कर लेगे आलिगन, तुम आने दो नूपुर के स्वन ।

कैसे होगे वे आभूषण ?
कैसे होगे वे पदाभरण ?
हम आज सोचते हैं मन मे, –
कैसे होगे वे हृदय हरण
जिनसे ध्वनि-भरित-गगन प्रागण, जिनकी ध्वनि आती है खन खन।

निशिपतिकी रजताभा लेकर,
उसमे घन द्रव्य-भाव भर-भर,
कौशल ने स्वय गढे हैं वे, –
ब्रह्माण्डाकृति नूपुर हिय - हर,
जो देते हैं जग को जीवन, है ध्वनि जिनकी त्रय-ताप-हरण ।

उन आभरणो मे गुँथी पडी,
दिन-मणि किरणो की रजत-लडी,
जो चरणागुलियो मे उलझी –
झिलमिल होती है घडी - घडी !
ज्यो ही कुछ डोले चार चरण, आयी नूपुर की ध्वनि झन-झन !

सातो स्वर, मुक्ता-कण बन बन,
भर गये नूपुरो मे तत्क्षण,
नूपुर, नूपुर तो रहे, किन्तु,
वे हुए परम सगीत - मदन,
हो चला सप्त-स्वर का मन्थन, जब आये नूपुर स्वर झन यन !

रवि - शशि की चादी के नूपुर–
दिशि-दिशि गुजित है मधुर मधुर,
मुखरित ससृति की गली - गली,
गुजरित हमारा अन्त पुर,
हम सतत मगन, सुन नाद गहन आये नूपुर के स्वन झन झन !

ध्वनि सुनी कान, स्मृति जाग उठी,
मानो विराग को त्याग उठी,
जैसे कुछ सहसा याद पडा,
स्मृति ले नव-नव अनुराग उठी।
टूटे मानो माया बन्धन, जब आये नूपुर स्वन झन - झन !

सदियो की वय। गिनती वा' पे –
मन्वन्तर खडे जहा कापें !
ध्वनि सुन, जब स्मृति जागे अतीत,
तब शतसंवत्सर क्या नापें ?
होते युगान्त के सुमस्मरण, जब आते है नूपुर के स्वन !

सोयी-सी प्रीति पुरानी वह –
विस्मृत, अतीत नादानी यह –
छिन भर मे ही उठ आती है –
करती हिय पानी-पानी वह,
ध्वनि है कि कान का विगति कलन? आये नूपुर के स्वन झन-झन।

ये स्वर अनादि, ये स्वर अनन्त,
यह कल निनाद निर्झर अनन्त,
यह देश काल सीमान्त हीन,
गुंजन मन - हरण अनाद्यवन्त।
करते निकाल गति का खण्डन, आये नूपुर के स्वन झन झन।

अपने प्रिय के ये पदाभरण,–
अपने प्रिय के सुकुमार चरण,–
अपने प्रिय की अटपटी चाल,–
उनका यह मादक अभिव्यजन,–
है इन श्रवणो का वशीकरण, – आये नूपुर के स्वन झन-झन!

अंतस्तल मे इक हूक उठी,
पद रति यह अवश अचूक लुटी।
दर्शन उत्सुकता उमड पडी,
निर्निमिष बन गयी नयन पुटी।
गूँजे नूपुर के स्वन जिस क्षण, जब आयी नूतन झन, झन, झन।

वे चिर नवीन, वे चिर नूतन,
वे सतत सनातन, सुपुरातन,–
न जाने कितने युग से वे,–
करते आये है मन-मन्थन।
है कितना शेष हृदय-घषण, कब तक आवेंगे स्वन झन-झन?

कब तक ? जब तक हम अलग-अलग,
अपने पिय से हैं विलग विलग,
तब तक, जब तक ध्रुव गतिविहीन–
हैं चरण, शिथिल डगमग डगमग
जब तक न करे पिय हमें वरण तब तक आवेंगे स्वन झन-झन।

जब सप्तपदी पूरी होगी,
जब लुप्त द्वैत दूरी होगी,
जब पिय गलबहियाँ डालेंगे
जब उनकी मजूरी होगी
तब हम बन उनके नूपुर स्वन, गूँजेंगे झन-झन झनन झनन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मार्च १९३०

यह है द्वापर, यह है द्वापर

यह है द्वापर, यह है द्वापर,
कलियुग इसे कौन कहता है ? यह है दुश्चिन्ताओं का घर।
यह है द्वापर, यह है द्वापर।

यहाँ गरजते हैं संशयगण, मुखरित हैं सन्देह भयंकर,
विचिकित्सा ठग रही हृदय को, हुई जन गणों की मति संकर,
लुटी अटल विश्राम-सम्पदा, छूटा निःश्रेयस पथ-शंकर,
चंचल प्रश्नावलियाँ उभरी करने ध्रुव का सतत निरादर,
यह है द्वापर, यह है द्वापर।

प्रज्ञा प्रमथित, चलित चेतना, बुद्धि चकित, मति भ्रमित निरन्तर,
मन कम्पनमय उन्मत-उन्मन, शका क्रान्त सकल वहिरन्तर,
ऐसे क्षण कलियुग द्वापर म किमि कोई बतलाये अन्तर ?
दुविधाओ की यह अनीनिका चढ आयी है शग्व-नाद कर !
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

तुम छेत्ता भव-भय सशय के, पाथ सारथी तुम करुणाकर,
धीर चरण धरते, तम हरते, क्यो न पधारो आज कृपा कर ?
देखो तो वहिरग विकल है, सन्देहाकुल है अन्तरतर,
ऊपा को सुहाग देते तुम आ जाओ, ओ जग के तमहर,
यह है द्वापर, यह है द्वापर,

ग्वाल, बाल, गोपी गायो को कोई कही ले गया है हर,
गोकुल उजडा, लुप्त हो चुका गुल्म लताओ का भी ममर !
थका-थका सा आज लग रहा कालिन्दी का गहर घहर-स्वर।
आ देखो तो वृन्दावनकी दशा आज तुम, ओ नटनागर,
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

आओ, नेक बजाओ मुरली, फूँको पाचजन्य फिर स्वर भर,
फिर जागृति का नाद गुँजा दो, काँप उठे चेतनता थर-थर,
फिर से श्रवणो मे नित गूँजे तव मुरली, तव शख मोहहर,
सिरजो नये ग्वाल, नव गोपी, नव गोकुल, नव भारत प्रियवर,
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ अगस्त १९४३

है निज वश तन, पूर्ण स्ववश मन !

यह परवश तन, यह परवश मन,
इस पिंजर, इस बन्धन मे फँस पछी तडप रहा है क्षण क्षण,
यह परवश तन, यह परवश मन।

वह 'पर' कौन कि जिसके वश हैं जीवन के सब क्रम अनूठे ?
वह 'पर' कौन, किये हैं जिसने जन के सभी कर्म फल जूठे।
अरे कौन वह जिसके कारण हम अपनेपन ही से रूठे,
वह 'पर' कौन लगाया जिसने जीवन मे यह दव, यह इंधन ?
यह परवश तन, यह परवश मन।

बोले सभी तत्त्वदर्शीगण कि यह सभी है इन्द्रिय पीडा,
कुछ बोले, यह तो है केवल मन-मातग मत्त की क्रीडा।
यदि यह है तो कहो क्यो बनी इनकी क्रीडा जन की व्रीडा ?
मन, इन्द्रिय के बीच फँसा है क्यो यह द्विपद बिचारा लघु जन ?
यह परवश तन, यह परवश मन,

क्षण-भर मे ही हो जाते हैं क्षार-क्षार दृढ निश्चय सारे,
इक आँधी सी जब उठती है, उडते हैं तिनके बेचारे,
जाने क्यो फिरने लगते हैं सकल मनोरथ मारे-मारे।
और, पूछ उठता है मानव यह क्या क्रम ? यह कैसा नतन ?
यह परवश तन, यह परवश मन ?

कई बरस-गाँठें जीवन की डोरी मे लग चुकी अभी तक,
बीत चली बरसो पर बरसे, भेज चुका आवाहन अन्तक,
कुछ उतार आ चला नशे का, तन भी चला रच कुछ कुछ थक
किन्तु आज तक भी होती ही रहती है जीवन मे झन-झन।
यह परवश तन, यह परवश मन।

यह कैसी दुविधा जीवन मे ? यह कैसा सकेत भयानक ?
नर को नारायण करने का क्या है यही अनोखा बानक ?
या नारायणता भ्रम ही है ? होता यह सन्देह अचानक,
मन - इन्द्रिय के बीच फँसा यह नर कैसे होगा नारायण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

मन औ' इन्द्रियगण तो जड हैं, उनमे चेतनता कब झाकी ?
वे तब चले जब कि जीवन ने उनमे स्फुरण शक्ति निज आँकी !
पर, अब आकर खडी हो गयी मम्मुख एक पहेली बाँकी
क्या, जन का जीवन है केवल मन इन्द्रिय का सतत तुमुल रण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

यह जीवन ही है जो अह-निशि, गिर-गिरकर फिर-फिर बढता है,
यह जीवन ही है जो सन्तत नीचे से ऊपर चढता है,
यह जीवन है जो कि हारकर फिर उठता है, फिर लडता है
मिट्टी मे मिलकर भी ऊपर उठने की करता है कम्पन,
यदपि विवश है जन-गण तन-मन !

इन्द्रिय नही, स्वय जीवन ही अपनी खीच तान करता है,
मन की क्या बिसात ? जीवन ही गिरकर फिर उडान भरता है,
स्वय इन्द्रियो मे फसता है, उनका सतत ध्यान धरता है,
हो आकण्ठ निमग्न पक मे वही स्वय करता है क्रन्दन,
यह परवश तन, यह परवश मन !

सयम हो न सके तब भी हम क्यो समझें कि व्यर्थ है नियमन ?
आत्म दमन ही से पाया है नर ने पूर्ण महा मानव मन !
जन गण की सभ्यता सम्पदा सयम का ही है शुभ लक्षण,
तब क्यो हो नैराश्य हृदय मे ? गिर गिरकर भी क्यो न कह जन
है निज वश तन ! पूर्ण स्ववश मन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ सितम्बर १९४३

■

विनिपात

अरे दिव्य आदर्श, आज है
निपट अँधेरी मेरी धरती,
कम प्रेरणा बढा रही है
निज कम्पित पग डरती-डरती,
किधर बढे ? किस दिशि वह जावे ?
दिशा-ज्ञान सब सुप्त हुआ है,
कर्म - पन्थ का रेखाङ्कन भी
इस घन-तम मे लुप्त हुआ है,
मानव का रवि अस्त हुआ है
जग सब सकट-ग्रस्त हुआ है,
चित्-नभ अस्त-व्यस्त हुआ है,
मम मानव सन्त्रस्त हुआ है।

सदियो का अज्ञान भयकर,
यहा आज खुल खेल रहा है,
एक नाशकारी प्रमाद यह,
जन समाज मे फैल रहा है,
शतमुख पतन ढकेल रहा है
मानव को पाताल अतल मे,
चला जा रहा है द्रुत गति से
मानव नीचे को पल-पल मे,
ऊर्ध्व पाद, विभ्रान्त, अधोशिर
परवश, विकल, अधोदिशिगामी,
स्थान-भ्रष्ट हो चला अतल को
निपट जन्तु यह मानव नामी।

सत्य लोक मे सदा प्रतिष्ठित
है इस मानव का सिहासन,
पर, अब यो लगता है मानो
रिक्त पडा है वह उच्चासन,
मानो अपने ही से उसने
किया वहाँ से निज निष्कासन,
अपने ही से, मानो, त्यागा
इसने अपना वह सत् शासन।
अब निरखो इस पतित, अधोमुख
मानव को यो नीचे जाते
देखो तो इस स्ववश विवश को
बरबस नीचे खीचे जाते।

आज सप्त पातालो का मन
कर्षण इसको खीच रहा है,
नीचे गिरता हुआ मनुज यह
खोल-खोल दृग मीच रहा है,
सत्यलोक से हुआ भ्रष्ट यह,
सन-सन करता नीचे आया,
तप, जन औ' मह, स्व, भुव
से गिरकर भू पर टकराया।
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल
औ' पाताल लोक लौ गिरता
जा पहुँचा यह मानव विह्वल।

ऊपर, जहाँ सभी सेवक थे
चन्द्र, सूय, तारागण, इसके,–
पूछ रहे है, कि ये महाशय
ऊपर से नीचे क्यो खिसके ?
बोल, मनुज, तू ही दे उत्तर,
क्यो आयी वह घडी पतन की ?
अरे, समस्या यह तू सुलझा,
खोल गाठ तू अपने मन की !
ऊपर से नीचे क्यो आया ?
कितना और गिरेगा नीचे ?
चौदह भुवनो के कण - कण मे
तूने क्यो निज श्रम-कण सीचे ?

इस नभ - गगा के भी ऊपर,
उन तारक वृन्दो के ऊपर,
देश काल के परे, अरे, था
वह सत् चित्-सुन्दर तेरा घर !!
जब तू गिरा वहाँ से नीचे
करता सन-सन-सन सन-सन सन,
तब अचरज से लगे निरखने
तुझको ये असख्य तारागण !
अरे, कभी था तव चरणो के
नीचे यह दिक्-काल-कमण्डल !!
यह ब्रह्माण्ड विमग महत्तम,
यह अनन्त-सा सकल खमण्डल !!

तू गिरा कि तव पतन वेग से
ये दिक्-काल झुके बरबस से,
तू गिरा कि ब्रह्माण्ड सभी ये
सहसा नाच उठे परवश से,
तू क्या गिरा कि देश-काल की
गूँज उठी सिरजन शहनाई,
तू क्या गिरा कि रस विसृष्टि मे
एक अजब रंगीनी आयी,
मानो, मनुज-पतन ही से इस
सिरजन का यह फूल खिला है,
मानो, उसी पतन क्षण से ही
सकल सृजन का सूत्र हिला है।

सत्य लोक से गिरा शून्य मे
यह मानव विभ्रान्त, क्षुब्ध मन,
ऐसे सूने मे कि जहाँ पर
फैला है दुर्दान्त तिमिर घन,
सर-सर करता यह नीचे ही
गिरता गया तिमिर मे क्षण क्षण,
गिरता रहा अयुत कल्पो तक,
किन्तु न मिला एक ज्योतिष्कण,
फैली थी शून्यता सभी दिशि,
दायें - बायें, नीचे - ऊपर
अन्तहीन-सा फैल रहा था
उस नभ मे तम-तोम भयकर

यो यह सत्य-लोक से गिर कर
तपर्लोक मे आ
जहाँ प्रदीप्त वाष्प पिण्डो की
इसने देखी जग
एक-एक उस वाष्प पिण्ड मे
कोटि कोटि थे सूय
ऐसे कोटि-कोटि पिण्डो की
फैल रही थी विभा
जहा अव सर्वों की गणना
रह जाती है सकुच-सकु
ऐसे तपर्लोक से भी तो
गिरता गया मनुज यह स

कोटि युगो तक गिरते-गिरते
मनुज निरखता रहा दिवाल
शत-शत लक्ष वाष्प-पिण्डा की
उसने देखी ज्योति निराली,
मानव गिरता था नीचे को,
वाष्प-पिण्ड उठते थे ऊपर,
उसके दाय बाये वे सब,
ऊँचे को जाते ये सर सर ।
और गिरा जब, तब आ पहुँचा,
कुछ झुटपुटे अँधेरे म वह,
मानो, तपर्लोक म ज्योतित
काट कँगूरे सभी गये ढह ।

और गिरा, तब वह आ पहुँचा,
जनर्लोक के गगनागन मे,
कोटि - रश्मि - वत्सर - महदन्तर
फैल रहा है जिस प्रागण मे।
जहाँ विचरते हैं वे रवि जो,
हैं शत सूर्यो से भी गुरुतर,
जिनकी आभा फैल रही है,
उस अम्बर मे छहर-छहर कर,
इस अम्बर मे भूत-द्रव्य सब,
व्यष्टि रूप बनकर आया है,
इसीलिए विस्तार अमित यह,
जनर्लोक ही कहलाया है।

दूर-दूर, हाँ दूर-दूर अति,
लक्ष-लक्ष रवि नाच रहे हैं,
क्या जाने किसके कहने से,
ये नट-कछनी काछ रहे है,
इनकी लीला लखता-लखता,
मानव होता रहा पतित नित,
ये लीलाएँ मनुज बिचारा,
समझ न सका रच भी समुचित,
जनर्लोक से गिरकर मानव,
महर्लोक मे अटका आकर,
मानो उसके कृति-विपाक ने,
उसे वहा पर पटका लाकर।

अतुलित आभा महर्लोक की,
अर्व खर्व रविगण के दो दल,
जहाँ अश्व मम खीच रहे है,
मानो किसी सुरथ को पल-पल,
उस स्यन्दन का अलख सारथी ।
देखो कौन ? कौन पहचाने ?
एक धुरी मे जुते हयो की,
महिमा कोई कैसे जाने ?
कोटि कोटि सूर्यो का मिलकर,
एक-एक रथ-अश्व बना है ।
रथ-चालक का पता नही है
अजब ठाठ उसका अपना है ॥

मानव ने देखी द्रुत गति युत,
इन अश्वो की ऊर्ध्व-गमन रति,
मानव ने निज गति अवलोकी,
देखी अपनी अध पतन-मति ।
रग - बिरगी आभावाले,
चढते देखे उसने रवि - गण,
दो समूह मे, ये समगति हय,
उसने बढते देखे क्षण क्षण,
दोनो धुरी सज्ज अश्वो के,
अभ्यन्तर - अवकाश - गगन से,
खिचता गया निम्न दिशि मानव,
किसी अनोखे आकर्षण से ।

महर्लोक भी ऊपर छटा,,
फिर शून्यता तमोमय आयी,
ऐसा तम था वहाँ कि जिसमे
कही-कही थी ज्योति दिखाई,
धूप छाँह मे यो यह मानव
नीचे गिरा कई कल्पो तक,
तब उसने स्वर्लोक - छटाएँ,
ऊपर आती देखी अपलक,
विह्वल-सा, आतुर-सा, मानव,
आन गिरा स्वर्लोक - भुवन मे,
जहाँ तरगवती स्वर्गगा
लहर रही थी नील गगन मे।

महाकाश गगा बहती है,
जहाँ दीप्त हैं अगणित तारे,
वे तारे, जिनकी समता मे,
सहस-सहस रविगण भी हारे,
जहा एक थल से दूजे तक
ज्योति पहुँचती मन्वन्तर मे,
ज्योति वही कि सहस्रो योजन
जिसकी गति है इक पल भर मे,
स्वर्गगा की उच्छल लहरें
जहाँ धूलि करती हैं सिंचित,
ऐसे विशद लोक मे भी यह
मानव थिर न रह सका किंचित्।

गिरा वहाँ से भी वह मानव,
भुवर्लोक मे आ टकराया,
वहाँ सूर्य के विविध ग्रहो मे
विचर-विचर वह अति अकुलाया,
मगल, वुध, शनि सब मे भटका,
चन्द्रलोक मे आया गिरकर,
किन्तु न मिली एक क्षण को भी
उनको मन-प्रसन्नता तिल भर,
गिरकर तब, भूलोक-भवन मे
आ अटका यह मानव प्राणी,
तब उसको यो लगा कि मानो,
उसे मिली शुभ गति कल्याणी।

लेकिन इस धरती पर भी तो
हुए अमित अविचार मनुज के,
होते रहे कुकर्म यहाँ पर
युग-युग लौ इस द्विपद, द्वि-भुज के,
धरा धसककर आज चली है
बरबस-सी पाताल अतल मे,
सत्यलोक से भ्रष्ट मनुज ही
धँसा रहा है भू पल पल मे,
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल,
औ' पाताल, सभी का मिरजन
यहाँ कर रहा है यह पागल।

अरे दिव्य आदर्श, हो रहे
अन्धे-से मेरे सब जग जन,
स्वय बुझाकर अपने दीपक,
स्वय बुला लाये है तम घन,
एक पात मेरे मनुजो की,
आज विभक्त हुई है शतधा,
इस धरती पर मँडराती है
तेरे-मेरे की यह विपदा,
आज देखता हूँ कि मनुज ये
अपनी इस माता धरणी को-
काट रहे है, औ' कहते है
बाटेगे हम इस अवनी को।

देख रहा हूँ कि ये मनुज मम
सहसा भूले है अपने को,
विचर रहे है नयनो मे भर
भेद-भावना के सपने को,
सदियो के ये पाड-पडोसी,
सदियो के ये मीत-सँगाती,
ये अपने ही रक्त-मास सब
ये देहाती, ये शहराती-
बोल उठे इनमे से कुछ यो
एक कहा ? हम अलग-अलग है।
क्योकि हमारे और तुम्हारे
सन्तत भिन्न-भिन्न मारग है।।

यो लगता है मानो अपनी
यह वसुधा हो गयी
इक दूजे को भूल गये है
मानो दोनो भाई-
इस धरती के दोनो बेटे
भूले अपनी धरती-म
ये अब भूले हैं कि इन्होंने
सँग सँग इसको मिट्टी खाये
कितना दूध मिला है इनको
इस वृद्धा हिम गिरि-माता से,
कितना प्यार, दुलार, मिला है
इनको इस धरती माता से ॥

हुआ आज सद्भाव तिरोहित,
मुखरित भेद-भावना जागी,
अध पतित होकर के सहसा
मानव ने मानवता त्यागी,
क्या न आज आशाएँ मेरी
जलकर क्षार क्षार हो जाये ?
क्यो न आज भावी के सपने
मेरे हृदय भार हो आयें ?
मेरे हिय म आज निराशा,
नागिन बन फुकार रही है ।
मम गति पथ म अगति सिंहनी
मँडराती हुंकार रही है ॥

दशो दिशाएँ घन तम मय हैं,
अँधियारा है मम अम्बर म –
बुझे-बुझे लगते हैं दीपक,
अन्धकार है जन-अन्तर मे,
आज अँधेरे ने बढ-चढ कर
मुक्ति माग आक्रान्त किया है,
उठ-उठ शत शत सन्देहो ने
जन-गण-मन उद्भ्रान्त किया है,
आज स्वतन्त्र भावना जन की
रुद्ध हुई, हत बुद्धि हुई है,
निरलस कर्म-प्रेरणा मानो
सहमा आज अशुद्ध हुई है।

किन्तु मिला है शुद्ध ज्ञान का
जो वरदान मनुज जीवन मे,
उसका है आदेश। न आये
आशका यात्री के मन मे,
मानव पतित हुआ है यदि तो,
निज वैभव प्रकटाने को ही,
आज खो गया है मानव यदि,
तो वह निज को पाने को ही॥
इस उद्भ्रान्त मनुज मे अब भी
सत्य-धारणा की क्षमता है,
तम मे है यह, किन्तु हृदय मे
इसके चिर प्रकाश गमता है।

तुम मत बुझने दो निज दीपक,
यह दुदम तम - तोम हटेगा,
मत निराश हो, ओ जन मेरे,
यह आवृत घन पुज फटेगा!
मत होने दो निज पग डग-मग
यदपि थकित हो नस-नस, रग रग,
सन्तत गतिमय है जब सब जग,
तब तुम क्यो छोडो अपना मग!
कम्पित कर से दीप सँभालो,
मत निरखो निज पग के छाले!
हारी थकी अस्थियाँ लेकर,
बढते जाओ, ओ धुनवाले!!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१९ मार्च १९४४

■

अर्द्धनारी नट

नर-तन धरके भी पाया है तुमने नारी हृदय, सखे!
क्यो इतने सकरुण, कोमल हो, क्यो हो इतने सदय, सखे?
इस चौडी वलिष्ठ छाती मे छुपा रखा है ऐसा हिय!
अरे, तनिक तो पत्थर होते, होते तुम कुछ अदय, सखे!

इसी तुम्हारी छलक ललकती वत्सलता दीवानी ने,-
इसी इतर-दुख-कातरता ने, इस विगलित नादानी ने,-
हाट-बाट मे, गली गली म, तुम्हे खूब बदनाम किया,
क्या ही अजब तुम्हे समझा है इस जग जड विज्ञानी ने।

भ्रान्त धारणा भरी हुई है जग-जीवन की थाली में,
यही स्पष्ट दर्शन होते हैं लौकिकता-अँधियाली में ?
यों करुणा भरना आँखों में यहाँ मना है, ओ भोले,
हृदय-कचोटन भी वर्जित है लोकाचार-प्रणाली में।

नारी हियवाले ओ तुम नर, कुछ नर-पशु का रूप धरो,
अपने वत्सल, कोमल, विगलित, मृदुल, हृदय से रंच डरो,
इस गणितज्ञ जगत् में तो नित एक+एक दो होते हैं,
यहाँ भूल से भी, सुविभाजित दो को एक कभी न करो।

पर तुम लौकिक उपचारों के बन्धन में कब बँधे रहे ?
तुम तो सदा, सदा अपनी ही अचल धुरी पर सधे रहे,
आज तुम्हारे नारी-हिय को जगत् चुनौती देता है,
देखें तुम कैसे सहते हो वचन बाण वे बिना कहे।

याँ चर्चा है, सखे, तुम्हारे कोमल प्रबल असयम का,
याँ चर्चा है आज तुम्हारे मस्ताने से अनियम का,
अति वैराग-जोग के साधक, जगत् उजागर तुम कब थे ?
जग तो परिचय देता ही है अपने हिय के सम्भ्रम का।

तनिक स्नेह से गद्गद होना, तनिक बलाएँ ले लेना,
तनिक किसी के अश्रु पोंछना, तनिक सहारा दे देना,—
ये बातें जग की आँखों में मतलब भरी कहाती है,
उफ् ! जग के पडाव में है याँ किनकी मति विभ्रम सेना !

मतलब ? हाँ, तुम नर के नारी हिय में भी तो है मतलब,
बिना नेह निर्वाह तुम्हारे जी में कल परती है कब ?
अपनी तडपन कम करने को, सखे, ललकते फिरते हो,
इसी लिए क्या जग कहता है, कि तुम मतलबी ही बेढब ?

पर , पर यह जग तो अन्धा है, नही देखता भेद जरा,
नही देख पाता यह नर के नारी हिय का खेद जरा,
शुद्ध तत्त्व दर्शन का जग मे रच मात्र सामर्थ्य नही,
इसी लिए तो नही पा सका जग अब तक निर्वेद ज़रा

वह नर तो वानर है जिसमे नारीपन का अश नही
वह है उपल, नही हिय, जिसमे सह-अनुभव का दश नही,
पर-विपदा मे यदि ये लोचन छलक छलक भर आये ना,
तो फिर समझो कि बस हो चुका मनुष्यत्व का भ्रश यही

सखे, नरोत्तम है वह जिसमे नर-नारी का हो मिश्रण,
जिसको सर्व भूत हित-रति मे हो नारी हिय का कम्पन,
जिसकी आँखो मे जग देखे, माता की छवि का अकन,
ऐसे ही नरवर भरते है जग का सूवित वेदना व्रण

विकसित पूर्ण पुरुष वह, जिसमे हो नारीपन की झाई,
जो जग-जन की हृदय-वेदना समझे नारी की नाई,
प्रति विकसित नर मे झलके है नारीपन का अश सदा,
उसी तरह ज्यो विभु मे विम्बित प्रकृति-वधू की परछाई

नर मे नारी का न चिह्न तो मानव प्रेम-धर्म क्या है ?
यदि नारीपन हो न पुरुष मे तो नर को नर क्यो चाहे ?
मानवता के इस विकास की यह भी एक पहेली है,
मिश्रित एक व्यक्ति मे होते नारी-नर गाहे गाहे।

नर-नारी दोनो मे दोनो झलक उठें जब बरबस-से,
तभी समझिए कि यह हुआ है हृदय प्रपूर्ण एक रस से,
नर नारी हो, नारी नर हो, यही सुगति है जीवन की,
तभी विश्व वेदना भाव से हृदय खिंचेंगे पर-वश से।

है अवश्य ही नर - नारी के भिन्न रूप का भेद यहाँ,
पर, अक्षर, अव्यक्त आदि मे नर - नारी का भेद कहाँ ?
आदि अन्त तो भेद-रहित है, केवल मध्य भेद मय है।
इसी लिए है मध्य-काल मे, भेद - खेद का स्वेद यहा।

सखे, सुनो, श्री नारायण है स्वय अर्द्धनारी नटराज,
और अर्द्धनर नटेश्वरी है परा प्रकृति इस जग मे आज,
भेद - खेद के गहन स्वेद के परे पहुँचना है सबको,
जिस छिन यह होवेगा उस छिन होगा जीवन्मुक्त समाज।

यदि तुम प्रतिबिम्बित करते हो नारी-हिय की कसक, सखे,
अगर तुम्हे तडपा देती है निराश्रिता की सिसक, सखे,
तो तुम तडपो और बढाओ अपने वत्सल हस्त, सखे,
जग, जग को तुम दिखलाने दो नीति-धरम की उसक, सखे,

अपने हाथ बढाकर, जिस छिन, उत्सुक प्रीति लजाती-सी,
दृग् मे भर, आत्मार्पण निधिया, ललक-भरी, अलसाती-सी,
जब आ जावे, अहो तुम्हारे सम्मुख प्यार-पगी सी यो—
तब क्या न्यौछावर न करोगे निज हिय निधि अकुलाती सी ?

यह प्रवास-आयास

थकित गात, सश्लथ चरण, हिय, मन, प्राण उदास,
अब न नेक नीको लगै, यह प्रवास - आयास।

अब तौ यो कछु लगत है, बैठि रहिय वा ठौर,
जहँ लखि पिय कौ, नेह - घन, नाचि उठै मन मोर।

रिम - झिम बरसै नेह - घन, नाचै मत्त मयूर,
ऐसी रहनी रहहु मन, रहहु न पिय तै दूर।

छाँडहु देस - विदेस कौ यह पर्यटन असार,
बैठहु पिय के चरण गहि, करहु सुलोचन चार।

विचरहु पिय की डगरिया, बसहु पिया के गाँव,
पिय की ड्योढ़ी बैठि कै, रटहु पिया कौ नाँव।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ दिसम्बर १९४३

■

प्राप्ति

मन होता है, प्रियतमे, मदु तलवो मे आज,—
नैन ललक्ते दूँ बिछा, जब तुम चलो स-लाज।

मम गतिमय अस्तित्व को तुम स्थिरता हो प्राण,
वर दो, अरुझे चपलता तव पद मे अनजान।

मत निरखो मुझको भरे नत नयनो मे नीर,
हहरा उठता है हृदय देख रावरी पीर।

पाकर जीवन मे तुम्हे धन्य हुए मम भाग,
शाश्वत रहो अखण्ड नित मेरे मधुर सुहाग।

नित्य ढूँढता मै फिरा निज प्रियतम सायास,
इतने दिन उपरान्त अब मिटी पास की प्यास।

क्या तुम यो ही आ गये अनायास हिय बीच ?
युग - युग से हूँ मै रहा कर्म - बेल यह सीच।

औचित्यानौचित्य का सशय है बलवान्,
पर, प्रिय की उपलब्धि तो है औचित्य महान्।

मै न करूँगा आज प्रिय, पाप - पुण्य का भाव,
सशय मे होगा, कहो, कैसे नेह - निभाव ?

विहँसो झूला झूल प्रिय, मम रसाल की डाल,
कूको कोकिल सी तनिक गूजे सब दिक् - काल।

भर दो इस अस्तित्व मे मस्ती की धुन एक,
दीवाना बन नेह का भूलूँ ज्ञान विवेक।

पूण महा मानव बनूँ, लगे नेह सोपान,
जल - थल - नभ विचरूँ सहज, चढ अनुराग विमान।

प्राण, तुम्हारे चरण मे, विनती बारम्बार,
पार्थिवता हो नष्ट यह, सेन्द्रियता हो क्षार।

परस - लालसा भी बने धीर, गहर, गम्भीर,
प्यार अतीन्द्रिय हो, सजनि, आलिंगन अशरीर।

तन्मय हो मम प्राण ये, तन्मय हो मम पीर,
तुम बैठो उस कूल पे मै बैठूं इस तीर।

बजे तुम्हारी मुरलिका, ध्वनि आवे इस पार,
जीवन-तरणी के पुलिन डूबे स्वर - रस - धार।

तट-सिकता कण से चुवे अगणित नव रस बिन्दु,
जिनमे लहराये उमड, पूर्ण प्यार का सिन्धु।

रेलपथ,
चिरगांव से कानपुर, उरई स्टेशन
१८ नवम्बर १९३७

सतत प्रवासी

अरे, कौन ? यह कौन है, धूर-धूसरित, मौन ?
यह – बेघर सौ लगत है, या को कहूँ न भौन ?

कितनी भोर पथिक तुम जागे ? कब तें पन्थ चलन तुम लागे ?
तुम हो कौन देश के वासी ? कौन देश तुम चलेहु प्रवासी ?

कौन बिथा तुव हिय बिच जागी ? जो तुम भयउ पन्थ-अनुरागी,
कौन बात सोची अपने मन ? छांडि सुगेह भये अनिकेतन।

निरखत नैकु न जेठ दुपहरी, लखत न सावन - बरखा गहरी ?
पथ मे सीचत अपने श्रम-कण, भीजत चले जात तुम उन्मन।

ऐसो कौन निमन्त्रण आयो ? किनने तुम्हे सँदेस पठायो ?
चले जात पथ तुम आकुल-से, थकित चरण, पै निज हिय हुलसे।

कान परी ऐसी कैसी ध्वनि, जो तुम चले सतत यात्री बनि ?
तुमने सब लौकिकता त्यागी, खूब भये तुम निपट विरागी।

लखि तुव प्रेम हँसत जग के जन, अचरज करत पन्थ के रज-कन,
सकुचि रहे मारग के पाहन, लखि कै तुम्हें विरथ, बिनु वाहन।

मग-पाहन, पथ शूल फूल-गन, योंई चूमत चकित तव चरण,
ऐसेई विहँसत स्याने जन, पै, न प्रवासी होत विरत मन।

कहूँ दूर जाकी रति अटकी, तो किमि चिंता करे निकट की ?
जब दृग् परी दूर की झाईं, कहा निकट की तब परछाईं ?

जब लोचन अलभ्य रँग-राते, तब न सुलभ के ठाठ सुहाते,
जब सुलक्ष्य की लहरी गंगा, तब किमि भावे इतर तरंगा ?

दोहा — जो निकस्यौ नव सृजन कौ वातें कहा बसाय ?
लौकिकता की लघु ठसक, कैसे वाहि सुहाय ?

तुम निःसाधन तुम करपात्री, सन्तत चले जाहु तुम यात्री,
करहु प्रशस्त ऊर्ध्व-मग-रेखा, धनि तुम सतत प्रवासी भेखा।

धन्य धन्य तुव चरण गमन-रत, धन्य धन्य तव मस्तक उन्नत।
धन्य शूल तुम पाँव सँगाती, धन्य धरि तुव अंग सुहाती।

तुव लकुटी प्रवासिनी धन्या, वह तुव चिर - संगिनी अनन्या।
तुम नव नव मारग निर्माता, तुम नव अगम दिशा के ज्ञाता।

तुम हौ अलख लखावन हारे, तुम उत्क्रमण-ज्ञान रखवारे,
तुम समुद्र मन्थन करि लाये, — जन संस्कृति के रतन सुहाये।

तुम अभिनव रवि-शशि के स्रष्टा, अगम भविष्य भाव के द्रष्टा,
नव विज्ञान-ज्ञान के शोधक, तुम प्रचण्ड जड रूढ़ि - विरोधक।

यद्यपि तुम सन्तत एकाकी, पै तुम हौ निधि मानवता को–
सतत लोक-सग्राहकता की, चिन्ता तुम्हे सकल वसुधा की।

तुममे सृजन शक्ति विधना की, तुम प्रलयंकर शम्भु पिनाकी।
छिन दरसावत सिरजन झाँकी, पुनि प्रकटत विनास छवि बाकी।

ओ तुम महा प्राण करुणाकर, कौन प्रेरणा लाये हिय-भर ?
जग कौ सन्तत महत निरादर, तउ बरसत हौ जिमि धाराधर,

रिमि-रिमि झिमि तव करुणा बरसी, जगती तव प्रसाद तै सरसी,
पै न भरी तव हिय की सरसी, जनु कछु बात रही अवपरसी !

दोहा–ओ, मानवता के सतत विकट प्रवासी बीर ?
तुम आगे आगे चलहु, जन-गन-हिय तम चीर ?
निहचैं पहुँचैंगे सकल, मानव वाई ठौर।
जहँ प्रशस्त तुव पन्थ है, जहँ न साकरी खौर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ सितम्बर १९४३ रात्रि, ११०

■

नैना

प्यारी इन अँखियान की बडौ अटपटौ नेह,
कवहूँ चमकत बीजुरी, कवहूँ बरसत मेह।

छिन डोले-डोले फिरें, पुनि छिन मे सकुचात,
कहाँ कहा ? नैनान की, बडी अनोखी बात।

इन नैना-भौरान को बाधि लाज की डोर,
सजनि, उडावहु मत इत, करहु कृपा की कोर?

ये लोचन-भौरा भये बडे सुरस के चोर,
पलक सम्पुटी म इनहि राखौ, करौ निहोर।

उठो पलक की यवनिका हौलें-हौलें आज,
कियौ ज्ञान वैराग्य को टूट्यो सकल समाज।

इन थोरे से दिनन मो अरी बावरी वीर,
आजि गयो कोउ नैन मे जादू गहर गभीर।

अँखियाँ पल-पल पलक मे दुरकि जात इठलात,
लोक लाज के मिस, सजनि, करहु न यो उतपात।

तुम ए भारी सी भट्, तनिक सम्हारहु चीर,
ये घूँघट की ओट के बन्दी भये अधीर।

निपट निराशा-जलधि मे जदपि नैन उतरात,
तऊ सदा प्यासे रहे ये दुखिया अकुलात।

झिझक झपकि झुकि जात हैं नयन, अरी सुकुमारि,
या मोहक सकोच की हौ जावौ बलिहारि।

सीधे चितवति हो तऊ लगैं तिरीछे बान,
दोख न काहू दीजिए, उलट्यो सकल विधान।

टोना-सौ कछु ह्वै गयो सजनि, आपु ही आप,
ता दिन तैं जब तै इतैं तुम चितयो चुपचाप।

तक्र,-भावना, मदुकि,-हिय, रई-तिहारी प्रीत,
परी,-लोचनन मे भरयो सुरस नेह नवनीत।

अरुण प्रात, कारी निशा, स्फटिक दुपहरी-पीर,
सलज लोचनन मे दुरे सन इक सँग, री वीर।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१० दिसम्बर १९३०

अनुरोध

झीनी चादर ओढि कै मत सोवहु सुकुमारि,
अँग-रँग छलक्यौ जात है रजित है दिसि चारि।

आखिन तै जनि बोलहू, सजनि, अबोले बोल,
मौन-अनी चुभि जात है हियहिं टटोल टटोल।

मो बगिया मे ढुरि परौ कबहूँ तौ सुकुमारि,
डोलि रह्यौ व्याकुल पवन इतै उसासै डारि।

हारि गयी लतिकान की कली निमन्त्रण देत,
पुहुप पाँवडे बिछि गये, अली, पराग समेत।

अब तौ सूनी कुज पै करहु कृपा की कोर,
छिटक चादनी-सी खिलहु, ह्वै कै आत्म विभोर।

सघन कुज की गलिन मे आवहु, खेलहु खेल,
इन सूने विरवान पै, सजनि, चढावहु बेल।

आख मिचौनी मिस दुरहु उझकि-उझकि द्रुम-ओट,
कछु काकरिया सी चुभै, दहु सैन की चोट।

मेरी झोनी चदरिया रँगी तिहारे रंग,
स्वामिनि, इत उत चुवत है देखहु नवल उमंग।

या विराग-अनुराग के भाग खुलि गये, बीर,
उनको तो संगी मिले हम-से मस्त फकीर।

धूनी तपी, न चीमटा खनक्यौ एकौ बार,
तऊ फकीरी को, सजनि, आयो अतुल बहार।

वस्त्रन पै रँग ना चढ्यो तेरो रँग अनमोल,
हिय राच्यो, मन रँगि गयो, राचे लोचन लोल।

हम हैं मस्त फकीर वे जिन्हें और ना काम,
गाढो गहरी छानि कैं रट्यौ करैं तुव नाम।

रात अँधेरे पाख की, दीपक हीन कुटीर,
आय सँजोवहु दीयरा, हियरा भयो अधीर।

रैन दिना बैठ्यो रहे द्वार तिहारे जाय,
भोरे मनुवा की करौ अब ही कौन उपाय ?

उचटि-उचटि चलि जात चित वा आँगन की ओर,
जहाँ डुलि रह्यो है, सजनि, तुव अचल को छोर।

कबहूँ तो निज दृगन तै कहहु आहु, इत आहु,
तुम तो सन्तत कहत हौ दूर जाहु, उत जाहु !

तुम्हरे लोचन-कमल पै मो मन अलि अनुरक्त,
तुम टारत, मँडरात वह बारम्बार आसक्त।

कबहुँक हँसि मुसिकात हौ, कबहूँ करत हौ क्रोध,
यह कैसी जु अदा-रदी ? यह कैसो अवरोध ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१८ दिसम्बर १९३०

संशय-दैन्य

जीवन डगरी मे छिपी निशि अँधियारी पीर,
वेधि रह्यो कोउ ताकि कै असन्तोष के तीर।

भाँति-भाँति के राग की चपल भ्रान्ति-उद्भ्रान्ति,
करिबे कौ आयी यहाँ विकट क्रान्ति उत्क्रान्ति।

चल्यो जात हो हिय सहज, विन्ध्यौ पाप के शूल,
सिसकि रही पीडा इतै, भई लाज उन्मूल।

कृत कमन के वहि चले रुधिर-पनारे आज,
कहा कहो, कैसे छुटो जनम-जनम की लाज?

धसकि धसकि मिटि-मिटि गये मधुर मनोरथ भौन।
बात पूछिबे कौ, कहहु, रह्यो भौन मे कौन?

चर-चर-चूँ-चूँ करि रह्यो जीवन-कोल्हू दीन,
आशा सरसो पिरि भई अश्रु-तैल-तल्लीन।

फूल्यो यह जीवन-विटप फल्यो आदि अभिशाप,
सन्तापी हिय करि रह्यो नीरव मौन विलाप।

कित आशा? कित सरलता? कितै सुनिश्चय साज?
इत-उत जित-तित तैं उमडि परी विकलता आज।

क्षत-विक्षत हिय वहि रह्यो, लगे प्रश्न के तीर,
मौन निरुत्तर वेदना मन चित धुनत शरीर।

चिन्ता-कठिनी लिखि रही प्रश्न चिह्न प्रति वार,
क्यो? कित? का? कैसे? कहाँ? को फैल्यो विस्तार।

मेरी पाटी काठ की छोटी, प्रश्न अनेक,
जगत् निरुत्तर ह्वै गयो, मिल्यो न उत्तर एक।

रात अँधेरे पाख की, दीपक - हीन कुटीर,
ऐसे कुसमय मे उठी विफल ज्ञान की पीर।

कहा करौ ? यह वेदना समुझि परै नहिं नैंक,
तकि - तकि कै कोउ दे रह्यौ सशय-त्राण अनेक।

अहो शान्ति जल - धार, हे सरवर सशय - हीन,
तडपि रह्यौ है कूल पै यह 'नवीन' मन मीन।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
२० फरवरी १९३१

■

घाव

कहा करौं ? यह वेदना, समुझि परै नहिं नैंक
तकि-तकि कै कोउ दै रह्यो सशय-बाण अनेक,
सशय बाण अनेक हिये मे कसकि रहे ये,
घाव गहर-गम्भीर-पीर के टसकि रहे ये,
भरि-भरि आवत है कोमल क्षत-विक्षत छाती,
बूँद-बूँद बहि चली सिधोसी सचित थाती,
कहहु कहाँ सो मरहम व्रण मे यहाँ भरौं मैं ?
हैं ये गहरे घाव, बतावहु कहा करौं मैं ?

डिस्ट्रिक्ट जेल गाजीपुर
२८ फरवरी १९३१

■

मेरे प्राणाधिक

दोहा—मेरे प्राणाधिक सरल, देहु यही वरदान,
गूँजै नित मम श्रवण मे पुण्य नेह के गान।

मेरे प्राण, श्रवण, लोचन, मन, मेरे अग अग, शोणित कण।
तव सनेह के रस मे पागें, निज तव चरणन मे अनुरागें॥

मिटै सकल जग को कोलाहल, उमडै नेह-धुनी कल कल कल।
मैं डूबूँ चिर नेह सुरस मे, तव मुख-कज खिलै मानस मे॥

छोटी सी मम जीवन गागर, ह्वै निस्सीम बनै रस-सागर।
टूटे मेरे सीमा बन्धन, यह वर देहु मोहि, हित-नन्दन॥

जो तुम मो डारी पै फूलौ, जो तुम निज जन पै अनुकूलौ।
तो फिर कहा ताप-भय जग के, और कहा कण्टक मो मग के॥

कहा पन्थ की लीक खुरखुरी, कहा मृत्यु की भीति बापुरी।
जो तव स्मिति प्रसाद-बल पाऊँ, हँसि हँसि जग जजाल उठाऊँ॥

ह्वै विदेह मै भजौ तुम्हे नित, ऐसे आय बसहु पिय, मम चित।
झूलहु मेरे स्वास-हिंडोले, अब तो आय ढरहु अनबोले॥

टेरत-टेरत सब दिन बीते, पै न ढरे तुम प्राण-पिरीते।
कब लौ आवहुगे तुम इत ह्वै, मेरौ अजलि-अर्घ्य चर्यौ च्वै॥

एतो कौन दोष है मेरो? ऐसो पातक कौन घनेरो?
किमि ह्वै हैं मम रज कण कचन, जबलौ मिले स्पर्श तव रच न॥

दोहा—देखहु सम्मुख आय कै, हे मेरे सुकुमार!
तब न अनन्याश्रय जगै, तौ मोकौ धिक्कार॥

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ जनवरी १९४४

अपनी-अपनी बाट

हे सब जग के जनन की अपनी-अपनी बाट,
अपनो-अपनो राग है, अपनो अपनो ठाट।

प्रति जन को है आपुनो भिन्न-भिन्न ससार,
रग-बिरगी भिन्नता फैली अपरम्पार।

सब जग-जन को है यहा भिन्न-भिन्न दिक्-ज्ञान,
भिन्न-भिन्न है सबन को अपनो काल-प्रमान।

काऊ को है निमिषवत् अन्तहीन यह काल,
काऊ को इक छिन लगत ब्रह्म-दिवस विकराल।

कबहुँ एक डग सम लगत यह सब दिग्-विस्तार,
कबहुँ एक पग हू बनत अति दुगम पथ-भार।

देश-काल कबहूँ बनत अति लघु मान-प्रतीक,
अन्तहीन कबहूँ लगत इनकी चक्रित,लीक।

काऊ को है कल्प मय शरद-शिशिर की रात,
कोउ कहत है क्यो भयो इतनो शीघ्र प्रभात?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ मई १९४४

नैया

आके तो देखो तनिक कैसा हाल-बिहाल ?
डगमग - डगमग हो रही इस नौका की चाल ।

बन्धहीन, गुण गलित, है सडी लकडिया चार,
क्या जानूँ क्या हो गये सुदृढ डाड, पतवार ।

उमड रही स्रोतस्विनी बडी प्रखर है धार,
रच सहारा दो, निठुर ओ मेरे सरकार !

टेर गूँजती गगन मे मेरी बारम्बार,
निरबल के बल, कान दो, हँसता है ससार ।

तुम तट पर अठखेलियाँ खूब कर रहे, नाथ,
वही जा रही है इधर मेरी नाव अनाथ ।

जीवन सन्ध्या हो रही चली आ रही रात,
कौन पूछने को रहा इस नौका की बात ?

अपना जिसको समझते रहे गरीब 'नवीन',
वही बिराना हो गया, किसका करें यकीन ।

दीन-हीन की जान के जीर्ण-शीर्ण-सी नाव,
करते हैं उपहास सब, जग का यही सुभाव ।

रसरी बाँधो नेह की, नैन-सैन के छोर,
टूटी तरणी खीच लो श्री चरणो की ओर,

जब गरजें घनघोर घन, तडपे बिज्जु अथोर,
तब बोलो, कैसे चले इस नैया का जोर ?

उमड रही उन्मादिनी नदी कराल, दुरन्त,
तट डूबे घन तिमिर मे जिसका आदि न अन्त।

घेर अनन्ताकाश को दल वादल की भीर,
नखन शून्य कर गगन को करती मुझे अधीर।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१३ दिसम्बर १९३०

■

पहेली मानव

इतनी सस्कृति-स्मृति विपुल, ऐतो अनुपम ज्ञान।
तऊ निरन्तर रागवश है मानव - सन्तान ॥

जीवन म है नेह को किंचित् नाहिं अभाव,
तऊ मिटाये ना मिट्यो चित तै शोणित-चाव।

मानव, जे निशि-दिन पियै मधुर प्रेम-रस-धार,
तेई करिबे लगत हैं दिन मे, रक्त - विहार।

होत तिरोहित देखियौ मनुज - हृदय को नेह,
मानव के देवाश मे होन लगतु सन्देह।

लखि-लखि कै या द्विपद कौ यह विरोध-व्यवहार,
अर्थहीन लगिवे लगत जीवन को व्यापार।

जीवन मे इतनी अधिक क्यो है खैंचा - तान ?
कहहु बनायो कौन ने यह अटपटो विधान ?

अम्बर तैं टपकी समुद तरल अमल जल बूँद,
रज मे मिलतेई लगी वा मे मलिन फफूँद।

आलोकित करती गगन चली चन्द्रिका वाल,
भूमि परसतेई भयी मटमैली तत्काल।

है या जग की मृत्तिका कछुक सदोस, मलीन,
जामे मिलि ह्वै जात है चेतन, चेतन-हीन।

जिय कछु ऐसी लगत है मनहुँ सृजन-व्यापार,—
चलत न, जब लौं ना छिडै यह द्वन्द्वात्मक रार।

सकल सृजन को मूल है सघपण अविराम,
तातैं जन-हिय मे मच्यो देवासुर-सग्राम।

ऋण-धन-गुण-सयुत सदा विद्युत शक्ति अघोर,
सब ब्रह्माण्ड-विकास को सतत रही झकझोर।

जब जडता मे मचि रह्यौ सघपण भरपूर,
तब चेतन ही क्यो रहै राग-द्वन्द्व तै दूर?

चिर अमूत्त सत् होत जब मूर्त्तिमन्त प्रत्यक्ष,—
ता छिन वह करि लेहु रे असदावरण समक्ष।

याई तैं सत्-असत् को मचो हिये म रार,
याई तै मानव भयौ चिर विरोध-आगार।

खटकि रह्यौ है द्वेष को मनुज हिये मे शूल,
मानौ यह मानव गयौ निज स्वरूप कौ भूल।

पहिचानैगो, कौन विधि निज कौ मानव जन्तु?
करत रहत है रात दिन यह तो किन्तु परन्तु।

चरयौ जात है राग की कारी कामरि ओढ,
जडता सौ या मनुज ने मनहुँ बदी है होड।

दिवसन की गिनती कहा? गये कल्प लौ बीत,
अजहुँ न निज सत् रूप की उपजी हिय परतीत !

अँखिया अपलक फटि रहीं झाँकी देखन काज,
थके हाथ सन्तत रचत अभिनव मनुज - समाज !

कहा करैं ? कैसे करैं ? कहा तजै सब आस ?
कहहु, तजैं का आज या मानव मे विश्वास ?

पै, हिय मे यो होत है मनहुँ न तजियौ आस,
बुद्धि कहि रही कब रुक्यौ मानव कौ सुविकास ?

हहरि - हहरि कै बहि रह्यौ सन्तत सृष्टि - प्रवाह,
हम क्यों त्यागें आपुनौ हिय कौ अदम उछाह ?

यदि मानव सत्-रूप को है मिश्रित अवतार,
तो वह निहचै जायगौ पुन सत्य के द्वार !

अपनौ दीप बुझाय कै फेरि बारिबौ नित्य,
इन्हीं प्रयत्नन तै मथित है मानव - साहित्य !

गिरि गिरि कैं उठिबौ पुन रुकि-रुकि, पुन प्रयाण,
यही मनुज की सतत गति, यही सुमोक्ष - विधान।

मत बिलखहु, सोचहु न कछु, रहहु अशक, अदीन,
मनुज तिहारौ सत्य है, हे प्राचीन 'नवीन' !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२९ मार्च १९४४

ο

अनवाप्त

हम नितान्त बौड़म बजत, बीते बरस अनेक,
मारे-मारे हम फिरे, रहे एक के एक।

प्राण, नयन, मन, श्रवण, तन, अर्पण की अकुलात,
पै साजन नहिं ढरत इत, जीवन बीत्यौ जात।

का यों ही रहि जायगो प्राण-समर्पण-टेक ?
ओ ललाट की रेख तू, कहु, री, कछु तौ नैक।

कौन पूर्व-कृति करम ये आडे आये आज ?
जो न पधारत प्रेम-घन अपने जन के काज ?

हम तो ढूँढत हैं पियहिं गहरे पानी पैठि,
वे गहराई छाँडि के रहे किनारे बैठि।

अपने पिय को ढूँढिवे हम तो उडत अकास,
वे भूतल की गलिन मे करत रहत उपहास।

हम उत, वे इत चलत हैं, हम इत, वे उत, जात,
यों ही इत-उत मे सतत बीतत हैं दिन-रात,

जे पग हम राखत हिये, जे पग लखे न काहु, —
उन पग, गज-गति चलत तुम, आहु, सजन-गृह आहु।

कुहकी कोयल मद-भरी, इन आमन की डालि,
बगिया मे ढरि, हृदय के कण्टक लेहु निकालि।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
६ मार्च १९४३

■

राग-विराग

हंसा उडे अकास में, पै नहिं छूट्यौ द्वन्द,
मन अरुझान्यौ ही रह्यौ मानसरोवर-फंद।

हम विराग आकाश मे बहुत उडे दिन-रैन,
पै मन पिय पग-राग मे लिपटि रह्यौ बेचैन।

हम सेन्द्रिय, बनिबे चले, निपट निरिन्द्रिय रूप,
इत, मन बोल्यौ बावरे पिय को रूप अनूप।

व्यर्थं भये, असफल भये जोग साधना-यत्न,
कौन समेटे धूरि, जब मन मे पिय-सो रत्न ?

कहँ धूनी की राख यह ? कहँ पिय-चरण-पराग ?
कहाँ बापुरी विरति यह ? कहा स्नेह, रस, राग ?

प्रिय, हम तें या देह सौ सधैगो न वैराग,
फीके-फीके-से लगत सबै जोग - जप - जाग।

सदा रावरी अर्चना, सन्तत रावर ध्यान,
रावर ढिग रहिबो ललकि, यही हमारी बान।

कबहूँ बेणी गूँथिये कबहुँ चापिये पायँ,
कबहुँ अधर-रस चाखिए, तब 'नवीन' हरषायँ।

खीझि कह्यौ तुम एक दिन कि हम बडे बेकाम।
ठीक, हमारो काम है निरि जैबो बेदाम।

तुम्हें खिझाय रिझाइबो, दुलरैबो प्रतियाम,
सतत बलैयाँ लेइबो, यही हमारो काम।

तुम बोले निर्लज्ज हम, हमे न लौकिक लाज,
पै हमने यह कब कही कि हम लोक सिरताज ?

खीझहु मत, रचक सुनहु, ओ मलज्ज सरकार,
हमरे दृग मे लखि तुम्हे बिहँसि रह्यौ ससार।

नैनन मे, मन-प्राण मे, रोम-रोम मे आज,–
चौडे ही तुम रमि रहे, कितै तिहारी लाज ?

जो तुम लज्जा-शील तौ, क्यो न हिये तें जाहु ?
प्रीति न छानी रहि सकत, सजन, अब न शरमाहु।

जब हम मांगत अधर-रस, तबही तुम मुसकात,
फिर, नाही करि देत हौ, कहहु कौन यह बात ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
५ मार्च १९४३

■

हसिनि उडी अकास

देखत ही देखत मुँदे वे अनियारे नैन,
मौन भये छिन एक मे सलज, रसीले बैन।

मानस सरवर छाडिकै हसिनि उडी अकास,
दृग मोतिन के चुगन कौं अब नहि आवत पास।

औचक जनि उडि जाहु री, जनम-जनम की मीत!
पाहन सम जम जाइगौ तुम बिन हिय नवनीत॥

है वे ही सब लोग ये, है जु वही ससार,
पै तुम बिन छिन-छिन लगत जीवन दुवह भार।

स्मृति ही तें ह्वै जात है मानस मे कल्लोल,
नैनन तै बहि - बहि उठत अवश अबोले बोल।

यह जीवन की दुपहरी भई झुटपुटी साँझ,
तम की झाँई परि गयी तुम बिन या हिय माँझ।

जिय सूनौ, सूनौ हृदय, तन - मन प्राण उदास,
भली भई तुम सँग गयी जीवन की सुख आस।

शरद जुन्हाई अब कहाँ ? कहाँ बसन्त - उछाह ?
जीवन मे अब बचि रह्यौ चिर निदाघ को दाह।

जीवन के मधु स्वप्न वे, हास, लास, रस, रग—
सकल तिरोहित ह्वै गये, प्राण, तिहारे, सग।

हुलस बलैयाँ लेत है जा मुख की हरषाय,
वाई मुख मे अगिन हम दै आए निरुपाय।

वा तन की केवल भसम आज बचि रही शेष,
यह परिवतन ठाठ हम लखत रहे अनिमेष।

धू - धू करि कैं बरि उठी उतै चिता की आग,
इत हिय धधकी होलिका, बिनु फागुन, बिन फाग।

जिमि प्रसूतिकागार, जिमि लगन - मँडप - रस - रग,
तिमि श्मशान की लपट हू लगी मनुज के सग।

सँग-सँग जन्मे होइँगे जनम - मरण कोउ काल,
ये करिहैं प्रस्थान जो जन हिय मथि बेहाल।

मानव ने नव जनम को लख्यौ प्रात को हास,
पुनि वानै जन्मान्त को लख्यो उदास अकास।

उषा लखी मनभावनी, लख्यौ प्रात - आलोक,
अब ये नैना लखि रहे श्याम साँझ को शोक।

अब तो तुम बिन दृगन मे भरी रहैगी रात।
एक किहानी ह्वै गयी अब प्रभात की बात।

छूट्यौ सँग, फीको पर्यौ जीवन को सब राग,
अब तो स्मृति ही मे रह्यौ, प्रिय, तव अग - पराग।

सस्मृति बनी अनूप, बसी रहौ तुम हृदय मे,
कछु छाया, कछु धूप, सरसावहु मन - गगन बिच।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२५ अगस्त १९४३

■

पिंजरबद्ध नाहर

आवैगो को बापुरो हमे झुकावन आज?
हम उन्नत शिर, हम अजित, हम अजेय मृगराज!

जद्यपि पिंजर - बद्ध हैं हम नाहर विकराल,
अरे, तऊ हैं सिह ही, हम न गरीब शृगाल।

हृदय उछाह अमाप है, आँखिन मे है आग,
अब भी है मन मे वही मृगया को अनुराग।

वही दंष्ट्र हैं, नख वही, गर्जन वही अघोर।
अजहूँ रिपु काँपि उठत है सुनि हमार घनघोर।

कापि उठत है पीजरा, कँपत लौह के द्वार।
कँपत अगला बन्ध सब, सुनि नाहर हुकार।

हम अलीक, बीहड़ चलैं, सिरजैं अपनी लीक,
हमें न भावै अन्य को मारग आछौ, नीक।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ सितम्बर १९४३

■

पै न ढरे घनश्याम

बोल्यौ नेह-पपीहरा जीवन - तरुवर बैठि
पिऊ ? पिऊ ? की ध्वनि गयी अन्तरिक्ष में पैठि।

अरुणा भई विभावरी, ढूँढ़त पिउ को ठाव,
कितै पिया की डगरिया ? कितै पिया को गाव ?

निखिल सौर-मण्डल बन्यौ सजन-सुमरनी माल,
घूर्णित त्रिभुवन-रव भयौ नाम स्मरण सब काल।

रवि, शशि, तारक वृन्द लौ गँजि रह्यौ पिय नाम,
ढूँढि थके अणु-अणु उन्हे, पै, न ढरे घनश्याम।

श्री गणेश कुटीर कानपुर
५ मई १९४२

■

उपालम्भ

जीवन-तरल तरगिणी सूखि भयी कृश धार,
द्वेष-मत्त जग ने दियौ, यह निदाघ-उपहार।

जग प्यासौ अवलोकि कैं, हम भरि लाये नीर,
फूटि गयी गगरी लगे उपालम्भ के तीर।

साझ भयी, सूरज भयौ पश्चिम दिशि की ओट,
नभ अँधियारौ बढि चत्यो, हिय कसकी निशि-चोट।

सोच भयौ हिय, देखि कै अपनी जीवन-साझ,
दिन की घडियाँ रह गयी, हाय, बाँझ की बाझ!

नेह दियो निष्ठा सहित, पायी घृणा अपार,
सेवा को मेवा मित्यौ यह कृतघ्न व्यवहार।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
४ मई १९४२

■

प्रतीक्षा

रटत नाम, सुमिरन करत, बौरान्यौ मन-कीर,
जोहत मग इकटक सतत, उमडयौ नैनन नीर।

शिला-खण्ड पै बैठि, हम, निज हिय, लोचन, धीर,—
देखि रहे जग मग चलत इन पन्थिन की भीर।

हमे अश्म-आसन मित्यौ, मिली प्रतीक्षा पीर,
मिली उपेक्षा, औ' मिले उपालम्भ के तीर।

हमे बावरी कहत सब, जो हम जोहत बाट,
कहा कहे ? कछु परि गयी ऐसी रेख ललाट।

हम विषपायी जनम के, सहैं अबोल, कुबोल,
मानत नैकु न अनख, हम जानत आपुन मोल।

अजहूँ कछु कछु है स्मरण वा मुख को मुसकान,
कबहूँ तो या पन्थ ह्वै निकसैंगे रसखान।

कोलाहल मच जाइगौ, उमडैगी जन - भीर,
अब साजन रस - बस खिंचे ढरकैंगे हम - तीर।

विह्वल, चरण पखारि है ये युग नयन अधीर,
न्यौछावर ह्वै जाइँगे उनपै हम सशरीर।

पै जब तक पिय ना ढरत हुलस हमारी ओर,
तब तक हम रहिहैं सतत गहे प्रतीक्षा - डोर।

पछी बोलत चैं-चटक, सलिल करत कल - नाद,
सब जग ध्वनिमय ह्वै रह्यौ, हमे मौन - उन्माद।

कहा कहैं ? कछु समझहू परत न कोऊ बात,
शब्द बापुरे सिमिटि कै सकुचि-सकुचि रहि जात।

उठ-उठ आवत कण्ठ लौ हिय - उत्ताल - तरग,
पै यह रसना बावरी दत न वाको सग।

मौन रहहु, जनि कछु कहहु, सहहु जगत् अपवाद,
गूँगे ही तुम ह्वै रहौ, हे 'नवीन' अविवाद।

ये तव मौनाधर खुलें वा छिन, अरे 'नवीन',
जा छिन पिय - मुख - परस तें हो तुव शब्द अदीन।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२३ जनवरी १९४३

कितै तिहारो देश ?

कितै तिहारी नगरिया ? कितै तिहारो देश ?
लख मो तन कछु तो कहौ, हे मेरे प्राणेश !

इतने दिन तें उठि रही, आकुल प्राण - पुकार,
क्यो न खुले अब लौ तनिक गहन रहस्य-किवार ?

दर्शन क्षमता मनुज की अति सीमित, अति दीन,
रोकि रहे दृग-पन्थ ये देश, काल प्राचीन !

बात अगम पर पार की कैसें जानी जाय ?
अलख झलक किमि पेखिए ? याको कौन उपाय ?

छिन्न भिन्न तुम बिन भये मेरे जीवन-तन्त,
झटकि बाँह तुम चलि वसे, हे मेरे रसवन्त !

जो कहि जाते निज पतौ, चलतो त्रिरिया नेक,
तो क्यो उठते दुख-भरे ये सकल्प अनेक ?

पाहुन सम तुम करि गये छिन मे महा प्रयान,
ता दिन ते जीवन कुटी भयी निपट सुनसान !

तुम आये वरदान सम बनि कै सरस बिहान,
पै निकस्यौ अति सूक्ष्मतम मम सँजोग दिनमान ।

मम बिहान, मम दिवस लघु बने तिमिरमय रैन,
भ्रमित प्राण पछी सतत, नैकु न पावत चैन ।

चक्रवाक की रैन, कबहूँ तो कटि जात है,
पै, हे मम रस ऐन, लगत निशीथ दुरन्त मम ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१७ अगस्त १९४६

■

पावस पीडा

विप्रलम्भ शृगार प्रधान लघु प्रेम-कविताएँ

[सग्रह को कवि द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक 'यौवन मदिरा' भी दिया गया है]

तीर कमान

प्रिय, धनुर्धर तुम चतुर, तव लक्ष्य-वेधक बाण,
खटकता है यह तुम्हारा मूक शर - सन्धान,

पलक प्रत्यचा, सुभृकुटी लचक लोल कमान,
सैन - शर हैं भाव - रस - विष बुझे, हे रससान,

नयन - बाणो से सदा करते रहो म्रियमाण,
बस यही है साध हिय की, बस यही अरमान।

एक दिन कर दो कृपा इतनी, अहो गुणवान्,
चूम लेने दो हमे निज सुघड तीर - कमान !

खीचकर आकर्ण प्रत्यचा, धनुष को तान, —
यो बुला लो पास, दे दो नयन -चुम्बन - दान,

प्यार मे यह खीझ - जैसी चीज ? इतना मान ?
प्रिय, दिखा दो चाँदनी - सी वह मृदुल मुसकान।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद,
२२ अगस्त १९३३

■

असमर्थ

खूब हुकुम देते हो स्वामी, भले बने तुम शाहशाह,
जब जो जी मे आया वही कहोगे, तुमको क्या पर्वाह ?
कभी इधर को, कभी उधर को, झुक जाने को कहते हो,
जैसे मन की मौज हुई वैसे ही बकते रहते हो।
आज आज्ञा हुई कि उट्ठे अनिल और अन्धड के गीत,
मेरी टूटी बाँसुरिया के लिए नयी है यह स्वर रीत ॥

मै हूँ विजित, कहो तुम अनिल-स्वर क्या है मैं क्या जानूँ,
मीठी-मीठी कसकमयी वेदना तान मै पहचानूँ।
नाथ, झकोरे झझा के ये सहन कहो क्यो कर पाऊँ,
पावक के रागो की ज्वलना कडिया कैसे सुलगाऊँ ?
मुझसे सुनना हो तो सुन लो क्रन्दन का उत्क्रोश हरे,
सच कहता हूँ वीरतान लेने का रहा न जोश हरे ॥

परदे मे तुम छिपे हुए, कैसी छवि-छटा दिखाते हो,
झाक-झाक कर हम प्यासो को क्या नव रीति सिखाते हो,
यह सब मुझसे सुन लो स्वामी,–इस फनमे पारगत हूँ,
रचा रहता हूँ मै इसमे – इसी साध मे मैं रत हूँ
नाश, आग पानी, आधी की लीलाएँ मैं क्या जानूँ,
मैं विराट का भक्त नही, तब कैसे तव आज्ञा मानूँ ?

■

परीक्षा के प्रश्न-पत्र

कितनी आतुरता से देखे अपने परचे आली,
निर्दय परीक्षकों की कृतियाँ कैसी हैं विकराली।
दुनिया-भर की बात पूछते, यह सब भ्रम का जाल,
मन के मृदुल मिलन का उनको ज़रा नहीं है ख्याल।
आखर अमित अर्थ थोडा, यह प्रश्न-पत्र का खेल।
जी मे आता आज जला दूँ इन सब को बे-तेल!

■

टूटी वीणा

जर्जर तूँबी, भग्न दारु, टूटी खूँटिया, तार उलझे!
मुझे मिले ये स्वर अरझाने वाले वीणकार सुलझे॥
टेढो - मेढी लचक लचीली मिजराबें ढीली - ढाली,
कुटिल अँगुलियो मे छायी है जटिल शिथिलता मतवाली।
क्या वीणा, क्या वीणकार, क्या गेय राग, क्या गीत बना!
क्यो बन गया कठोर उपल सा स्वर-विधान नवनीत मना?

जरा ठहर, मत छेड, अरे, ओ वीणकार! रुक जा, रुक जा।
मेरी टूटी वीणा पर, रे, तू यो मत झुक जा, रुक जा।
वादन साधन की नि साधन-जनित कठिनता देख जरा,
कैसे, अरे, गुँजा पायेगा तू नव स्वर - लहरी अपरा?
गमक, मूर्च्छना, मीड, गूँज, ध्वनि विन्यासो का लोप यहाँ।
मेरे टूटे दारु खण्ड पर है विधना का कोप यहाँ।

रहने भी दे, अरे हठीले, मत कम्पित कर स्वर लहरी,
अरे तोड मत, सोती हुई साध की यह निद्रा गहरी,
स्वर-झङ्कृति की स्मृति-मस्कृति से वह सहसा उठ आयेगी!
पलक-सम्पुटी मे न जाने क्या क्या वह भर लायेगी!
हिय की साध नशीली पगली स्वर माधुरी प्रवीण बडी,
वीणकार, उसको न जगा, मत छेड तार तू घडी-घडी!

रेल पथ कानपुर से चिरगाँव
२४ जून १९३१

■

प्रज्वलित वह्नि

वह चली, आह, कैसी बयार!
खोला अतीत का जटिल द्वार!

जीवन - वन की वृक्षावलियाँ,
विस्मृत पथ की सँकरी गलिया,
अति व्यथित हास्य की नव कलिया,
तिमिर - ग्रस्ता पर्णावलिया,
कर रही अनोखा आज प्यार!

बीते दिवसो का अन्धकार,
घेरे था जिसका क्षुद्र द्वार,
उस हृदय - कूप का नीर क्षार,
कम्पित होता है बार - बार!
लेवे कोई इसको उबार!

मन - मन्दिर की उस सीढी पर,
कल्पना, भावनाएँ चढकर,
देती थी विमल अर्घ्य सत्वर,
जिस मूक भाव के पत्थर पर,
उससे निकली ये बूँद चार !

सिंहासन पर थी जमी धूल,
पर, कही न दीखा वह दुकूल,
जो बाँधे लाता चार फूल,
पोछता सुआसन फूल - फूल !
हाँ, अब आया क्षालन विचार !

रवि - किरणो की सुन्दर जाली,
खग्रास – ग्रहण – आभा काली,
दोनो उलझी थी मतवाली,
जीवन - पथ प्रकाश से खाली
था, फिर आयी, किरणे अपार !

सुन्दरता के झकझोरो मे
वासन्ती के कल भौरा मे,
श्रावण के प्यार हिंडोरो मे,
दु ख की रोटी के कोरो म,
मिल गया आज फिर से दुलार !

पागल की बहकी बातें है,
योगी को ये भ्रम राते है,
तुम रोते हो, हम गाते है,
टूटे स्वर मे सुख पाते है,
दु ख ही मे पाया सुख प्रसार !

ये पत्र उड़ाते हैं मन को,
मैं क्या हूँ ? क्या जानूँ तन को ?
उन्मत्त शराबी इस छन को,
पा गया, अहो, जीवन - धन को,
फिर-फिर स्मृति की अति ही अपार !

बैठी है पत्ती - पत्ती मे,
पूजार्ति दीप की बत्ती मे,
अर्पित तण्डुल की रत्ती मे,
वेदो - मसीह की 'मत्ती' मे,
बैठी है मेरी सुमनुहार !

मेरी निकुज की गलियो मे,
आता वह धृत ले पलियो मे,
धरता है दीवे अलियो मे,
गणना है उसकी छलियो मे,
स्मृति-दीपक बुझता बार - बार !!

कुछ देर जले यह दिया और,
गूँथूँ माला का एक छोर,
विस्मृति की आँधी, कर न शोर,
चचलते, बहकाओ न मोर,
मेरे मन का गाकर मलार !

किसको आराधूँ ? चलूँ कहा
किसकी मुरली को सुनूँ कहा ?
किसका अधरामृत पियूँ कहाँ ?
किस अग्नि लोक मे जियूँ कहा ?
जिससे छूटे बन्धन विचार !

वेदने, सुनो मेरी वाणी,
हृत्खण्ड जलाओ कल्याणी,
तुम जिस प्रदेश की हो रानी,
कर दो वह भस्म, न दो पानी,
तब निकले शोले तीन चार।

इस हृदय-यज्ञ का धूम्रयान,
लेकर आवेगा मूर्तिमान।
मेरी आहो का अश्रुदान।
स्मृति-रत्नो से भूपित महान्।
उस झाकी पर होऊँ निसार।

गत आनन्दो के अश्रु-क्षीण।
आगत दुख के अनुभव प्रवीण।
अ-यक्त-भावना भरी वीन।
यो हाथ जोड कहता 'नवीन'।—

प्रज्वलित वह्नि सुलगे अपार,—
हृत्खण्ड करे फिर जल-विहार,
निकले सोते उनसे-अपार।—
वह चले, अहो, ऐसी बयार॥

सूखे-आँसू

क्यो कलेजे की तडप-धीमी पडी,—
आज दिल सुनसान-सा क्यो हो गया?
आँख के अव्यक्त भावो की लडी,—
तोड दी किसने?— कहा धन खो गया?

इस विपमता की सरलता मूखकर,–
किस सरोवर मे तिरोहित हो गयी।
इस विपिन की वह कुहुकिनी कूककर,–
किस निनादित वेणु - वन मे सो गयी ?

सिसकने मे ही मजा मिलता रहा,–
कसक की उस वेदना की चाह से–
हम विपन्नो का कमल खिलता रहा,
दद को दिल से लगाया चाह से !

हाय ! पर वह दर्द मेरा क्या हुआ ?
किस निठुर ने हाय ! पट्टी वाध दी ?
लोल-लोचन-बिन्दु, तुम अब हो कहाँ, ?
सूखता है यह विटप, – लो, देख लो !!

■

नारी

सृष्टि - मन्थन की पुरानी तुम पहेली गूढ,
गहन सम्भ्रम - ग्रन्थि तुम, तुम ज्ञान-गति दिङ्मूढ
तुम भ्रमित, अति थकित-विचलित, चकित भाव-समूह,
सुलझ फिर - फिर उलझती तुम प्रश्न-वृत्ति दुरुह !
तुम पिपासाऽकुल जगत् की प्यास-आशा, नारि,
एक घूँट अपूर्ण तुम मृगतृष्णिका सुकुमारि !

तुम सृजन-मन्थन-जनित विगलित विमल नवनीत,
चलित प्रजनन-चक्र की, तुम स्निग्ध बूँद अतीत।
तुम जगत् नीरस मरुस्थल के बरसते मेह,
तुम तडित् विद्युच्छटा तुम सरसता के गेह।
तुम विराग - विकार मे अनुरागिनी मनुहार।
रार तुम, अविचार तुम, तुम प्यार - अत्याचार।

तुम समस्या अटपटी तुम चिर - रहस्य महान्,
तुम दरस की चटपटी उत्कण्ठिता अनजान।
निपट आँख मिचौनियो की तुम झलक अम्लान,
विगत युग-युग की चिरंतन तुम कसक मुसकान,
हृदय - मन्थन कारिणी तुम मोहमय उन्माद,
कल्पना की कोकिला तुम रुचिर भाव प्रमाद।

खूब बन आयी सलोनी तुम ठसक ठकुरास,
मत्त गज गति मे छिपा आलस्य का आभास।
विहँस, डाला है जगत् के गीव मे गुणबन्ध,
नयन - कलिका मे भरी है अमित मादक गन्ध,
ओ जगत् की स्वामिनी, मायाविनी, तुम धन्य।
तुम प्रकृति के मुकुट का प्रतिविम्ब रूप अनन्य।

■

प्यास

अरे बुझा दो, जरा बुझा दो, यह अन्तर की प्यास, सखे,
किसी तरह तो हो जाने दो इस तृष्णा का नास, सखे,
चिटक रही है रोम-रोम मे चरम पिपासा - आर्त्ति यहाँ,
विकल प्राण ये मुरझ गये है, मुरझी जीवन - आस, सखे,

प्यासी ? नही, यह असफलता का, है भीषण उपहास, सखे,
कौन जतन से आज दबाऊँ यह मादक उल्लास, सखे ?
जब से शुरू हुआ है तब से, थमा नही है छिन-भर भी,–
होता ही रहता है निशि दिन मेरा शोणित-रास सखे,

यह विकास की व्यथा रूपिणी अमिट प्यास लग रही मुझे,
यह मेरी युग युग की वैरिन निपट आस ठग रही मुझे ?
आखो के खप्पर मे पानी भरा हुआ है फिर भी तो–
ऐसी है यह प्यास भयानक, कि यह बुझाये नही बुझे !

हरदम यही लगा रहता है कि बस गटक जाऊँ घूँटें,
यही चाहता हूँ कि रात - दिन अपने राम सुरस लूटें,
जागृति मे तो तृष्णा है ही, पर मै तो सपने मे भी–
तडपा करता हूँ, बोलो तो, कैसे ये बन्धन टूटें ?

निग्रह के विग्रह की विपदा, सयम के भ्रम की दुविधा,
सहन कर चुका हूँ यह सब भी, पर, न हुई कुछ भी सुविधा,
विकट व्रतो से प्रबल इन्द्रिया, और प्रमन्थनशील हुई,
यम - नियमो के उपचारा से हुई न हिय की प्यास विदा,

मन ललचा उठता है लख-लख रस से भरे नये घट को,
प्राण तडप उठते है लखकर घट पर ढँके हुए पट को,
अधरो को उत्पीडित करती पिपामार्त्ति आ जाती है,
समझावे ? कैसे समझावे कोई इस मन - मर्कट को,

कौन कह रहा है कि बँधा हूँ मैं अपनी सुतली से ?
ज्ञानी, कर न अनादृत जीवन यो निज भाषा तुतली से,
बन्धन के खण्डन की बातें, बडी अधूरी हैं, ज्ञानी,
यही जग भी वग चलना है प्यासे दृग की पुतली से ?

प्राण अटक जाते है यो ही इस तृष्णा के फन्दे मे,
कि झट तोड दूँ वन्धन इतनी ताव कहा है वन्दे मे ?
कभी-कभी तो यह सोचूँ हूँ कि है यम-नियम व्यथ निरे,
ना जाने क्या धरा हुआ है इस सब गोरख धन्धे मे ?

यह न सोचना, यार, कि मै हूँ यो ही निरा निठल्ला-सा,
ज्ञानी, मम अन्तस्तल मे भी, लगता है इक टल्ला सा,
अपने चढने को मैने भी कुछ सोपान बनाये थे,
ढेर हो गये वे सब, हिय मे जब उट्ठा हो हल्ला सा,

मै हूँ दो पैरो का प्राणी, मै प्यासा, मै दीवाना,
मै धरती पर चलने वाला, मै आशिक, मै मस्ताना,
मुझे क्या पडी है कि रोक दूँ मै अपनी यह प्यास वृथा ?
मृग-तृष्णा ही तो यौवन है, जीवन है प्यासे जाना,

सयम की असफलता का हूँ एक पुज मै, रे ज्ञानी,
निग्रह की व्यर्थता कथा का, एक सग हूँ मै मानी,
सयम की, उच्छृखलता की, मै हूँ एक पहेली, रे,
मै मानव हूँ, देव नही हूँ, सुन ले ज्ञानी अज्ञानी,

मैं मानवता की कमजोरी, मै मानव की शहजोरी,
शत शत सहस्राब्दियो की हूँ मै गुण बन्धन की डोरी,
अब सहसा अतिनिगुणता की आशा तुम क्यो करते हो ?
मै सेन्द्रिय हूँ, सुनो, नही मै निपट निरिन्द्रियता कोरी।

फिर भी 'प्यास बुझा दो', यो मै कह उठता हूँ हो व्याकुल,
अमित वेदना जब तडपाती मेरी सुघड साध मजुल,
किन्तु पूर्ति का प्यासा हूँ मै, नाशेच्छुक हूँ नही जरा
प्यास लगे तो सही किन्तु हा वह आवे रस भी ढुल ढुल।

रेल पथ आगरा स कानपुर
१८ दिसम्बर १९३८

■

तव मृदु मुसकान, प्राण

शीतभीरु सुमन सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण,
जिससे उठ रही अमित, मन्द-मन्द, मधुर घ्राण।

फुल्ल-प्रियक सम लहरी तव कुसुमित साडी नव,
रम्य हेम पुष्पक सम निखरा तव छवि वैभव,
बकुल सुमन-राशि सदृश, सौकुमार्य, प्रियतम, तव,
फैल रहा तव सौरभ पारिजात के समान,
शीतभीरु सुमन सदृश, तव मृदु मुसकान, प्राण।

लोल लचकमय कम्पित तव शरीर-लतिका यह,–
मृदु मजुल वजुल सम सिहर रही है रह रह,
यूथिका प्रसून झरें तव वचनो से अहरह,
बने सुमन रूप आज तुम मेरे प्रिय सुजान,
शीतभीरु कुसुम सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण।

मैं शत शत सुमन-राशि वारूँ, प्रियतम, तुम पर,
न्योछावर है तुम पर मृदुल भाव हे हियहर,
नयना पर बलि होने आये खजन नभचर,
नीलोत्पल दल सकुचे निरख ललित भ्रू कमान,
निरुपम है, चिर निरुपम तव मृदु मुसकान, प्राण।

शरद-निशा

आज यह शरद निशा बरसे, शवरी मे मधुरस सरसे।
आज यह शरद - निशा बरसे।

बहा रुदन गायन यह छन-छन मगन गगन सरसे
चुई पड रही मधुमय पीडा सकल चराचर से।
आज यह शरद - निशा बरसे।

दरद-परम की सरस चाट चू रही कलाधर से,
हँस हँस कसक दान देते हैं, निशिपति अम्बर से।
आज यह शरद-निशा बरसे।

पिय के दरस बिना कारागृह मे लोचन तरसे,
परस कहाँ हम तो ह बहुत दूर उनके घर से
आज यह शरद-निशा बरसे।

विलसित दिङ्मण्डल हुलसा नभ शशि मृदुकर - से,
मेरे कारा के पादप भी हुए उजागर - से
आज यह शरद - निशा बरसे।

मन्मथ फलस्वरूप आये तुम शशि - रत्नाकर से,
तुम न मथो हिय निकलेगा प्रतियोगी अन्तर से,
आज यह शरद - निशा बरसे।

आज हुलसे प्राण !

ओ निठुर तुमने दिया यह नेह का वरदान ?
हुलसे आज आकुल प्राण !

उन मृदुल प्रियतम चरण पर,—
अश्रु-भीने युग नयन धर—
हो गया कृतकृत्य जीवन—
थामकर हिय आह क्षण - भर,
एक त्रुटि वह युग बनी, युग बन गया क्षण मान,
पीतम आज हुलसे प्राण !

सुघड साँचे मे ढले हो,
प्राण ! तुम कितने भले हो,
चिर निराश्रित विकल हिय को,
यो सहारा दे चले हो !
सिहर उट्ठा यह पडा था, जो निरा म्रियमाण !
पीतम आज हुलसे प्राण !

विकट मेरी दूर मञ्जिल,
राह बन्धुर, निपट पङ्किल,
है सहारा अगम मग म
तव चरण नख ज्योति झिल मिल,
मिल गयी यौवन निशा म ज्योतिमय मुसकान,
पीतम आज हुलसे प्राण !

पार करना है मुझे प्रिय,
गहन गह्वर शिखर सेन्द्रिय,
क्यों अभी से पूछते हो,—
कि कब होऊँगा अतीन्द्रिय ?
घोर विषयासक्तिमय है, अनासक्ति विधान।
पीतम आज हुलसे प्राण!

तुम सरद शुचि कमल लोचन,
तुम सकल सकट विमोचन,
आज कर दो इस विधुर के,
आज कुकुम तिलक रोचन,
दो पराजित के विजय का चिह्न हे रसखान!
पीतम आज हुलसे प्राण!

आ गये तुम यो झिझकते,—
विरत जीवन मे हिचकते,
अब बने रहना सदा यो,
है दिवस बीते सिसकते,
दीन की कुटिया करेगी कौन-सा सन्मान ?
पीतम आज हुलसे प्राण!

शाक्त में तुम शक्ति मेरी,
भक्त मे तुम भक्ति मेरी,
नेहयोगी मै, सजन - तुम,
प्रेममय अनुरक्ति मेरी,
गीत कर्ता मै बने तुम मन प्रफुल्लित गान!
पीतम आज हुलसे प्राण!

तुम अभयमय गान मेरे,
विश्व विप्लव धान मेरे,
क्रान्ति - दर्शी मैं, सजन तुम,
क्रातिमय भगवान् मेरे !
क्रान्तिमय विश्रान्तिमय तुम शान्तिभूय सुजान !
पीतम आज हुलसे प्राण !

वाध लो पौरस्थ रसरी मे
सजन इस थकित जन को,
शिथिल वाँहो को वना लो,
ग्रीवमाला एक क्षण को,
एक क्षण वह दो चुनौती, दे,
युगान्तर के सृजन को
अवधिहीन अशेष मे हो शेष का अवसान !
पीतम आज तुमसे प्राण !

स्वागत

प्रश्न क्या गुनगुना रहे हो, कवि, ?
उत्तर जीवन की टूटी तान ।
विस्मृत-घटिकाओ के सपने का मीठा-सा गान,
आज गुनगुनाता हूँ अपने गत जीवन का राग,
याद नही पडते भूले स्वर, मिटे पुराने दाग ।

प्रश्न मिट जाने दो विस्मत-स्वर की वह धुँधली-सी रेख,
क्या करते हो याद विगत रत जीवन का अविवेक ?
अहो हो गया बहुत, भूल जाओगे सारे खेल,
बचे खुचे जीवन की अब क्यो करते हो बेमेल ?

उत्तर अरे, विराग सिखाने वाले इधर जरा तू देख,
कुछ क्षण को तू यही छोड दे अपना ज्ञान विवेक।
देख उमड आये है मेघा, सन सन बह बयार,
भीनी माटी की सुगन्ध करने आयी है प्यार,
बूँद शीतलता लायी है, अपने मग बटोर,
जड चेतन हुलसे है, नाच रहे जगल मे मोर,
ऐसे समय, बता दे, क्यो न जगाऊँ विस्मृत-राग ?
अरसिक, मुझे सिखाने आया कैसे आज विराग ?
अरे, कसक हिय मे, स्वर की सस्मृति हुई विलीन,
याद कर रहा हूँ विस्मृत स्वर इसीलिए मै दीन।

प्रश्न व्यर्थ गुनगुनाओगे अपनी वह टूटी-सी तान ?

उत्तर इसीलिए न, कि मेरे प्रिय को नही स्वरो का ध्यान,
इससे क्या होता है ? रहे गनीमत मेरा राग,
जाकर, रो दूँगा, – जागेगे मेरे फूटे भाग,
गायन उनको नही सुहाता, उन्ह रुदन से प्रेम,
मेरे प्रिय की यह है एक अदा – यह उनका नेम।
उनके आगन मे रहती रोनेवालो की भीड,
मैं भी उसमे मिल जाऊँगा हो करके गत पीड।

प्रश्न तो फिर, सीधे-सीधे रोते हो क्यो नही अधीर ?
गाने का आयोजन क्यो करते हो हिय को चीर ?

उत्तर ' हे अज्ञानी पृच्छक, तुम क्या जानो यह सब बात ?
तुम्ह क्या पता गायन का कैसा होता प्रतिघात ?

रुदन - व्यथित से हृदय देश का हू-हू हा-हाकार,
–यह –है मातो स्वर के चरम हृदय-मन्थन का सार।
इसीलिए मै पहले गाकर रोता हूँ – और,
हिचकी ले, हिय मे दुलराता हू अपना चित चोर।

मेरे गृह मे गीत, रुदन, का करता है अभिषेक,
मेरे शब्द कोष मे रुदन और गायन हैं एक।

■

घुन

लगा है जीवन मे घुन एक
या कि विरह की रुदन-वेदना की है यह अतिरेक ?

हुआ खोखला हिय का दाना
घटा भाव का मूल्य पुराना
किस काटे मे तौलूँ इसको
किससे कहूँ कि लेने आना
सभी आनकर ठुकराते जाते हैं इसको देख।
लगा है जीवन मे घुन एक।

बहुत नही बीते हैं कुछ दिन
रहा क्लेश का लेश कदापि न
अब तो ना जानूँ यह क्या है
रह-रह टीस उठे हैं छिन-छिन
दिन गिन गिन विनती की पर ना मिली दरस की रेख।
लगा है जीवन मे घुन एक।

हे घुन, चुन-चुन कर तू खाना
इस अस्तित्व-शून्य का दाना
होवे नाश, न रहने पाये—
अक्षत-हिय का भरा खज़ाना
बस आवरण मात्र रह जाये इतना रहे विवेक।
अरे सुन, जीवन के घुन एक!

जीवन को कर रन्ध्र पूर्ण तू
कर निर्दयता-भाव दूर न तू
दया-मया को दिये तिलाजलि
मन का कण कर चूर्ण-चूर्ण तू
निर्दय सा, निर्मम सा निष्ठुर तू अपने को लेख।
अरे ओ जीवन के घुन एक!

फागुन

अरे ओ निरगुन फागुन मास!
मेरे कारागृह के शून्य अजिर मे मत कर वास।
अरे ओ निरगुन फागुन मास।

यहाँ राग, रस, रग कहा है?
झाझन, मदिर मृदग कहाँ है?
अरे चतुर्दिक् फैल रही यह
मौत भावना जहा तहा है—
इस कुदेश मे मत आ तू रसवश हँसता सोल्लास,
अरे ओ भोले फागुन मास!

कोल्हू मे जीवन के कण-कण—
तेल-तेल हो जाते क्षण-क्षण।
प्रतिदिन चक्की के घर्मर मे ?
पिस जाता गायन का निक्वण।
फाग सुहाग भरी होली का यहाँ कहाँ रसरास ?
अरे ओ मुखरित फागुन मास!

रामबास की कठिन गाँस मे
मूँज बान की प्रखर फास मे,
अटकी है जीवन की घडियाँ,
यहाँ परिश्रम रुद्ध साँस मे।
यहाँ न फैला तू वह अपना लाल गुलाल विलास,
अरे अरुणारे फागुन मास!

छायी जजीरो की झन झन,
डण्डा-बेडी की यह घन-घन,
गर्रे का अर्राटा फैला,
यहाँ कहाँ पनघट की खन खन ?
कैस तुझको यहा मिलेगा होली का आभास।
अरे हुरिहारे फागुन मास!

वह निबन्ध भावना ही की
चपल तरगे अपने जी की—
इन ताला जँगलो के भीतर—
घुट घुट सतत हो गयी फीकी।
अब तू क्या मदमाता ताण्डव करता रे सायास।
अरे मतवाले फागुन मास!

साकी !

साकी ! मन-घन-गन घिर आये, उमडी श्याम मेघ-माला,
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर-भर ला गहरी गुललाला !

तन के रोम-रोम पुलकित हो,
लोचन दोनो अरुण-चकित हो,
नस-नस नव झकार कर उठे
हृदय विकम्पित हो हुलसित हो
कब से तडप रहे है — खाली पडा हमारा यह प्याला ?
अब कैसा विलम्ब ? साकी भर - भर ला अगूरी हाला !

और ? और ? मत पूछ, दिये जा,
मुँह मॉगे वरदान लिये जा,
तू बस इतना ही कह - साकी,—
और पिये जा ! और पिये जा !!
हम अलमस्त देखने आये है तेरी यह मधु-शाला,
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर - भर ला अगूरी हाला ।

बडे विकट हम पीने वाले,
तेरे गृह आये मतवाले,
इसमे क्या सकोच ? लाज क्या ?
भर-भर ला प्याले पर प्याले
हममे बेटन्न प्यासो से पड गया आज तेरा पाला,
अब कैसा विलम्ब ? साकी, भर - भर ला अगूरी हाला ।

हो जाने दे गर्क नशे मे,
मत आने दे फर्क नशे मे,
ज्ञान - ध्यान - पूजा - पोथी के—
फट जाने दे वर्क नशे मे।
ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक वार तो मतवाला।
साकी, अब कैसा विलम्ब ? भर - भर ला अगूरी हाला।

तू फैला दे मादक परिमल,
जग मे उठे मदिर-रस छल छल
अतल-वितल-चल अचल-जगत् मे—
मदिरा झलक उठे झल-झल-झल,
कल कल छल-छल करती वोतल से उमडे मदिरा वाला,
अव कैसा विलम्ब ? साकी, भर - भर ला अगूरी हाला।

×

कूजे-दो कूजे मे बुझने वाली मेरी प्यास नही,
बार - बार 'ला-ला !' कहने का समय नही, अभ्यास नही।

अरे वहा दे अविरल धारा,
बूँद-बूँद का कौन सहारा ?
मन भर जाय, हिया उतरावे,
डूबे जग सारा - का - सारा।
ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुललाला।
साकी, अब कैसा विलम्ब ? ढरका दे अगूरी हाला।

सो जाने दो

सो जाने दो, अब न चुभाओ इस जागृति के शूल,
आख मीचने दो, होने दो चेतनता उन्मूल।
यह सज्ञा, यह ज्ञान भाव है भोले हिय की भूल,
मुझे उढा दो, आज अचेतनता का श्याम दुकूल।
आज खिल रहे मेरे आँगन घनी नीद के फूल,
सो जाने दो, मेरी इतनी विनती करो कबूल।

यह धूमावृत दिङ्मण्डल सोया है लम्बी तान,
सखी, साझ की वेला तरुवर भी सोये अज्ञान।
निश्चेष्टता कराने आयी आज मदिर - रस - पान,
नीद नीद, सब ओर नीद का छाया स्वप्न-वितान।
अरी साज ले लेने दो अजलि-भर निद्रा - दान,
सो जाने दो अब न सुनाओ जागृति के गुणगान।

भीने - भीने नूपुर पहिने श्याम चदरिया ओढ—
धीमे - धीमे निदिया आयी चेतनता गुण तोड,
सतत जागरण की दुखदाई कसक हुई कुछ लोप,
अब तो कृपया करो न मुझ पै भ्रू विलास का कोप।
इस अँधियाले मे मत चमकाओ बिजली की रेख,
मेरे नीद-गगन मे मत छिटकाओ यह अविवेक।

झपकी लगते ही जग जाती है सपने की भ्रान्ति,
यह किंचित् विश्रान्ति बन गयी हाय हृदय की क्रान्ति।
पलक लगे, जग ने समझा सोया हूँ मैं अनजान।
पर मैं जानूँ हूँ कि नीद का कैसा है वरदान।

किसका दोष ? तुम्हारा है या मेरा ? बोलो प्राण !
अरी, नीद म भी तक तक क्यो मारो हो स्मृति-बाण ?

रेल पथ बनारस से कानपुर
२४ अगस्त १९३१

■

आवृत

जीण क्षीण आवरण लपेटे बडे जतन से, हाय,
लिये जा रहा हूँ मै अपना भेद भरम निरुपाय,
तुम न टटोलो इसमे क्या है ? टीस उठेगी, बाल,
होगी कसक, जरा होगा इस हिय का हाल बिहाल।
ढँका - मुँदा रहने दो उसको, अब न करो खिलवाड,
भेद खुलेगा, री सजनी, कुछ तो रहने दो आड।

रीती हँसी, अनमनी बाते, क्षीण मन्द मुसकान,-
इनके झीने पट मे लिपटा एक दरद अनजान।
खूब छिपाने की कोशिश म रहता हूँ दिन - रात,
फिर भी झलक दिखाई दे जाती सहसा अज्ञात,
कभी हँसी मे, कभी खुशी मे, कभी बात के बीच-
आह निगोडी व्यथा-कथा को ले आती है खीच।

यूँ तो अभी समझते कोई कुछ, कोई कुछ, बात,
सजनी मेरे मम्भ्रम की है क्या अभी अज्ञात,
छेड-छाड कर तुम न उजागर करो उसे चहुँ ओर,
विश्व - व्यापिनी हो जायेगी मेरी मृदुल मरोर,
यो ही लोग कहा करते हैं पागल बडा 'नवीन',
फिर तो हम + तुम + यह जग मिलकर होंगे पागल = तीन!

■

विश्व-व्यापी

मेरे पत्ते-पत्ते मे बैठी है कौन ?
पर्वत की रोमावलियाँ ये हैं क्यो मौन ?

किया इशारा नाच उठी रोमावलियाँ,
जरा निहारा काँप उठी मन मालिनियाँ।
नदियाँ बहने लगी हृदय पत्थर पिघला,
बडी बुरी है हाय ! प्यार की ये गलियाँ।
मैं पूछूँ – मेरे पत्ते मे बैठी कौन ?
पर्वत की रोमावलियाँ ये हैं क्यो मौन ?

क्या देखा ? सब कुछ देखा,–स्वीकार किया,
भूधर का अपने नेत्रो पर भार लिया,
शिला-खण्ड देखे नगो का रूप लखा, –
वृक्षावृत–शिखरो पर मन को वार दिया।
पर इन सबमे छिपकर वह बैठी है कौन ?
पवत की रोमावलियाँ ये है क्यो मौन ?

प्रकृति निरीक्षण के लायक, यह मन न रहा,
उस कृत्रिम मूरत से कुछ जाता न कहा।
जहाँ उठायी आँख उसे पहले देखा,
विरह-वेदना का विचित्र व्याघात सहा।
वह हँसती, निष्ठुर-सी, लज्जित सी है कौन ?
जिसके कारण प्रकृति नटी बन बैठी मौन ?

वन की बीहडता मे जो मै शरण गया,
तो देखा आया मेरा यह मरण नया।
ठेला उसके, चरणो से अपने को दूर,
पर मन मे वह चरणो का आभरण गया।
इधर-उधर छायी है वह लज्जित-सी मौन ?
लता-पत्र से झाँक रही वह देखो कौन ?

लजवन्ती हो जाओ अवगुण्ठन की ओट,
निठुर पहाडो पर आ-आ कर करो न चोट।
घोट-घोट कर है मन का महार किया,
छुप जाओ, वरना हो जायेगा विस्फोट।
नेह सुघट छलकेगा सुन ओ मूरत मौन ?
हँस हँस लोग कहेगे यह है पागल कौन ?

■

तुम्हारा पनघट

एक बार अपने पनघट पे–
चढ आने दो, चढ आने दो,
इसी बहाने मेरे जीवन–
का तुखार कुछ कढ जाने दो।
इस पनघट की गागरियो की–
खन-खन सुनकर खिंच आया हूँ,
अतल नीर का मर्म समझने–
को यह उत्सुक घट लाया हूँ।

जरा विकम्पित पाँव थाम दो,
मेरे मालिक, फिसल रहा हूँ,
निर्मल शीतल जल लेने को
आज अचानक इधर बहा हूँ।

देश-देश के सुरस छबीले,
पनघट से भर नीर ले गये,
अपनी फुलवारी को सीचा,
जग को मधुरा पीर दे गये।

कैसे-कैसे पुष्प खिले हैं–
कि सब विश्व का प्रागण फूला,
दुखित हृदय का क्रन्दन–
उनको देख, आप अपने को भूला।

हे उदार दानी, इस पनघट के–
मधु रस का पान कराओ,
मेरे सूखे घट को अब तो
जरा देर को स-रस बनाओ।

खाली घड़ा बिचारा, गरए–
बोल बोलता रहा सदा यह,
अब की इसका गला फँसा है,
रख लो लाज बाँह मेरी गह।

मुझे न कहना–अरे ठहर जा,
बडे बडे हैं यहाँ परीक्षक,
मैं भी तो बरसो का मारा–
हूँ छोटा सा एक प्रतीक्षक।

पनघट से मधु भर लेने दो,
मेरी विनय सुनो शुचिसाधक,
अपनी प्यारी हठ को मेरे मग की–
करो न तुम प्रतिरोधक।

सूखा-रूखा घडा बिचारा—
ऐंठी हुई रज्जु यह दुर्बल—
आस लगाये बहुत समय से,
ये दोनो अकुलाते पल-पल।

मजु घाट पर, तुम शिव-सुन्दर,
नव रस जीवन लुटा रहे हो,
बडे-बडे विख्यात कविगणो—
की भीडो को जुटा रहे हो।

मुझको भी घट भर लेने दो,
इस पथ पे प्रभु बढ आने दो,
एक बार अपने पनघट पे—
चढ आने दो, चढ आने दो!

■

जाह्नवी के प्रति !

गगे, क्यो उमडी जाती हो?
निशिदिन किस अश्रुत गायन की कौन कडी गाती हो?

इस नैराश्य दीप के झिल मिल प्रकाश मे आज,
सुरझी है जीवन प्रहेलिका तुम क्यो उरझाती हो?

आज निराशा बरसी अकुर हुआ पल्लवित खूब,
तुम आशा की लय से उसको क्यो मुरझा जाती हो?

किस प्रसग मे? किस दिनान्त के किस क्षण मे हो शून्य,
किन हाथो ने तुम्हे लिखा? तुम प्रथम नेह-पाती हो?

किन्तु प्रेम के पत्र रूप से मत आओ, हूँ-क्षीण।
मेरा तेल सुखाने को आ जाओ तुम बाती हो।

जल उठने दो जीवन दीपक भक् से होऊँ धन्य।
उसकी लौ लहराने दो, जैसे तुम लहराती हो?

मेरी निष्ठुर प्रतिमा उसको देख कह उठे धन्य!
मानो भग्न दुग पर फटी ध्वजा फहराती हो!!

■

प्रश्नोत्तर

प्रथम मन ही मन लड्डू मत फोडो,
कुछ तो मुझे बताओ,
क्यो बैठे हो? अरे जरा तो,
हिय का हाल जताओ।
किस जादू की लकडी ने,
कर दिया तुम्हे दीवाना?
बोलो तो, यह कौन खेल,
रच रक्खा है मनमाना?
धारे मौन, डुलाकर ग्रीवा,
आज मुझे न सताओ,
मन ही मन लड्डू मत फोडो,
कुछ तो जरा बताओ?

द्वितीय क्या कहते हो?

प्रथम यही।

कि मेरे,
हिय के वद्ध कपाट खुलें ?
क्या चाहते हो कि ये मेरे,
सोये सम्भ्रम हिलें - डुलें ?
कच्ची नीद उठाओगे ? टुक –
सो लेने दो जरा इन्हे,
बडे कठिन से सोते हैं वे,
मनोराज्य का रोग जिन्हे।
धीरे - धीरे वतियाओ मत,
पूछो मन की बात सखे,
प्रश्नो के झकझोरो से,
होता हिय मे आघात सखे।
मत खोलो, प्रश्नो का धक्का –
देके ये किंवार मेरे
तडप उठूँगा – शोर मत करो,
आकर आज द्वार मेरे।
बार-बार करके प्रयास मैं,
बन्द कर सका हूँ इनको,
सदा खुले रहने ही मे,
आता आनन्द अहो जिनको।
विस्मृति के घन तम मे आवृत,
रहने दो कुटीर मेरी,
स्मृति - प्रकाश - रेखा से द्विगुणित,
होती आह पीर मेरी।
दया करो – अपनी पृच्छागुलि
से, न खुजाओ व्रण मेरा,
पट्टी बँधी हुई है अभी,
थमा है चिर-द्रवण मेरा।

टीस उठेगी विक्षत क्षत मे –
यदि देखोगे घाव हरा,
रोम-रोम से आह निकलने –
लग जायेगी ज़रा - जरा।
वाण नही – पैने प्राणो की,
अनी चुभी अन्तस्तल मे,
मम भेद की गूढ वात क्यो,
पूछ रहे हो पल पल मे ?

■

पत्र-व्यवहार

इधर से

यही नही कि हाथ कँपते हैं, हिय भी कँपता आज,
पूरन कैसे होगा पतिया-लेखन का यह काज ?
वडे जतन से, हिम्मत करके, लिखने बैठा पत्र,
पर ना जानूँ कैसे यह हो गया आर्द्र सत्र !
हिय धडके, युग हस्त कँपें, चिट्ठी का ओर न छोर,
थोडे मे समझना बहुत तुम, हे प्राणों की डोर !

मेरे हिय की मंजूषा म नहीं रत्न अनमोल,
और नही है वहाँ भावना की [illegible] !
फिर भी हूँ धर रहा समर्पित [illegible] चरणों म आज,
इसमे क्या है ? तुम मत पूछो, [illegible] आज !
[illegible] – इसमे [illegible]
[illegible]

तुम हो कौन ? जरा बतला दो, हे मेरी सम्भ्रान्ति !
शान्ति-सरणि की धवल रेणु हो, या कि विरह की क्रान्ति !
इस चितवन ने छलनी कर डाला हिय-भाजन दीन,
बूँद बूँद कर टपक गयी वह सुरस-राशि तल्लीन !
बिना नीर के तड़पा करता है अब यह मन मीन,
अरे, जरा तो इसे उबारो आकर हे हिय-हीन !

लज्जा है कि उपेक्षा ? मुझको जरा बता दो, प्राण !
चरणो के नख से ही लिख दो कुछ धीरे से आन !
मेरी भग्न-कुटी, आगन मे, चरण-चिह्न को देख,
सच कहता हूँ, पुलक उठेगी, त्यागे ज्ञान-विवेक !
पर मेरे सँकरे अँगना क्यो आने लगे हुजूर !
फिर पद-नख से लिखने की तो बात बहुत है दूर !

पर इतनी यह मूक भावना क्यो उमडी इस बार,
कहाँ गया वह सजल सलोनी बातो का विस्तार !
सब जग से बोलो हो, हमसे इतनी खफगी ? हाय !
अजी, कभी तो कुछ कह दिया करो हमसे मुसकाय !
इधर-उधर आते-जाते पलको का ढँकना खोल,
हमको तुम क्यो ना दिखलाते अपनी निधि अनमोल ?

क्या जानूँ किस घडी निगोडी आँखें अटकी आय,
उसी पाश मे बँधी फिरें हैं, जरा न ये शरमायँ !
तुमको क्या ? तुम तो इस गति को समझे हो खिलवाड,
बडी लाज की मूरत बन, करते हो बन्द किवाड !
झाकी कर लेने दो, वरना ये लोचन बेचैन,
तडप-तडप कर बन जायेंगे सूरदास के नैन !

क्या कहू तुम्हे करूँ सम्वोधित ? लिखते लगती लाज,
'प्या ' लिखते ही कलम निगोडी कँप जाती है आज ।
एक यही अक्षर लिख लिख कर कागद करे खराब,
यह लेखनी ढीठ है नेक न सहती मेरी दाब ।
यह तो मचल-मचल पडती है, कैसे समझे ? हाय !
पत्र पडा लिखने को, मैं तो आज हुई निरुपाय !

सब जग मुझे दोप देता है मै हूँ बडी कठोर,
साथिन कहती कि मैं रुलाती हूँ अपना चित - चोर !
'ऐसा भी क्या मूक प्यार जो कभी न ले सुध, आह !'
यो चुटकी लेती हैं सखियाँ मुझको चलते राह !
मैं क्या करूँ लाज डाइन यह मुझको खाये जाय,
इधर तुम्हारा ध्यान कोंचता मुझे रुलाय - रुलाय !

भर आखो मे नीर, हिये मे पीर, भिगोये चीर,
कैसे लिखूँ नेह-पाती, तुम ही बोलो मति - धीर !
बार - बार कागद पसीज उठता—मेरा क्या दोप ?
यह कुण्ठिता लेखनी निष्क्रियता मे पाती तोप ?
स्याही ? स्याही—वह तो सूख चुकी कब की विरहेश,
जब से तपिश हुई तब से स्याही का रहा न लेश !

आओ, आज बलैया ले लूँ इस भादो के बीच,
रिम-झिम बरसो, अहो मचा दो मेरे अँगना कीच !
मै दौडी आऊँ स्वागत को, फिसल पडू हरपाय,
तुम घबराये - मुसकाये - से बाँह पकड लो आय !
उस क्षण मेरी लोक - लाज का गढ हो जाये चूर्ण,
यो ही पत्र अधूरा मेरा होता जाये पूर्ण,

निम्साधना तुम्हारी दासी, बाधाएँ भरपूर,
इस पर यह न पता कि कहाँ हो तुम हो कितनी दूर ?
नाम गाँव सब भूल गयी हूँ मै बौरानी नार,
केवल रूप - छटा है आँखो मे, हिय मे, इस बार !
सिरनामा लिखवा दो आ के, ज़रा हाथ लो थाम,
ज़रा बता तो, आ परदेसी, अपना मृदु उपनाम !

-

उन्माद !!!

ओ एक ठेस, ओ एक याद ! ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

आशाओ के तुम चूर - चूर,
तुम मस्तक के पुँछते सिंदूर !
तुम हृदय दहन की ज्वाल क्रूर,
थिर चित्तवृत्ति से दूर - दूर,
तुम गहन सहन के दुसहस्वाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम अरमानो के क्षार-क्षार,
तुम विकल मनोरथ की पुकार,
चिन्ताओ के तुम कठिन भार,
उद्विग्न चित्त के तुम विकार,
तुम सर्वनाश के चिर - प्रसाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम सस्मरण की धूम्ररेख
विस्मरणो के तुम गत विवेक,
सम्भ्रम प्रेरित हृदयानुलेख,
तुम गत गायन का विगत टेक,
तुम बुद्धि - वैभवो के प्रमाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

मन - अम्बर के तुम ओर - छोर,
चिन्ता की तुम घन-घटा घोर,
तुम गत प्रकाश की किरण कोर,
तुम मेरी आकुलता अथोर,
तुम शिथिल पराजित प्रणयवाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम ज्ञान-रज्जु के टूक-टूक,
तुम हिय उच्छृंखलता अचूक,
अनियन्त्रण की तुम गहन हूक,
तुम भ्रमित चित्त की भूल चूक,
तुम निज स्वरूप विस्मृति अगाध, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

निष्ठुरता के तुम फल कराल,
अस्थिरता की अटपटी चाल,
तुम जागृति के सुख स्वप्नजाल,
तुम स्वप्न जागरण सन्धिकाल,
तुम विकृत कल्पना-गति अबाध, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम चिर कोमलता पदाक्रान्त,
तुम मन कल्पना थकित, श्रान्त,
तुम हिय-प्रवाह - उद्गम अशान्त,
तुम वाछा, विफल, असिद्ध, भ्रान्त,
तुम मगन लगन की तृषित साध, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

कुचले हिय की तुम कथा शेष,
दुर्दैव - कोप के फल विशेष,
तुम सीमोल्लंघित चरम क्लेश,
तुम पुण्य प्रेम साधना लेश,
तुम क्रिया शून्य सज्ञावसाद, ओ तुम मेर हृदयोन्माद !

प्राणों की तुम तड़पन अजान,
तुम शून्य ध्यान, तुम शून्य ज्ञान !
तुम मन - विभ्रम - सम्भ्रम महान्,
तुम हो चिर-विस्मृत देह - भान,
तुम चिर अरण्य-रोदन-निनाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !

तुम नयी सृष्टि के नवल प्रात,
पागल की दुनिया के प्रभात,
स्मृतिदीपशिखा - नाशक कुवात
तुम चिर-दिनमय तुम सतत रात,
तन्मयता युग के प्रथम पाद, ओ तुम मेरे हृदयोन्माद !!

■

आकुल की उपासना

चाहे दुःखों की ये झड़ियाँ लगें,-लगें तो खेद नहीं,
इससे इस अस्तित्व मात्र का होगा यों विच्छेद नहीं !
किन्तु अरे गोपाल, नेत्र जब बरसें तब हो यह ध्यान !
'इस अंजलि का मेरे-'मोहन' के चरणों पर हो अवसान !'

राग रंग की रम्य राजसी रचना-रज्जु रिझाने को,
जाल बिछाये तब निस्पृहता मेरी आज निभाने को,
कम्पित हो कह उठे, 'सलोने !' चने समर्पित मीठे हैं !
किन्तु मुकुन्द ! तुम्हारी भाभी के तण्डुल से सीठे हैं !!'

चाहे यह नैराश्य अग्नि नव-जीवन तरु झुलसा देवे,
किन्तु कन्हैया मेरा हियरा यह विचार हुलसा देवे, -

इस नीरस पादप की डाली पर मैं झूला बाँधूँगा।
'उसमें अपने चित्त चोर को दुलराकर आराधूँगा।'

"बालदशा मति मुग्धे चोरित दुग्ध व्रजागना भवनात्,
तदुपालम्भ वचोभय विभ्रम नयने रतिर्मेऽस्त्वकस्मात्।"
महद्भयावह कुपरिस्थति मे रसना रटे यही रति-पाठ।
माखन के लोभी, बन जाये यही मन्त्र जीवन का पाठ॥

■

दीप माला

बहिना! आज सँजा दो धीरे-धीरे दीप-अवलिया,
घनी साँझ की वेला आलोकित हो जीवन-गलिया।
सूखे दीप, तेल के प्यासे, भर दो पलियाँ पलियाँ।
अचल ओट करा, खिल जायें मृदु सन्ध्या की कलियाँ,
मन्द वायु मे डोल उठे ये नव-प्रकाश की डलियाँ,
बहिना, आज सँजा दो धीरे-धीरे दीप-अवलियाँ!

बडी जुगत से इन्हे जलाना, भोली, नन्ही रनियाँ,
हौले-हौले चलना, बज न उठे मीठी पैंजनिया,
दीप-मालिका गूँथो रानी, लाख-लाख की मणिया,
पर बाती पे टपका मत देना, लोचन की कणियाँ।
खील, बतासे और खिलौने ले ला कनियाँ-कनिया।
बहिना! आज सँजा दो, धीरे-धीरे दीप-अवलियाँ।

■

यौवन-मदिरा

भर-भर प्याले यौवन मदिरा के देना अब बन्द करो,
इस मादक गुण से हे स्वामी, मुझे जरा निर्बन्ध करो।
मन्द करो उन्मत्त भाव के प्रति, मेरा उल्लास नया।
मेरी सासे, कर लो अपने, श्री चरणो मे तुम विजया।
आज वासना की चिनगारी,-
उडती फिरती मारी मारी,
कई तूल तो झुलस चुके हैं,
अब आयी जगती की बारी,
स्वामी, नैतिकता की डोगे जल जायेगी, बन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो॥

चचल हृदय स्थल को बन जाने दो स्थिरता अनुगामी,
वरना धडक धडक कर फट जायेगा यह मेरे स्वामी।
नामी कुटिला मे, किन्तु तुम्हारा ही कहलाता हूँ।
यह सच है कि कुलच्छन से मै राउर हिय दहलाता हूँ॥
हे निर्दोष, दोष का घर हूँ
पाप पुज का मैं आकर हूँ।
पर फिर भी प्रभु का अनुचर हूँ,
तुम सागर की मै गागर हूँ,
इसी लिए प्रिय, घटाकाश के ये सारे फरफन्द हरो,
भर-भर प्याले यौवन मदिरा के देना अब बन्द करो॥

खडी दूर पे लोक-लाज मुझसे कहती है सँभल जरा।
इधर सामने यौवन मादकता कहती है – मचल जरा।

मचलूँ या कि सँभल जाऊँ, कुछ तुम्ही कहो निठुर स्वामी,
मचल चुका मै वहुत सँभल जाने दो अब अन्तर्यामी !!
सुन लो यह आक्रोश हृदय का,
है यह हा-हाकार प्रलय का,
लय इसको प्रभु हो जाने दो,
मेटो खटका घोर अनय का।
वरना और कीच मे फँस जाऊँगा फिर आनन्द करो,
यदि ऐसा ही चाहो तो प्याले देना मत बन्द करो !!

क्रन्दन से प्रशस्त जीवन पथ कौन कर सका है प्यारे ?
आत्मा ही के अभिवन्दन से होते है न्यारे - न्यारे !
यह सब मैं जानता खूब हूँ कि ये युद्ध की घडिया हैं,
निग्रह - अग्निकुण्ड है, – कुवासनाएँ आर्द्र लकडिया हैं,
यह सब मैं जानूँ हूँ प्रियतम,
ज्ञान मझे है विषम और सम,
पर इतनी ही सी विनती है,
जरा आग सुलगा दो इस दम,
मेरे अण्डाकृति जीवन मे आग साम्य ब्रह्माण्ड भरो,
अब छल - छल करते मदिरा के प्याले देना बन्द करो !

जोह रहा हूँ बाट चाव से नये जनम के होने की,
देखूँ यह माटी की प्रतिमा कब करते हो सोने की,
रोने की अन्तिम घडियो का क्षण कब आयेगा देखूँ,
कब यह मनुवा ढीठ पुण्य-पथ पर बढ पायेगा देखूँ,
भँवरो मे मैं फँसा हुआ हूँ,
मत्तभाव से कसा हुआ हूँ,

नदिया उमड़ रही घहराती,
मैं लहरों में गोता हुआ हूँ ।
अरे किनारा बहुत दूर है, प्रिय, मेरे भुजदण्ड धरो,
भर-भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो ॥

होकर मतवाला मैं ऐसा भूला अपने को,
सत्य समझ बैठा हूँ मैं जीवन के कोरे सपने को,
अपनेपन को बांधा, छलिया मन की भोली सम्मृति में,
प्यार पराया देखा मैंने, अपनी ही कल्पित कृति में,
मन का भ्रम है - या कि सत्य यह ?
पागलपन का कठिन कृत्य यह ?
मुझे उबारो करो कृपा कुछ,
थमे ज़रा कल्पना नृत्य यह,
भ्रम विभ्रम - सम्भ्रम बन्धन से अब तो कुछ स्वच्छन्द करो,
भर - भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो ॥

रह - रह टीस उठे हैं, अंग अंग में नव विस्फुरण मचा,
नस - नस कसक रही है तेरे मादक रस ने रंग रचा ।
लचा - लचाकर जीवन टहनी, श्वास बयार डोलती है,
कभी इधर को, कभी उधर को, गति के बन्ध खोलती है ।
यों ही तरु हिलता - डुलता है,
प्रकट कर रहा आकुलता है ।
देखूँ जड़ता के बन्धन से —
यह पादप कबतक खुलता है ।
चैतन्य, जाड्यता, जड़ता में अब इसको निबन्ध करो,
भर - भर प्याले यौवन - मदिरा के देना अब बन्द करो ॥

जब से तुमने चखा दिया है, इस मधु का सुस्वाद नया,
तब से बेहोशी आयी, अपनी सुध बुध भूल गया।
झूल रहा हूँ किसी अनोखे झले मे झोटे खाके।
जरा थाम दो, शिथिल पडा हूँ इधर-उधर झोके खाके।
प्रिय, तुम अब मत पेग बढाओ,
बहुत चढ चुकी, अब न चढाओ,
कहीं हिंडोला टूट जायगा,
मानो कहा न और बढाओ,
चढा हिंडोला नभ की छाती से टकरायेगा, बन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो।

आखो मे छा रहा मदिर रँग, युग कपोल अतिरजित हैं,
वचनावलियो मे प्रलाप की सब क्रीडाएँ सचित है,
पीडाएँ मण्डित हैं, माथे की नस नस मे आज हरे,
व्रीडाएँ खण्डित हो गयी, खो गयी सारी लाज हरे,
मत् गुण के ढीले हैं बन्धन,
छाया तमोगुणी का क्रन्दन,
मौन हो गयी समता-कोकिल,
उजडा मानस कानन-नन्दन।
निरानन्द, अपने जन मे तुम आज सच्चिदानन्द भरो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो,

प्रिय गुदगुदी हृदय मे पैदा करो न सुघड अँगुलियो से
ऐसा खेल न खेलो मेरे हिय की नरम पँसुलियो से।
यो ही लोट-पोट हूँ, अब तुम और अधीर बनाओ ना,
दिखा-दिखा युगलागुलियाँ अब मुझे और उनकाओ ना।

जीवन रस का मदिर त्रास यह,
मचा रहा है घोर रास यह,
सिर चक्कर खा रहा भयानक,
हुआ बुद्धि का राहु ग्रास यह,
जीवन-पथ मे पडा अँधेरा अपनी ज्योति अमन्द करो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो !

आज अधिक गहरे मे हूँ मै तुमने तो की क्रीडा-मात्र,
पर मेरे चहुँ ओर पडे हैं, प्रिय, देखो खाली मधुपात्र !
गात्र शिथिल हैं, पग डगमग पडते है, आँखें झपती हैं,
वचनों को उच्चारित करते, अधर रेख यह कँपती है !
फाँसा मुझको नया-नया था,
जरा दिखाई नही दया क्यो ?
अब हँस पूँछ रहे हो निर्दय-
मधवा इतना चढा गया क्या ?
जोडे हाथ विनय करता, मेरे हिय का निस्पन्दन, रो,
भर-भर प्याले यौवन मदिरा के देना अब बन्द करो !!

भी मुख से कहते जाते हो कि यह बुरी सी आदत है,
पर, आँखो से कहते हो कि पिये जा, क्या ही आफत है,
लिये [illegible] पात्र हाथ मे मादकता को माँगो हो,
[illegible] जाऊँ !—[illegible] क्या करे यदि तुमने [illegible] !!
[illegible] आफत मे [illegible] हो,
[illegible] हो, [illegible] हो,
दोष मुझे फिर क्यो [illegible] हो ?
[illegible] मे [illegible] हो,
[illegible] मे [illegible] मेरे [illegible] करो,
भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बन्द करो !!

अरी धधक उठ !!!

अरी धधक उठ धक् धक् कर तू महानाश की भट्टी प्यारी,
बढ आने दे ये अपनी लपटें लप-लप करती हत्यारी,
धुँआधार अम्बर हो जावे, क्षितिज लालिमा से रंजित हो,
वसुधा की विभूतिया आज चिता की गोदी मे संचित हो !
एक-एक क्षण म सहस्र युग के जलने की हो तैयारी,
अरी, धधक उठ धक्-धक् कर तू महानाश की भट्टी प्यारी !

रँगे खून मे हाथ लोचनो मे प्रपच का कज्जल छाया,
मस्तिष्क मे मोह मदिरा ने अपना चिर नव रग जमाया,
हिय मे घृणाभाव घुस बैठा स्नेह भावनाएँ रोती है,
अन्तरतर मे कायरता की कुत्सित लीलाएँ होती है,
अरे अग्नि के पुज, कहाँ है तेरी दहन शक्तिया सारी,
बढ आने दे अपनी लपटे लप लप करती हत्यारी !

रोम-रोम मे आग लग उठे झुलस जल उठे केशपाश यह,
त्वचा जले ऐसी कि अग्नि का पुज दिखाई दे बस अहरह,
मज्जा की घृत आहुति से आमन्त्रित हो लपटे बढ आवे,
मास पिण्ड को, अस्थिखण्ड की भट चिता मे, हाँ, चढ जावे,
यों जीवन का घृणित मोहमद शव जल जाये यह व्यभिचारी,
अरी धधक उठ, धक् धक् कर तू महानाद की भट्टी प्यारी !!

थकित प्रतीक्षा

हो चली दिन की प्रतीक्षा थकित,
सन्ध्या के क्षणो मे।
रह गये लोचन फटे - से, चकित,
सन्ध्या के क्षणो मे।

हृदय का शोणित सुसचित,—
परस - रस - आभास - वचित,—
उफन फैला अश्रु मिस हो मथित
सन्ध्या के क्षणो मे।

बैठ आशा के हिंडोले,—
स्मरण - वेणी - बन्ध खोले,—
भूल कर दिन - भर लगन है व्यथित,
सन्ध्या के क्षणो मे।

किरण - कुकुम - रग - रजित,
सुरधुनी - जल मध्य अजित,
मेघ छिन मे हुए कल्मष - जटित,
सन्ध्या के क्षणो मे।

ढल चला रवि अशुमाली,
लुट चली आकाश - लाली,
द्रुत विकृति या हो रही है घटित,
सन्ध्या के क्षणो मे।

कोट कगूरे, विछे - से,—
घन - भवन सत मजिले - से,—

हम विषपायी जनम के

कौन निर्मित कर रहा है, असित
सन्ध्या के क्षणो मे ?

त्रिपथगा कुछ कह रही यह,
अति अलस गति बह रही यह,
अश्रु माला - सो हुई है ग्रथित,
सन्ध्या के क्षणो मे।

हो चली दिन की प्रतीक्षा थकित,
सन्ध्या के क्षणो म।

■

आगमन की चाह !

ललित, उत्कण्ठित, सिसकता-सा हृदय !–
नेह के आसू-भरी आँखें चपल !–
और वृद्धा की तपी-सी गोद वह,
बाट तेरी जोहती है प्यार से,

आँसुओ को कठिनता से रोकते,–
जप रहे जो नाम तेरा ही सदा,–
वे बने उन्मत्त से जो फिर रहे,–
खिल उठेंगे देख अपने ढीठ को,–

तोतली अध स्फुटित वचनावली,
झिलमिलाती लाडिली-सी अँखडिया,
कौन से सुख के लिए व्याकुल खडी, ?
आह ! तेरे आगमन की चाह है !!!

■

जाने पर

चला-चलाकर चक्की स्वेद पोछते जाना, ऐ प्यारे।
उन कायर असुरो की घुडकी सुन सुन तू हँसना रे।
प्रिय, मै कैसे कहूँ कि तू यह सब करना फिर भी हँसना,
तेरा दास, बता दे, कैसे तुझे सिखाये यह फँसना?
तू ने अपने हाथ धरे मेरे इस कलुषित माथे पर,
लिये हुए कालापन झुक जाऊँ तव चरणो पर क्यो कर?

'ताला, कुजी, लालटेन, जँगला, कैदी, ये सब है ठीक।'
पर नौकरशाही निज सवनाश की खीच चुकी है लीक।
'चक्कर'से रोटी आयेगी, 'डब्बू' भर आयेगी दाल,
तू शक्टार बना है—पापी नन्दवश का जीवित काल।
तेरी चक्की के गेहूँ पिस जायेगे, – पिस जाने दे।
विश्व पीसने वालो को तू मिट्टी मे मिल जाने दे।।

■

छेडो न

टुक रो लेने दो जरा देर – क्यो छेड रहे हो बेर बेर?
आँखो का का नशा उतरता है
झरना अब झर झर झरता है,
उद्भ्रान्त भाव यह उमड पडा, आश्वासन मुझे अखरता है,
मत समझाओ तुम बेर-बेर, टुक रो लेने दो जरा देर?

कर लेने दो बोझा हलका,
बहने दो जल अन्तस्तल का,
मैं डूब उब उतराता हूँ, खो गया ज्ञान मन जल थल का,
टुक रो लेने दो जरा देर, क्या छेड रहे हो बेर-बेर ?

मैं कई बार तो गिरा - पडा,
गिर-गिरकर फिर हो गया खडा,
फिर लगा हिचकियों का झटका, टूटा धीरज का बन्ध कडा,
अब तो प्रवाह ने लिया घेर, टुक रो लेने दो जरा देर ?

मानसदिङ्मण्डल शुभ्र गिरा,
काले मेघो से आज घिरा !
अँधियारी छायी हृीन्तल मे, नाटक परदा आन गिरा,
सब राग रग हो गये ढेर, टुक रो लेने दो जरा देर ?

मेरी गागर मे सागर है,
इन आखो से रत्नाकर है,
लहराती हैं ये वे लहरें, जिनका सब-कही निरादर है,
इस लिए मुझे तुम जरा देर, टुक रो लेने दो सुनो टेर !

निर्झर यह आकुल-लोचन का,
है स्रवित मेघ मम रोचन का,
बहने दो मत अवरुद्ध करो, सोता वेदना-विमोचन का,
मत पोछो आँसू, सुनो टेर, टुक रो लेने दो जरा देर ?

आयी हैं बरुनी कर सिंगार
पहन मुक्ता का तरल हार,
फुहिया बरसाती इधर-उधर, कर रही आद्रता का प्रसार
नयनो के नूतन कण बिखेर,—टुक रो लेने दो जरा देर ?

भ्रूलतिकाएँ ये गुँथी हुई,
कुछ सिकुडी-सी कुछ उठी हुई,
झुक रही लोचनो पर ऐसे, जैसे वल्लरियाँ छुई मुई,
लायी चिन्ताएँ घेर-घेर, टुक रो लेने दो जरा देर ?

लोचन की ये कनीनिकाएँ,
छिन सकुचायें छिन मुरझाये !
छिन तैर रही ये जल-तल ये छिन डूब रही दाये बायें,
तुम क्या छेडो हो बेर-बेर,—टुक रो लेने दो जरा देर ?

■

प्रणय लय

कापालिक - सेव्य भूतनाथ के शरीर की
विभूति उडती है जहाँ कण - कण म।
चट-चट हू-हू, हा-हा करती ज्वालाएँ जहाँ,
भेद भुला देती नवजीवन - मरण मे।

लक्ष-लक्ष आशाएँ, निराशाएँ लक्ष - लक्ष,
एक सग जूझें जहाँ घनघोर रण मे।
बाट जोहती है स्वय वराचिता मेरी,
वहाँ आकाश-मण्डप तले स्मशान-प्रागण मे।

यौवन - निशा के स्वप्न का मधुर-मधुमद,
उतर गया सा कैसे जानूँ मैं अजान नैक।
सुध-बुध बिसरा के भर-भर अँजली बेहोशी मे,
कर गया हूँ मघवा मैं पान नेक।

अट-पट पाँव पड़ते हैं, बात फैल गयी,
आकर सँभालो लोक-लाज के सुजान नेक,
भूल के नशे मे कही घूम न जाऊँ उधर,
छिटकी है जहाँ चन्द्रिका-सी मुसकान नेक

गिरते, पड़ते, झूमते, झुकते ऐ नवीन,
चलो उधरी को जहाँ लय है प्रणय का।
निदय नियम जहाँ भस्मीभूत भाव लिये,
भस्म करते हैं अनुनय का, विनय का।

इस बेहोशी मे इतना तो होश रखना कि,
पराजय ही मे मजा आता है विजय का।
भूल मत जाना है 'नवीन' पुरातन सत्य —
'सृष्टि के विकास मे छुपा है तत्त्व लय का'

■

श्रान्त

अब तो बहुत थक गये, प्राण,
इधर-उधर, नित न कुछ खोजते फिरते बहुत हुए हैरान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण,

पाँव थके, हिय थका, जिय थका, लोचन थके, थके, अग-अग
आशा थकी, प्रतीक्षा हारी, थकी कल्पना-अथक उड़ान,
हम तो बहुत थक गये, प्राण,

अन्वेषणमय अष्ट याम की परिक्रमा है श्रान्त नितान्त,
दरसन-प्यास बढ़ी अधिकाधिक ज्यो ज्यो बढ़ती गयी थकान,
हम तो बहुत थके अब, प्राण,

नीरस, अति निष्फल यह जीवन, हृदय-रिक्त, मन निपट अशान्त,
केवल व्यर्थ प्रयोगो मे हो बीते जीवन क्षण सुनसान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण,

गत जीवन पर डाल रहे है, अब हम हसरत भरी निगाह,
क्या मे क्या हो जाते गर हम, यूँ से यूँ चलते अनजान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण,

गत कृत अभ्यासो के बन्धन हुए बहुत ही है मजबूत,
पीतम, कठिन दीख पडता है इस गति से पाना निर्वाण,
अब तो बहुत थक गये, प्राण,

खेल-खेल मे तुम मन-मौजी, गर हमको दो झटका एक,
तो बस, उस झटल्ले से ही हो जाये जीवन कल्याण,
अब तो बहुत थक गये, प्राण,

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ
१७ जनवरी १९३४

■

यह सुप्त अश्रुत राग

जग गया, हाँ, जग गया वह सुप्त अश्रुत राग,
भर गया, हा, भर गया हिय मे अमल अनुराग,
खुल गयी, हा, खुल गयी खिडकी नयन की आज,
धुल गयी, हाँ, धुल गयी सचित हृदय की लाज,
नेह-रँग भर भर खिलाडी नैन खेले फाग,
जग गया, हाँ जग गया वह सुप्त अश्रुत राग।

दे रही, धडकन हृदय की, द्रुत ध्रुपद की ताल,
हिचकियो से उठ रही है स्वर तरग विशाल,
आह की गम्भीरता मे है मृदग उमग,
निठुर हाहाकर मे है चग – कारण रग,
रग-भग अनग-रति का दे गया वह दाग,
जग गया, हा जग गया वह सुप्त अश्रुत राग।

प्यार-पारावार मे अभिसारिका-सी लीन, –
बावरी मनुहार-नौका डुल रही प्राचीन,
क्षीण, बन्धन-हीन जजर गलित दारु-समूह, –
पार कैसे जाय ? है यह प्रश्न गूढ दुरूह।
स्वर-तरगे बढ रही, है बढ रहा अनुराग,
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त अश्रुत राग।

युगल लोचन मे मदिर रँग छलक उठता देख, –
निठुर, तुमने फेर ली क्यो आख एका-एक ?
सिहर देखो कनखियो से अरुण मेरे नैन,
सकुच शरमा कर कहो, कुछ 'हा' 'नही' के वन,
भर रहा है सजनि फिर से यहा शुष्क तडाग,
जग उठा, हा, जग उठा है सुप्त अश्रुत राग।

मृदुल कोमल बाहु-वल्लरियाँ डुला कर, बाल, –
कठिन सकेताक्षरो को आज करो निहाल,
आज लिखवा कर तुम्हारे पूजको मे नाम, –
हृदय की तडपन हुई है, सजनि, पूरन काम,
राग के, अनुराग के अब खुल गये हैं भाग,
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त अश्रुत राग।

भिखारी

प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी,
भर दो इसकी नयन झोलियाँ, हे मेरे मन-गगन बिहारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी,
नि श्वासोके कन्धो पर लटकाये निज लोचन की झोली, –
एक एक धडकन के मिस यह अलख जगाता बारी बारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी,
धडक-धडक निधडक यह भटका दर दर दरस-दान पाने को,
पर, न अभी तक भर पायी हैं इसकी ये झोलिया बिचारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी,
अपनी अलख झलक झाकी से, तुम झिल-मिल करदो अन्तरतर,
रीते भिक्षा पात्र हृदय के भर-भर दो हे रससचारी,
प्रिय मेरा हिय सतत भिखारी,
पीतम श्याम नयन धन, बिछुडन के दिन से हिय मचल गया है,
तुम्ही कहो, क्या जतन करूँ ? यह हृदय सदा का है अविचारी,
प्रिय, मेरा हिय सतत भिखारी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद
२९ अगस्त १९३३

निवेदन

मेरी रानी, इस विछोह के मेरे ये बन्धन खोलो,
ओ मेरी पत्थर की मूरत, श्रीमुख से कुछ तो बोलो,
मौन उपेक्षा की आहुतियाँ मम वेदी मे, मत डालो,
नेह दीप कर कमलो मे ले मेरे आगन मे डालो,

दिन-दिन, प्रतिदिन, प्रतिमुहूर्त, औ' प्रति निमेष, प्रतित्रुटि प्रतिपल,
अन्वेषण-रत मेरा जीवन बहता जाता है छल छल,
काल बली के वर्तमान और भावी रूप हुए निजल
बढती ही जाती है प्रति पल भूतकाल शृखला प्रजल,

आओगी भविष्य मे ? प्रमदे, भावी का क्या पता, कहो ?
केवल वर्तमान ही सत् है, आओ सत् मे तनिक रहो,
है भविष्य सन्दिग्ध और यह भूत गया बीता-सा है,
कालचक्र की अमिट विवशता का कुछ दु ख तो आज सहो,

देवि, काल गगा उलटी ही बहती है जगती तल पे,
इस सरिता की गति है आगे से पीछे को पल पल पे,
समय नदी बहती ही आती है निर्ह्रादवती प्रवला,
कैसे तैर सकूँगा, स्वामिनि, इसको अपने ही बल पे ?

इस तटिनी का जल 'भविष्य' है, वर्तमान है जल - धारा,
एकत्रित जलराशि 'भूत' है, प्रेक्षक मै हूँ बेचारा,
इस तटिनी का मूल वहा है जहा त्रिकाल शून्यमय है,
और प्रवाह क्षेत्र इसका है यह आकाश देश सारा,

आओ, प्राण, आज हम दोनो नेह-तरी निर्माण करे,
काल नदी तरने का अब हम कुछ तो नवल विधान करे,

आओ, प्राण, आज जीवन के कूल बैठ, हम-तुम दोनों-
उद्भव-लय-बन्धन-खण्डन कर चिरजीवन-रस पान करें!

देवि, अनन्त समय धारा मे हम-तुम आओ कुछ बह लें,
बैठ एक ही लघु तरणी मे हम तुम कुछ अपनी कह ल,
नीरसता की रजत बालुका नेह सिक्त हम कर डालें,
आओ, ललिते, घडी दो-घडी हम तुम घुल-मिल कर रह लें,

इस नव नेह तरणि के प्रकरण निपट अधूरे है, रानी,
और इधर अरहड नाविक के कौशल मे है नादानी,
है निष्ठा-नौदण्ड नाव मे, किन्तु, देवि, पतवार नही,
निज अचल पतवार बना दो, मानो विनती, कल्याणी,

भावो के इस अलख सलिल पर, वर्तमान की धारा म,-
नित्य भूत की ओर लुढकती गत जलराशि अपारा म,-
इस अनादि मय, इस अनन्त मय, समय-वारि मे, ओ दयिते,
कुछ तो साथ निभा दो, कब से बैठा हूँ हिय-हारा म,

जीवन पथ सूना सूना है, यह हिय भी सूना सा है,
निर्जन है अस्तित्व विचारा, यह जिय भी सूना सा है,
सूने मानस-दिङ्-मण्डल मे चन्द्रावली सरिस प्रकटो,
प्राण, दाह इस अन्तस्तल मे होता दिन दूना सा है,

जनम-जनम तक याद रहेगा वह मृदु कर-सस्पर्श, प्रिय,
कही भुलाया जा सकता है वह रोमावलि हर्ष, प्रिये?
दो अगुलियो का सुपरस वह रोम-रोम रम रहा, प्रिय,
वह न मिटेगा हिय से चाहे बीते कितने वर्ष प्रिये,

मेरे स्मरण निरम्पन का है यह कैसा विचित्र उपहास?
कि यह खीच ही ले आता है इस अन्तस्तल का उच्छ्वास,

याद तुम्हारे उस श्रीमुख की क्यो नित मन्थन-शील बनी ?
क्यो यह मजुल सुरत अटपटी हिय मे भरती वीचि विलास ?

ओ चिन्मयि, ओ नित्य मनोमयि, ओ तन्मयि मृण्मयि, बाले,
क्यो इतना यह पाश-प्रमारण ? क्यो ये शर विप रस वाले ?
झर-झर कर लोचन के मोती, लो, सुन लो, यो कहते है,
मत झकझोरो हमको, हम भी बडे नाज के है पाले,

वह ककन की झनन-खनन झन, मन-दिगन्त मे उठी, सखी,
मेरा क्या वश ? देखो बरबस सारी सुध-बुध लुटी, सखी,
अनहद नाद सरिस रव - स्मति वह रोम-रोम ब्रह्माण्डो मे-
व्याप्त हो गयी है, अब तक भी झकृति सस्कृति मिट न सकी,

ध्वनि-समाधि साधक हूँ सखि, मै, मैं निनाद-मद मतवाला,
स्वर निमग्नता अवगाहक मै, मधुर स्वरो का मैं पाला,
गूँजमयी, झकारमयी, उच्छ्वासमयी याचा मोधा –
काप रही है, पडा हुआ है जीवन-पथ यह अँधियाला,

मन है आज कि दृग् मीलित कर, ककन की झकार सुनूँ,
आज चूडियाँ खनक उठे तो स्वर-साधन गुजार सुनूँ,
मेरी ग्रीवा तक भुज बल्लरिया यदि आज बढा दो, तो, –
प्यासे श्रवणो से ककन की प्यार भरी मनुहार सुनूँ,

किन्तु पूछता हूँ कि हृदय का मेरा यह विपाद क्या है ?
क्या केवल अतृप्ति प्रेरित ही मन का यह प्रमाद-सा है ?
यह जो मँडराता रहता है ? यह क्या है कुछ बोलो तो ?
यह कम्पन क्या है ? क्रदन का यह अतर्निनाद क्या है ?

जग कहता है बहुत बढ गया है यह मनस्ताप मेरा,
मन कहते है बहुत हो गया अब यह अज विलाप मेरा,

अति हो गयी कांपती निशि के तारे भी यों बोल उठे,
सभी पूछते हैं क्यों रे, कब होगा शमित शाप मेरा ?

शाप कहूँ इसको ? या अपने जीवन का वरदान कहूँ ?
मैं इसको अपमान कहूँ ? या यौवन का सम्मान कहूँ ?
इस बिछोह को मोह कहूँ या निज पीतम की टोह कहूँ ?
प्राण हरण कह दूँ या इसको मैं जीवन का त्राण कहूँ ?

सभी पूछते हैं क्यों जी कवि, अनल-राग कब गाओगे ?
किन्तु पूछता हूँ मैं हे प्रिय, मन आगन कब छाओगे ?
आ जाओ तो आज सुना दूँ अग्नि गीत तुमको, जीवन,
जरा बता दो, कौन घडी तुम यहाँ से हाकर जाओगे ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
मई १९३५

■

कह लेने दो

ओ मेरे प्राणो की पुतली,
आज जरा कुछ कह लेने दो,
सिर्फ आज भर ही कहने दो
यह प्रवाह कुछ तो बहने दो,
सयम ? मेरी प्राण, जरा तो–
आज असयम म बहने दो,

मौन – भार से दबे हृदय को
कुछ मुखरित सुखसह लेने दो,
आज जरा कुछ कह लेने दो,

तुम हो मम अस्तित्व-स्वामिनी,
मम मन-घन की स्फटिक दामिनी,
तुम मेरे कर्मठ जीवन की–
हो विश्रान्ति प्रपूर्ण यामिनी,

मेरे इन उत्सुक हाथों को
अपने युग पद गह लेने दो,
आज जरा कुछ कह लेने दो,

मेरे प्राणों की आकुलता,-
मेरे भावों की सकुलता–
कैसे व्यक्त करूँ ? किमि प्रकटे–
उच्छ्‌वासों की गहन विपुलता ?

जरा देर तो अपने द्वारे
मुझ जोगी को रह लेने दो ?
आज जरा कुछ कह लेने दो

मुझसे पूछो हो मैं क्या हूँ ?
एक मौजिजा - सा बना हूँ।
मैं तव नयनों के दर्पण में–
तव सनेह - प्रतिबिम्ब बना हूँ,

मैं आंसू बन, सोनभद्र - सा,–
बह जाऊँ तो बह लेने दो
आज जरा कुछ कह लेने दो,

श्री गणेश कुटीर कानपुर
१४ मई १९६५

■

सजन मेरे सो रहे हैं

सजन मेरे सो रहे है,
आज द्वन्द्वातीत-से वे योग-निद्रित हो रहे है,
सजन मेरे सो रहे हैं।

सुख शयन के भार से है युग दृग-च्छद अति थकित वे,
ध्यान-वीणा-नाद मे है रम गये लोचन चकित वे,
नयन-तारा, पलक-काराबद्ध हैं, अतिगति चलित वे,
श्वास दोलाचलन मे प्रिय भार तन्द्रिल ढो रहे है,
सजन मेरे सो रहे हैं।

नीद मे घुल-मिल गयी हैं जागरण की सब व्यथाएँ,
स्वप्न के सकेत की है अटपटी-सी सब कथाएँ,
शून्य-निद्रा लोक शोभा सजन जागे तो बतायें,
इस समय तो चित्त की चिर चेतना वे खो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे हैं।

सुप्ति-सरिता-धार मे अस्तित्व-तरणी पड गयी है,
पूर्ण-मज्ञा शून्यता के भँवर लौ वह बढ गयी है,
शान्ति के पतवार की शोभा अनोखी नित नयी है,
नाव मे विश्रान्ति-जल से मुख-कमल प्रिय धो रहे हैं।
सजन मेरे सो रहे हैं।

ले चलो कुछ देर को तो शयन-अपगा कूल तव, प्रिय,
दृग्-निमीलन मम करो अब, थक गयी है ये पलक, प्रिय,
नित्य जागृति-वेदना से हैं शिथिल मन, बुद्धि, इन्द्रिय
आज टुक विश्रान्ति के हित युगल लोचन रो रहे है,
सजन मेरे सो रहे है।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
अगस्त १९३६

ओ प्रवासी

ओ प्रवासी, घूम कर यो देखते हो कौन-सा थल ?
कौन-सी स्मृति जग उठी ? हिय मे मची क्या आज हलचल ?
झूलता है नाम जिसका श्वास के हिण्डोल मे नित,
गूँजता जो प्राण-वशी के अबोले बोल मे नित,
याद जिसकी है नयन-यमुना लहर-कल्लोल मे नित
आज क्या उसका स्मरण आया तुम्हे ओ पथिक चचल ?

कौन बैठा है तुम्हे यो याद करने, ओ प्रवासी ?
क्यो समझते हो कि तुम भी हो किसी के हिय-निवासी ?
याद है, जब खीझकर उनने तुम्हे दी थी विदा सी ?
नेह के भूखे पिया से तुम बने क्या बिसुध बेकल ?

क्या सजन की खिडकियो की याद तुमको आज आयी ?
या कि उनकी झिडकिया की याद ने स्मृति रति सतायी ?
ओ प्रवासी, चरण-गति म शिथिलता कैसी समायी ?
धीर पग धरते बढो तुम पन्थ पर ओ पथिक, अविकल।

रेल पथ चिरगाँव से कानपुर
५ जून १९३६

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि
 खूब खिलने दे अधर पर दुख भरी मुसक्यान, रे कवि
 लिख विरह के गान!

इस झडी मे बढ गयी है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गयी है सतत धारे मेघ-जल की,
किन्तु कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निबल की?
 तू लगा मम वेदना का आज कुछ अनुमान, रे कवि,
 लिख विरह के गान!

व्योम म यह ढूँढता सा फिर रहा निशि नाथ उनको,
मेघ तरिया गगन सर म खोजती हैं उस निपुण को,
कवि, सदेही, सगुण कर दे तू सनेही चिर निगुण को,
 शून्य मे कर शब्द वेधी मन्त्र-शर-सन्धान, रे कवि,
 लिख विरह के गान!

नित्य निगुण चित्रपट मे सगुणता की रेख भरना
है यही पुरुषार्थ नर का अलख का अभिषेक करना,
अतल से कुछ खीच लाना, शून्य मे साश्रय विचरना,
 यदि न यह सम्भाव्य हो तो क्यो न तडपे प्राण, रे कवि,
 लिख विरह के गान!

नेह, मानस-जात मेरा, यह चला अब मूर्त्त होने
मचल उट्ठा आज है वह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने,
तडपता है आधिभौतिक भाव मे सस्फूर्त्त होने,
 आत्म रूपाकार की वह साजता अनजान, रे कवि,
 लिख विरह के गान!

प्राणप्रिय के रूठने की क्यो मिली है सूचना यह ?
हो गयी क्यो आज उनकी हिय दशा यो उन्मना यह ?
नेहदानी की विरति की हो रही क्यो व्यजना यह ?
शिथिल, दीना, पड गयी क्यो मम अतृप्त उडान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

तप्त प्राणो ने निरन्तर कौन-सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली,
सतत अन्वेषण-क्रिया है बन गयी जीवन - सहेली,
आह ! क्या यो ही पडे रह जायँगे अरमान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

आम्र - वन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा,
'पी कहाँ ?' – मैंने तडप कर शून्य दिङ्-मण्डल निहारा,
पी कहाँ ? प्यासे दृगो का है कहा दर्शन-सहारा ?
क्यो नही पहुँचा वहा तक निरत मेरा ध्यान, रे कवि,
लिख विरह के गान !

आज इस धूमिल घडी मे कौन यह सन्देश लाया
साझ आयी, किन्तु उनका राज रथ अब तक न आया।
ढीठ मन यह पूछता है, क्यो उन्हें अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्या नही आये सजन रसखान, रे कवि ?
लिख विरह के गान !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
सितम्बर १९३६

गीत

(सोरठ दश)

आज मम हिय-अजिर मे मन-भावनी क्रीडा करो तो,
दरस-रस-कसकनमयी तुम लगन-मधु पीडा भरो तो,
यह खडी है दरस आशा एक कोने म लजीली,
परस-उत्कण्ठा उठी है झूमती सी यह नशीली,
आज मिलने मे कहो क्यो कर रहे हो हठ हठीली ?
मन हरण गज-गमन गति से चरण मन-मन्दिर धरो तो,
आज मम हिय-अजिर म
मन-भावनी क्रीडा करो ता,

बहुत ही लघु हूँ, परम अणु हूँ, स सीमित, सकुचित हूँ,
विवश हूँ, गुणबद्ध हूँ, गति-रुद्ध हूँ, विस्मित, विजित हूँ,
किन्तु आशा निखिल ससृति की लिये मै चिर-यथित हूँ,
रुचिर पूण रहस्य-उद्घाटन-मयी क्रीडा करो तो,
आज मम हिय - अजिर म
मन-भावनी क्रीडा करो तो,

क्यो उलहना दे रह हो कि यह है सकुचित आँगन,
गगन सम विस्तीण कर देगे इसे तव मृदु पदार्पण,
आज सीमा ने दिया है तुम असीमित को निमन्त्रण,
टूल पडो, प्रेमेश, सीमित, सकुचित व्रीडा हरो तो,
आज मम हिय-अजिर म
मन-भावनी क्रीडा करो तो,

रेल पथ कानपुर स इलाहाबाद
१२ नवम्बर १९३५

मान कैसा ?

चरण - चुम्बन - दान में अब मान कैसा ? प्राण मेरे,
झिझक कैसी ? खीझ क्यों ? यह विरति क्यों ? अभिमान मेरे,
मान मत ठानो, न तानो भृकुटिया की चाप, वल्लभ,
पहुँचने दो चरण-तल तक ये अधर मम शुष्क, निष्प्रभ,
मत हटाओ, मत हटाओ, मत हटाओ, पद-कमल अब,
कर रहे चीत्कार है यों प्राण ये नादान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे,

ओ सलौने, हो गया है कौन सा अपराध भारी,
जो, चरण-आराधना यों तड़पती है यह बिचारी ?
हो गया है विश्व सूना देख कर यह हठ तुम्हारी,
कल्पना सूनी हुई है, भाव हैं सुन-सान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे,

जगत-प्रागण एक डग में हो गया है पूर्ण सुविजित,
हुलसती है यह धरा मृदु चरण तल के परस से नित,
तप्त प्यासे, शुष्क रज-कण हो रहे हैं सरस मे नित,
आज, फिर भी, क्या रहेंगे ये अधर म्रियमाण मेरे ?
मान कैसा ? प्राण मेरे,

बरजते हो क्यों दृगों से चरण-रत आराधना को ?
फलवती होने न दोगे क्या निरन्तर साधना को ?
निठुर, ठुकराओ न मेरी इस अदीना याचना को,
पद-परस से खिल उठेंगे निपट मुरझे गान मेरे,
मान कैसा ? प्राण मेरे,

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ मई १९३६

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

चलित चरणो की जगह अब कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?
युग-युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरण शरण वे ?

इधर देखा, उधर झांका मिल गये कुछ चपल लोचन,
मै समझ बैठा कि मुझको मिल गये सकट विमोचन,
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये,

प्राण के उच्छ्वास मे मै खीच लाया शूल कितने !
और इस नि श्वास म उड-उड गये है फूल कितने !
दान मे स्मृति-रूप कण्टक मिल गये हैं आज इतने –
कि उन सुमनो के हुए है शूल ही नव सस्करण ये,

नेत्र विस्फारित किये, जल, थल, असीमाकाश म नित –
फिर रहा हूँ खोजता कुछ चीज, मै व्याकुल, प्रवचित,
भाल रेखा पर हुई है चिर विफलता छाप अकित,
विकल अन्वेषण-मुरति को कब करेंगे पिय वरण वे ?

दीप लघु मै, तव अलख कर से समय-नद मे प्रवाहित
नित्यप्रति प्रतिकूलता के प्रवल झोको से प्रताडित,
टिमटिमाता वह रहा हूँ मै जनम का ही निराश्रित,
दीप-सम्पुट कब बनेंगी कर अँगुलिया मनहरण वे ?

कौन जाने, यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया कब जगाया ?
है पता इतना कि इसने आज तक प्रश्रय न पाया,
हैं बहाये जा रहे इसको प्रवाही उपकरण ये,

कँप रही है ज्योति, अब तो तुम इसे कर दो अनिंगित
तव निवात स्थान मे अव लौ लगे इसकी अशंकित,
सजन ज्योतिमय, करो निज पुंज मे इसको सुसंचित,
थाम दो अब तो जरा इसके अवश-से सन्तरण ये।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
मई १९३६

■

कुहू की बात

चार दिन की चादनी थी, फिर अँधेरी रात है अब
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब।

चादनी मेरे जगत् की भ्रान्ति की है एक माया,
रश्मि-रेखा तो अथिर है, नित्य है घन तिमिर छाया,
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया,
रात है मेरी, सजनि, इस भाल मे नवप्रात है कब ?

इस असीमाकाश मे भी लहरता है तिमिर-सागर,
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहा उत्पात है सब।

मै अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम जनित आकुल अश्रु से मम पन्थ सिंचित
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हास विलास रंजित
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गात है सब।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ मई १९३६

बन्धनो की स्वामिनी तुम

बँध गयी भुज-बन्धनो मे, बन्धनो की स्वामिनी तुम
नेह-रस वश ढुल पडी, मम प्राण बन चिरमानिनी तुम,

मधुर मेरे फूल, तुमको दृढ भजाओ मे सँभाले,–
विकल मेरे प्राण देखो झूम उट्ठे ये निराले
ऊर्ध्वश्वासोच्छ्वाश ऊष्मा वह चली चिर साधना ले,
झिझकती मम याचना की बन गयी अनुगामिनी तुम।
बन्धनो की स्वामिनी तुम।

मदिर विस्मृति, मदिर चिन्तन रग छलका लोचनो से,
मम धवल पट रँग चुका तव नेह कुकुम रोचनो से,
मधुर आकुलता बही यह मदिर अश्रु विमोचनो से,
विरल अचल तो बढा दो, ओ दरद-दुख-दामिनी तुम
बन्धनो की स्वामिनी तुम।

शून्य जीवन कुछ छिनो को हो गया था कुछ सफल-सा,
कुछ छिनो का मधुमिलन अब बन गया है स्मर विकल-सा,
और कब होगी कृपा ? यॉ उठ रहा है कुछ अनल सा,
फिर पधारो तो जरा, ओ स्वप्न देश-विहारिणी तुम,
बन्धनो की स्वामिनी तुम।

वक्ष पर, सखि शिर रखे जब तुम खडी थी चुप अकेली,–
क्या न तब तुमने सुनी थी यह हृदय-धडकन नवेली ?
लो, वही अब द्रुत ध्रुपद की ताल बन, खुल खेल खेली,
हा जरा तो दो सहारा ताल-गति-रति-रागिणी तुम,
बन्धनो की स्वामिनी तुम।

लगन-घन, मन-गगन छाये चिर विथा-जल-भार लेकर,
लो, उँडेले दे रहे ये नेह-सचित सार लेकर,
कल्पना दिङ्मूल ला फैले जलद हिय हार लेकर,
तनिक विजय प्रकाश-रेखा खीच दा, घन-दामिनी तुम,
वन्धनो की स्वामिनी तुम !

सजनि, मेरा निखिल जीवन एक प्रहरी का प्रहर है,
चिर मजगता, नित्य अन्वेपण, यही गति निरन्तर है,
भग्न आशा दुर्ग, प्रहरी की थकी-सी अब नजर ह,
दा समाश्रय अक मे वन मिलन मधुमय यामिनी तुम,
वन्धनो की स्वामिनी तुम !

श्री गणेश कुटीर कानपुर
दिसम्बर १९२५

■

वसन्त

ऐ जी 'नवीन' बोलो ता
कितने वसन्त बीते है ?
या वाट जोहत कितने,
ये युग अनन्त बीते है ?
इस सँकरी पगडण्डी प,
धक्के खाये किन किन के ?
निज वय की कितनी ऋतुएँ
तुम विता चुके गिन-गिन क ?

जीवन के चौराहे प-
बैठे है छलिया कितने ?
तुमको ठग लिया बताओ
किसके मृदु मन्द स्मित ने ?

आती जाती रहती ह
पतझड को आकुल घडियाँ,
उगती झरती रहती है
पत्तियाँ और पखडिया,
निशि दिन यह पवन निगोडी
सन-सन बहती रहती है,
छिन-छिन टल्ला दे-दे के
अपनी कहतो रहती ह,
इसको कहने दा अपनी-
दुख-सुख की कथा पुरानी,
तुम क्यो व्याकुल होते हा
ऐ जी नवीन नव ज्ञानी ?

जीवन अटपटी पहेली,
इसको बूझो सुलझाओ,
हिय की उलझी गासी का
मत और अधिक उलझाओ,
मत ठगे-ठगे-से घूमा
दुनिया के बाजारो मे
याँ पत्थर के परखैया
उलझे हीरक हारो म,

हिय के खरीदनेवाले
वे हाते कही-कही है,
जो बिना दाम ले ल, वे–
सौदागर यहा नही है!

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
६ फरवरी १९३१

■

सस्मरण नोदना

ओ सन्ध्ये, ओ दूर क्षितिज मे
कुछ कुकुम-रवने सन्ध्ये,
वृक्षो के मिस उद्ग्रीवित सी,
उत्सुक आसवते सन्ध्ये,

श्यामा विन्ध्य-शृखलाओ के
केश पाश वाली सन्ध्ये,
ओ रजिता मेघ माला के
फुल्ल हास वाली सन्ध्ये,

मतवाली, छिन-भर उजियाली,
फिर काली काली सन्ध्ये,
गत सस्मरण प्रणोदिनि सन्ध्ये
ओ अतीत वाली सन्ध्ये!

क्या प्रणोदना आज भरो हो,
तुम मेरे अतरतर मे?
क्या सिहावलोकिनी मतिगति
उकसायी मन अम्बर मे?

ओ सन्ध्ये, मरी गत घड़ियाँ
हैं प्रणय का पुंज, सखी,
स्वेद-वेदनाओं से सिंचित
हैं मम स्मरण निकुंज, सखी,

मेरा गत पथ बड़ा विकट है,
विस्मृत है गाथा 'तब' की,
याद दिलाये क्यों जाती हो,
अये प्रफुल्ले, उस सब की ?

धूप छाँह म्रोटा करती है
मेरे जीवन के पथ में,
ज्यों-त्यों कर तै कर पाया हूँ
इतना पथ हिय मथ-मथ में,

क्या ही अजब तबीयत पायी
इस नवीन मस्ताने ने,
कि बस लुटाया सरबस बरबस
इस कवि सिडी सयाने ने,

अरी धरा ही क्या है ऐसा
मेरे उस गत जीवन में,—
जिसे देखने को कहती हो
सन्ध्ये, इस नीरव क्षण में ?

ओ सस्मृति—प्रणोदिके, है उन
सस्मरणों का बोझ बड़ा,
कैसे वहन करूँ उसको इन
सान्ध्य क्षणों में खड़ा-खड़ा ?

देखो वे मूरतें लजीली
आयी हैं इस मन नभ में,

और उड रही मम मूरखता
मेरे सम्मृति - सौरभ मे,

मृरत और मृमता का यों
बँधा हुआ है तांता सा,

क्या ही सूत्र जुड गया है यह
इक अजीब सा नाता-सा !

मेरे पास बचा ही क्या है
यहाँ सिवा सम्मरणो के ?

गूँज रहे है अब भी खन खन –
स्वन कंकण आभरणो के,

झूल रही हैं स्मरण ग्रीव म
अब तक वे भुज वल्लरियाँ,

महक रही है अये, आज तक
वे अधर-स्फुट मल्लरियाँ,

रहने दो उनकी मस्मृतिया
बडी विकट, तूफानी हैं,

उनके सभी अध-कहे जुमले
गहरे हैं, जू मानी हैं।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ नवम्बर १९३४

क्या ?

क्या होने वाला है कोई पट-परिवर्तन आज
होगी, क्या नयी छटा है निधन में धन, आज ?
क्या जीवन-यवनिका उठेगी गिरकर फिर इस बार ?
फिर से क्या उजड़ेगा मेरा यह उजड़ा संसार ?
क्या है यह उद्भ्रान्ति ? भर रही क्यों अन्तर में शान्ति ?
कहाँ गयी मेरी वह आकुलता पूरित विश्रान्ति ?

जीवन की दोपहरी में क्यों सन्ध्या का आभास ?
दिङ्मण्डल में मुझटिका का क्या छाया उच्छ्वास ?
धूमिल क्यों होता जाता इस दृश्य-जगत् का राज ?
अरे, झुटपुटा अँधियाला क्या चला आ रहा आज ?
क्या विनष्ट होने को है मेरे मानस का राज ?
मेरे घन, बतला दो क्या होने वाला है आज ?

एक अजब खोयी-खोयी-सी वृत्ति उठ रही म्लान,
मानो आज लुट गया उर अन्तर का सब सामान,
हिय में हहर-हहर होती है, — ज्यों पीपल के पात —
सिहर-सिहर कँपते रहते हैं परवश से दिन रात।
तोते-से उड़ गये — लग रहे खाली खाली हाथ,
सूना-सूना सा लगता है इस जीवन का पाथ।

व्यथित हृदय में आज हो गया कुछ गड्ढा सा एक,
ज्यों भूकम्पन से पृथ्वी-तल धँ एकाएक,
उठती है विध्वंसक अरटि ध्वनि घोर,
घहर-घहर धरणी धँस अघोर,

सहसा क्यो हो रहा यहाँ यह विप्लव-अत्याचार ?
मेरे अरमानो के महल हो रहे क्यो मिस्मार ?

आज निराशी निमम-मा हो गया अह ! यह दीन,
निपट उदासी की आतुरता छायी यहा मलीन,
उठ-उठ कर गिर-गिर पडता है यह हियरा तल्लीन ।
झुलस रहा है तप्त वालुका मे मेरा मन-मीन
सूखी नदिया, रूखी अँखिया, दुखिया यह रस हीन,
महमा क्या हो गया तुझे यह, ऐरे निठुर 'नवीन' !

■

वसन्त वहार

आज, सखि, नवल वसन्त-वहार
कर रही मदिर - भाव - मचार ।

हम - से मस्ताने नवीन हैं
सीखे करना प्यार,
अव तो उलट-पलट जायेगा
जग आचार - विचार,
आज, सखि, नवल वसन्त वहार
कर रही मदिर-भाव-मचार !

सदा वमन्त हमारे हिय मे
पलको मे मधु - भार,
नयनो मे है स्वप्न मिलन की
सुरखी और खुमार
आज, सखि, नवल वसन्त वहार
कर रहो मदिर-भाव मचार ।

हम वासन्ती सतत सनातन
हम हैं स्नेहागार,
इसमे क्या वसन्त की महिमा ?
यह है तव स्मर सार,
आज, सखि, नवल वसन्त बहार
कर रही मदिर-भाव-संचार।

मेरे जीवन के तरुवर को
ओ कलिके सुकुमार,
यौवन डाली पर हँस झूलो
करो जरा ऋतु रार,
आज, सखि, नवल वसन्त बहार
कर रही मदिर – भाव संचार।

गल बहियाँ-सी ऐल विहँसती
बन जाओ गल - हार
अब कैसी यह झिझक सलौने ?
यह कैसा अविचार ?
आज, सखि, नवल वसन्त बहार
कर रही मदिर - भाव संचार।

श्री गणेश कुटीर कानपुर
९ फरवरी १९३५

मिल गये जीवन-डगर मे

आज बरसो बाद पीतम मिल गये जीवन डगर मे
मृत मनोरथ के सुमन ये खिल गये जीवन डगर मे ।

वे धुएँ के तूल-से छाये हुए थे सजन बादल,
झर रहा था गगन के हिय से मगन यौवन-लगन-जल,
उन दुखद रिम-झिम-क्षणा मे
शून्य पकिल पथ - कणो मे
हार-से, मनुहार-से पिय मिल गये जीवन डगर म ।

भर गया आकण्ठ हिय-तल, ललक उमडा नयन का जल
कर उठा नत्तन हृदय का कमल विकसित मुदित पल-पल
उस सिहरते नीम नीचे
झुक दृगो ने चरण सीचे
नेह-रस-वश अधर उनके हिल गये जीवन डगर मे ।
आज बरसो बाद पीतम मिल गये जीवन डगर मे ।

रेल पथ कानपुर से इलाहाबाद
११ जुलाई १९३५

■

हिय-रार मेरी

भ्रमित है छिन्नाभ्र-सी यह रस-भरी हिय-रार मेरी,
कुपित झंझाघात मे पड उड चली मनुहार मेरी।

अतल मानस नील नभ म एक दिन कुछ भाव
कुछ हुआ भ्रम-सा, अचानक आ गया कुछ आंख
सघन घन-गण घुमड घहरे, प्राणदाहक त्रास
यह हुआ अनुभव कि आयी सजल ऋतु इस बार मेरी।

पर, अचिर थी मेघ-माला, वह तिरोहित हो गयं
आज फिर से क्षितिज-रेखा ताप लोहित हो गयं
ऋज्जु-रेखा ? कौन जाने वह किधर को खो गयी
उठ चली आधी, हुई है वह मधुरिमा क्षार मेरी।

हास छिटका, रौप्य-रेखा खींचते इस व्योम-पथ प
साथ मेघो के चमकते, रुपहले, गतिवान् रथ पर
मुदित आरोहित हुए तुम आ गये थे, ललन मन
बस तभी पहले - पहल, उस दिन, हुई थी हार मेरी।

श्वास औ' नि श्वास का यह द्रुत समीरण-तुरग चं
ले चला मुझको जहा ये अर्ध मीलित तव दृग
किन्तु तुम तो डाल बैठे थे मुखाम्बुज पर पटा
लो, निराश्रित हो गयी है मन लगन सुकुमार मेरी।

रस-भरी हिय-रार मेरं

आओ

सन्ध्या के श्यामल क्षण मे,
नव दीप शिखा सी आओ,
मेरे इस धूमिल नभ मे,
कुछ कुकुम छिटका जाओ।

प्रथमोदित शुभ तारे - सी
हुलसो इस नभ-मण्डल म,
ईमन के कम्पित स्वर-सी
विलसो मम मन चचल में।

मेरी अति नीरवता मे -
आआ गगा - लहरी - सी
कल कल करती ढुल आओ,
कुछ बहती, कुछ ठहरी सी।

लप झप करती लहराती-
दृढ बँधी नेह के धागे,
नव अरुण चग सी उडती-
तुम आओ मेरे आगे।

दाये-बायें लहराओ-
मैं दूँ ठुमकी तुम ठुमको,
हाँ ढील कभी दे दूँ मैं-
फिर कभी खीच लूँ तुमको।

यो मेरी साझ, सवेरा-
जीवन का फिर बन जावे,
जीवन-सन्ध्या की लाली-
बन ऊषा छन-छन आवे।

गहरे गभीर जल-तल म
दीपक की परछाँई-सी
झलको मेरे हियतल में
मन-दपण की झाई-सी

पहने वट श्याम
पाटल कुसुमो-स
रंजिता मेघ
आओ मग

आ जाउ
मानस
सुनसान
मेरा

सूने मानस - मन्दिर
सस्मृति - मूर्ति - सी पधा
इन तन्द्रा की घडियो मे
चपलास्फूर्ति - सी पधारो

सपने मे उलझ
लघुनाम — सुमग्नी
सुलझा दो इ
ऐ री दुख ह

मम ज
गाठे
फन्दा
अँगुलिय

कल ललित चरण न्यासो से –
दग दव सिहरे यह हियरा,
झन-खन-मृदु नूपुर ध्वनि से –
उमडे अब रह-रह जियरा।

कितना मद भरा हुआ है!
क्या मदिरा है मस्मृति में,
कितना मधवा भर लायी –
तुम अपनी स्वर झकृति मे

यदि नेह नहीं तो यों ही –
निरपेक्ष भावना लेके,
कुछ हाल देखती जाओ –
मेरे हिय के छाले के॥

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१२ अक्टूबर १९३१

■

अस्तित्व मेरा

है समाश्रय शून्य जीवन, है विफल व्यक्तित्व मेरा –
आज कोलाहल भयानक कर उठा अस्तित्व मेरा।

श्रान्त हूँ, प्रिय, श्रान्त हूँ मै,
चिर व्यथा - आक्रान्त हूँ मै,
नेह - नगरी की डगर मे, –
अति भ्रमित दिग्भ्रान्त हूँ मै,
खो गया किस ठौर, बोलो वह मन स्वामित्व मेरा?
है विकल व्यक्तित्व मेरा।

सुमरनी के तार मन के –
हो गये अगार मन के,
स्मर - विपची से उठे है –
स्वर लपट - झकार वनके,
आज चिन्तन के चतुर्दिक् खिच गया यह अनल-घेरा,
दग्ध है अस्तित्व मेरा ।

अग्नि की चिनगारियो से, –
अनल - अक - दुलारियो से, –
हृदय - घपण - जनित मुकुलित,
फुल्ल पावक - क्यारियो से, –
फूस के तिनको सदृश यह जल उठा मानस-वसेरा,
अनलमय अस्तित्व मेरा ।

है कही क्या इस जगत् मे कुशल कोई-सा चितेरा,
जो करे मन-गगन मे चित्रित सुनहला-सा सवेरा ?

ज्वलित उल्का पात है या,
घात औ' प्रतिघात है याँ,
ज्वाल मण्डित व्योम मेरा –
अनल की वरसात है या,
वन रहा है एक मुट्ठी क्षार यह व्यक्तित्व मेरा
भस्म है अस्तित्व मेरा ।

रेल पथ इलाहावाद से कानपुर
२४ जनवरी १९३६

किरकिरी

अरी, पड गयी है ककरो-सी मेरी आखो मे, रानी,
बहता ही आता है रह-रह, देखो बूँद-बूँद पानी,
कँकराहट है, अकुलाहट है, नैनो मे लाली भी है,
आशा है, तृष्णा है, विष है, आखो मे है नादानी।

तुमने मेरी इन आँखो मे अपने दृग की सैनो से —
आत्म मरण का अजन आँजा, सुमुखि, अबोले नैनो से
स्वात्मार्पण मिस अह भाव मम, मरण-वरण कर चुका, प्रिये,
अरी बह गया है 'अहमिति' जड हृदय-सिन्धु के फैनो से।

अब तो बन चिन्मयी, मृण्मयि, आओ मन्दिर मे अपने,
रुचिर, चिरन्तन दरस-परस से सफल करो मेरे सपने,
अपना विरल, मृदुल अचल ले नयन-किरकिरी दूर करो,
बहुत प्रतीक्षा की है अपलक मेरे उत्सुक जप-तप ने।

तव स्नेहाराधन मिस मुझको तत्त्व - दरस, आभास मिला,
देश - काल के परे असीमित मुझे रहस्य - विकास मिला,
करुण मरण मे, प्राण-हरण मे, मृत्यु सन्तरण-भाव मिला,
मरण-क्षितिज की ओट मुझे यह चिरजीवन आकाश मिला।

सौ-सौ बार नित्य मरकर भी मैने चिर जीवन पाया,
अति निशीथ चिन्ता-जर्जर भी मै 'नवीन' ही कहलाया,
हिय को मसल-मसलकर भी मै चिर-रसज्ञ हूँ, री रानी,
मुझको जागृति जीवन मे भी बरिपन सपना ही भाया।

मान ? मान मत करो, न रूठो हम-से दुखियो से, रानी,
कही रोष-भाजन होती है अपनो की कुछ नादानी ?

हम मो के नीरस जीवन मे कुछ तो रस-सचार करो,
गुमसुम प्रतिमा बनी न बैठो, कह दो कुछ मजुल वाणी।

जगत् उधर है, और तुम्हारी प्यारी हठ है इधर, प्रिये,
अरे तनिक सा ही तो मैने सोचा जाऊँ किधर प्रिये,
इतनी ही-सी रच हिचक से, आज रूठ बैठी तुम तो,
छोडो मान, विहँस कुछ कह दो, प्राण रहे हैं, सिहर, प्रिये।

मै नत शिर टकटकी लगाये देख रहा था चरणो को,
सुख मिलता था मुझे देखकर उन युग-पद मन हरणो को,
वह मुख भी तो तुमने छीना ढँक निज द्वय पद कज, सखी,
इतना रोप ? कि नही करोगी दूर चरण-आवरणो को ?

अपर निशा के अर्धचन्द्र-सी मम तम मय मन अम्बर मे,
चिन्तन क्षितिज ओट से प्रकटो, झलको मम दृग-निर्झर मे,
चकित, थकित, अतिमथित, व्यथित है हृदय सिन्धु जल राशि, प्रिये,
आवाहन हो रहा निरन्तर हहर - घहरते सागर मे।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२४ अप्रैल १९३५

■

पार्थिव

ये कुछ झुँझलाकर यो बोले "यह आतुर पार्थिवता क्यो ?
परस चाह यह क्यो ? इतनी यह प्रकट नेह-सक्रियता क्यो ?
इस समीपता मे दूर-स्थित प्राप्य श्रेय का स्वेद नही,
तब फिर उत्कण्ठा क्यो ? निकट स्थिति-विलास की प्रियता क्या ?

महदन्तर मे ही सम्भव है पूण-पक्ष-विस्तार, अहो,
मह्दन्तर मे ही सम्भव है अथक, मदिर अभिसार, अहो,
अन्वेषण के स्वेद-कणो ही मे है प्राणा का परिणय,
दशन-ओझलता मे ही है क्वासि ? क्वासि ? चीत्कार, अहो।"

तुम समथ हो, प्रिय ! जो चाहो कहो, सुनूँ मैं जी-भरके,
यो ही सफल बना दो मेरे सपने ये निशि-वासर के,
ढरके है ये क्षार बिन्दु कुछ, प्राण, अघ्य यह ग्रहण करो,
यो ही बैठे कहा करो कुछ मेरे सम्मुख आकर के।

आज तत्त्व-दशन का मुझमे रच-मात्र सामथ्य नही,
आज सगुण-निगुण-विवेचना कर सकता हूँ भला कही ?
नही नही के तुम अभ्यासी मै हूँ हाँ-हा कहने का,
चरण छुपाते तुम, चरणाकन मै खोजूँ हूँ कही यही।

तुम पूछो हो यह पार्थिवता, परस-चाह यह इतनी क्यो ?
पर, प्रिय, तुमको दरस-परस से यह चिढ दुस्सह इतनी क्या ?
अथकान्वेषण की कृति मे भी परम प्राप्ति है निहित सदा,
तब फिर मेरी पार्थिवता की चरचा अहरह इतनी क्यो ?

तुम सामीप्य विरोधक हो, प्रिय, मै सायुज्य-ध्यान-धारी,
तुम महदन्तर के प्रेरक हो, मैं निकट-स्थिति - अधिकारी,
मेरे पछी की उडान तो महदन्तर-सहारक है,
मत झिझको, हे प्राण, नही है मम निश्वास दग्धकारी।

पार्थिवता भी नित्य अपार्थिव अक्षर की है एक अदा,
भौतिकता भी तुममे घुल - मिल जाने की ही है विपदा,
अहकार, मन, बुद्धि, भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश सभी,
पार्थिवता के गुण-बन्धन म बँधे हुए हैं नित्य सदा।

अहो प्राणधन, व्यक्त भाव मे, तुम अव्यक्त निशानी हो,
मै पार्थिव हूँ और अपार्थिवतामय तुम चिर मानी हो,
इन आजानु भुजाओ मे जब तुम्हे बाधने आता हूँ, –
पीतम, तब क्यो कह उठते हो कि तुम बडे अज्ञानी हो ?

श्री गणेश कुटीर कानपुर
जनवरी १९३६

बुझ चली

बुझ चली, हाय, बुझ चली, सखे,
चिर प्रेमी की प्रज्वलित चिता,
सूरज भी यह ढल चला और,
हो गयी दिशाएँ भी असिता।

ये 'हुआ - हुआ' कर उठे स्यार,
लो यह सब खेल तमाम हुआ,
यह अरमानो का पुज जला,
हो गयी भस्म आहे त्रसिता।

तडपन, आतुरता, उत्सुकता,
कुछ भी न आज अवशेष रही,
तिल तिल जल - जल सब खाक हुई,
हो गयी चेतना पराजिता।

शोलो की गोदी मे सोया
चेतना - हीन यह चिर प्रेमी,
मरघट के पीपल की हर - हर
पत्ती भी सिहर उठी दुखिता।

लौ बढी खूब लप - लप करती,
धू - धू कर मँडराया धूआँ।
चट अट्टहास कर उठी चिता,
अग्नि - स्फुलिंग - कलिका - रचिता!

जीवन की वे आकाक्षाएँ,
उत्सुकताएँ आतुरताएँ।
वह दरस - परस चटपटी अमित,
हो गयी यहाँ क्या सब विजिता?

कुछ छिन, कुछ दिन, कुछ मास और,
कुछ बरस, यही क्या है जीवन?
इस छोटी काल - सुराही मे — क्या
है जीवन-गति सुमचिता?

जिन अमल, सरल शुचि साधा पर,
उत्सग हुआ जीवन सारा?
उनका भी क्या या अन्त हुआ?
वे भी क्या यहाँ हुई थक्ता?

कैसे झाकूँ उस ओर सखे?
है मृत्यु - द्वार अवरुद्ध यहाँ।
क्या जानूँ वह कैसी नगरी?
कैसी वा डगरी सुसज्जिता?

श्री गणश कुटार, कानपुर
जुलाई १९३५

८

काँव ! काँव !!

काँव ! काव !! करो न, कागा,
सजन के सूने हृदय म कौन-सा अनुराग जागा ?
काव ! काँव !! करो न कागा !

तुम पुरातन ज्ञान - सचय
तुम अतील स्वरूप - निश्चय,
आज दो, न, भविष्य परिचय ?
हा, कहो तो, कब, किधर को, चल पड़ूँगा म अभागा !
काव ! काँव !! करो न कागा !

विरति - कुझटिका उठी यह,
स्मरण - अन्तर मे जुटी यह,
लगन खोयी - सी लुटी यह,
दीख पडता ही नही है अब सुरति का धवल-धागा,
काव ! काव ! करो न कागा !

कँप रहा है हिय इधर यह,
उठा रहा है एक स्वर यह,
कह रही आशा मिहर यह,
मुझ अयाचित ने, कहो तो, कब मिलन-वरदान मागा ?
काव ! काव !! करो न कागा !

झाँसी,
अक्तूबर १९३५

■

छोटे की स्मृति मे

युवक हृदय की प्रथम प्यास सम,
लगकर कहा गये तुम प्रियवर ?
यह इतनी विस्मृति अपनो की,
कि तुम भुला बैठे अपना घर !

बीत गये ये बरस घनेरे,
कई - कई सौ साझ सवेरे,
सहसा आज चढे स्मति-रथ पर,—
लालन तुम आये हिय मेरे,

आह ! समय यह इतना बीता,
तब भी कँपता है हिय थर-थर,
कैसे करूँ दुलार, हठीले, भव,
जब तुम आये अपने घर ?

गमनागमन, मरण जीवन यह,
यह सयोग वियोग निरन्तर,—
उद्भव, प्रलय, काल गति-बन्धन,
प्राण - दान सहार भयकर !

कौन कर रहा है क्रीडा यह ?
कौन खेलता है यो अहरह ?
बिछुडन, मिलन, बनाकर किसने—
भर दी है जग मे पीडा यह ?

अन्धाधुन्ध ? प्रिय, यह न कहूँगा,
जदपि रिक्त है तुम बिन अन्तर,

कुछ है, क्या है ? पता नहीं है,
मति-गति शिथिल, शिथिल अभ्यन्तर ।

वह प्रभात जीवन का जब हम
दो कुमार, मिल-गलबहियाँ कर,—
दाबे हुए बगल मे बस्ता,
घुसने थे शाला के भीतर !

कितना सुन्दर था प्रभात वह !
क्या मधुमय था सग-साथ वह,
रेखा - बीज - अकगणितो की—
छोटे, थी क्या विकट बात वह,

आज तुम्हारे सँग उठ आये
ये सब गत सस्मरण उभरकर,
ये गत जीवन की सस्मृतियाँ
हैं कितनी आकर्षक हिय - हर !

बहुत सोचता हूँ नर क्या है ?
है स्मृतियो का एक पुज नर,
स्मृति भ्रश से हो जाता है
क्षण - भर मे ही यह नर वानर,

आज सस्मरण - सुरा पिये, मैं—
उलझे - सुलझे सून लिये मैं—
करता हूँ जीवन अवलोकन—
तुम्हे बिठाये हुए हिये मे,

कितना सुख होता यदि होते
तुम भी सग इस जीवन-पथ पर,
दुख - सुख हम बटोरते दोनो
जीवन मे सग - मग हँस हँस कर !

जब से तुम बिछुडे हो तब से
बहुत हुआ जीवन मे अतर,
उथल पुथल हो गयी भयकर,
हुई क्रान्तियाँ हैं प्रलयकर,

नवजीवन की लहरें आयो,
प्रबल आधिया भी उठ आयी।
बारी - बारी पडी दृगो मे—
विजय - पराजय को परछाई,

कई अदृष्ट पूव घटनाएँ देखी है
इन आखा भर - भर,
पर, प्रिय, तव सुस्मृति से अब भी,
कँप उठता है मानस - अम्बर !

हुआ बहुत कुछ परिवर्तित,
इस पछी का शारीरिक पजर,
अब कुछ ढलता सा लगता है,
चढते यौवन का दिनकर खर,

जब तुम थे तब से इस 'अब' मे
घटित हो गया है महदन्तर,
मैं ही क्या, तब से अब तक तो
बदल चुका है सकल चराचर,

बडी गनीमत है जो सूखा नही
भावना का यह निझर
छोटे, उसकी केवल कल कल है
तुम-सो की स्मृति पर निभर !

डिस्टिक्ट जेल, अलीगढ
२० जनवरी १९३४

मिलन साध यह इतनी क्यों ?

वे कुछ सकुचाकर यों बोले मिलन साध यह इतनी क्यों ?
इस छोटे से यौवन-क्षण मे गलबहियाँएँ कितनी हा ?
जीवन के छोटे-से किसलय-सम्पुट मे न समायेगा—
यह अमाप सयोग-मधुर-रस, तब फिर आहे इतनी क्या ?

सच कहते हो, प्रिय, छोटा है जग के जीवन का दोना,
यहाँ भरा है विप्रयोग से उसका हर कोना - कोना
इस दोने मे लगी हुई हैं सीकें दुख के शूलो की,
यहाँ कहा सामीप्य ? यहाँ है केवल रोना ही रोना।

इस अस्थिर, अति गतिमय, चचल जीवन मे सयोग कहाँ ?
अक्षर सम्मिलनोत्सुकता का इस क्षर मे उपभोग कहा ?
जीवन है अव्यक्त भाव का व्यक्त वियोग स्वरूप स्वय,
निगुणता मे विलग सगुण का फैल रहा दुख-भोग यहाँ।

पिय-मँजोग तो अचिर नहो है, पर जीवन है अचिर सदा,
फिर क्षणभगुर मे किमि प्रकटे कालातीत नेह सुखदा ?
प्रिय - सामीप्य - लालसा तो नित प्राण-प्रमन्थन करती है,
पीतम की झिलमिल झाँकी तो मिल जाती है यदा - कदा।

पर, अनादि की मिलन आस यह अन्तवन्त हो जाये क्यो ?
इस जीवन का यह सूनापन सघन निराशा लाये क्यो ?
यदि है समय सकोच यहाँ पर तो फिर यूँ ही सही, सजन,
वा देखेगे, जहाँ काल यह सीमित हो न सताय या।

वाँ मेरी अभिलाषाओ के सोपानो पर खडे - खडे—
झारी लिये खूब ढरकाना सुरस बिन्दु तुम बडे - बडे,

मैं पनघट के नीचे प्यासी हिय अजलियाँ भर लूँगा,
वा ऐसा करना कि सुरस का तनिक न तारतम्य बिगड।

यह जीवन तो अन्वेषण की इक छोटी - सी मजिल है,
इस जीवन की डगरी सँकरी स्वेदसिक्त है, पकिल है,
इसे पार कर, हे अन्वेषक, वहाँ पहुँचना है तुमको,
जहाँ सजन की मुक्त खिडकियो पर तनिक न एक भी झिल-मिल है।

वहाँ न घूँघट वा सवट है, अवगुण्ठन का काम नही,
वा इस-उस की आख बचाने के झझट का नाम नही,
वहा सिवा पीतम प्यारे के अन्यो का अस्तित्व कहा ?
अपने बेगाने ये सब तो होते खत्म तमाम यही।

■

पहेली

यार, भडभडाते फिरते हो,
इधर उधर तुम प्यासे - से,
खोज रह हो तुम आँखो से,
किसको आज रुँवासे - से ?

बुत ऐसे गुमसुम फिरते हो,
बोल चाल का नाम नही,
इस सराय मे ही टिक जाओ,
ले लो कुछ विश्राम यही।

अपनी-अपनी गठरी बाधे-
सब, अपनी-अपनी धुन मे,-
चले जा रहे है, तुम उलझे-
किस नूपुर की रुन झुन मे ?

कौन ? पूछते हो कि कौन है–
इस तृष्णा-मद का दाता ?
कौन खेलता है यो अहरह ?
कौन आप या ललचाता ?

किसने प्रमथनशील भरी है–
प्रबल प्रेरणा प्राणो मे ?
कहो कौन वह है ? इतना विष–
जिसके शर - सन्धानो मे

सुलझाये भी नही सुलझती,
ऐसी गूढ पहेली है,
फिर भी हिय की लगन विचारी
पथ मे खडी अकेली है।

■

वसन्त

कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त 'समीर',
मँडराने लग गयी यहा भी,
सहमा यह पतझड की पीर,

हिय छलनी करने को फूलो–
सरसो की क्यारी - क्यारी
मृदुल कोपले पीडा भरने –
आयी है न्यारी - न्यारी,

अली यहाँ भी भरकर आया–
यह मधुपति अपना तूणीर,
कारागृह म भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त समीर।

हहर-हहर झर सिहर सिहरकर,
काँप रही द्रुम-वल्लरियाँ,
सर-सर खर-खर ममर कर,
नीरस पत्रावलियाँ झरियाँ,
अजर-अमर-सी नयी पत्तियाँ,
उग आयीं हरियाँ हरियाँ,
पर जग की आँखों मे करकीं,
नव जोबन की काँकरियाँ,
दिग्-दिगन्त म लहर रहा है,
जगपति का वासन्ती चीर,
कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त समीर।

विटप अट-पटी सैन दे रहे,
डुला-डुला अपनी बहियाँ,
पुनरुज्जीवन और मान की,
प्रकटी यहा धूप-छहियाँ
महा काल बरसाता जाता,
उधर मरण-रस की फुइयाँ,
इधर चुभ रही है जगती के–
हिय मे जीवन की सुइयाँ,

पास - पास हो यहा खिच रही,
जनम - मरण की अमिट लकीर,
कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त समीर।

धूप - छाँह मेरे कारा मे
क्या क्रीडा कर रही अली,
मानो आशा तथा निराशा,
मूमे आँगन मे मचली,
नभ - मण्डल मे धूम्र सदृश उड
आयी धवल मेघ - माला,
मानो नीरस तूल उडाता
हो कोई बैठा - ठाला,
मदिर - अलस - रस पूरित उठते —
यौवन - सा अति गहर गम्भीर,—
कारागृह मे भी आ पहुँचा
यह ऊधमी वसन्त समीर।

दक्षिण पश्चिम दिशि वधूटिया,
वलित विकम्पित हुई यहाँ,
अपनी श्वास समीरण - दूती,
भेज रही है कहा - कहा।
या मँडराती ही रहती है—
पच्छिम पौन की विकल व्यथा,
द्रुम शाखा विगलित पत्रा पर,
लिखी हुई मरण - कथा,

लड - लड झगड - झगड अकुर ये
निकले नस के हिय को चीर,
कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त 'समीर'।

सिहर ठिठुरती सोती हुई,
भावनाएँ जग आयी है,
नवल जागरण मिस कण-कण मे,
नव मोहकता छायी है,
जगती की अँगडाई मे है,
ढरक रहा जीवन हाला,
चचल मृदुल दृगचल का यह,
छलक रहा मादक प्याला,
सखि, यह मदिर वेदना, मेरे
हिय को करती यहा अधीर,
कारागृह म भी आ पहुँचा,
यह ऊधमी वसन्त 'समीर'।

मेरे बन्दी गृह के तरुवर
नव कम्पन से कम्पित है,
अलस थकित दिङ्मण्डल मेरा,
यह हो रहा विजृम्भित है,
मण्डित है अलसानी क्रीडा,
द्रुम की पत्ती - पत्ती म,
भरी हुई है आसव पीडा,
रज की रत्ती - रत्ती म,

जमुहाई छायी है मुख पर,
है निस्कृति तल्लीन शरीर,
कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह उधमी वसन्त समीर।

खुल - खुल झपक - झपक जाती है
अलसित आँखे लजवन्ती,
ज्यो विलीन हो जाती है मृदु
वीणा गुज मुरजवन्ती,
सतत निरुद्यम अलस हिलोरें
मन - सर मे उठ आयी हैं,
सजनि, वीचि, विक्षोभ रूप धर
हिय मे तन्द्रा छायी है,
गुन-गुन करते हुए निरगुनी,–
भवरो की आयी है भीर,
कारागृह मे भी आ पहुँचा,
यह अधम वसन्त समीर।

इस वसन्त के अलस प्रात मे,
ढूँढ रहे तुमको नैना,
गुपचुप बातें करने की,
आकुल हैं अलसाने बैना,
इस दुखिया अँगड़ाई मे
आलिंगन उत्साह भरा,
कर देना उच्छ्वास समीरण,
इस नाव का पार हरा।

अलि मपने म तो आ जाओ,
पहने नव वासन्ती चीर,
देखो, कारा में भी आया,
यह ऊवमो वसन्त समीर,

इतना तो समझो कि वसन्ती,
दिन वे मपने ही से है,
यही समय लो कि इस व्यथा के,
छिन ये सपने ही-से है,

इसको सपना ही समझे,
ढुल आओ मेरे देश अली,
स्वप्निल अवगुण्ठन मे छुपके,
आ जाओ सुकुमार लली,
आज छबीली छटा दिखा दो,
मपने की सरिता के तीर,
कारा मे भी आया, देखो,
यह ऊवमो वसन्त समीर।

ऋतु कम्पित हिय लगा-गगन मे,
नभ गगा-सी वह आओ,
किंकिणियो को कल-कल गाथा,
तपित श्रवण मे कह जाओ,
बँधकर कुछ क्षण तो रह जाओ,
मानम सर म तुम सरिते,
जरा देर तो इधर मोड दो,
निज प्रवाह, हे रस भरिते,

उमड़ा न मेरे मानस म
वासन्ती हिलोर गम्भीर,
देखो कारा म आया है
यह ऊधमी वसन्त समीर।

सूना - सूना - सा लगता है,
ऋतु वसन्त का गगन यहाँ
अरे भावने इस सूने म,
भोले मन को ठग न यहाँ,

कारा की प्राचीर लाँघकर
भटक रहा मन कहाँ - कहाँ,
मर्जित कल्पना - नभ मे तुमको,
ढूँढ रहा हूँ यहाँ, वहाँ,
इन वासन्ती नवल क्षणो मे,
दामिनि छलका दो कुछ नीर,
देखो कारा म आया है,
यह ऊधमी वसन्त समीर।

■

मन्द ज्योति

प्रिय धीमी पड रही आज मेरे प्रदीप की बाती,
यह लुट जाय कदाचित् मेरे यात्रा-पथ की थाती,
पथ सुनसान, कँटीला, टेढा, पथरीला, अज्ञात,
लक्ष्य दूर, यह भ्रमित पथिक, मग मे छायी चिर रात,

शिथिल गात, हो रहे अनेको विकट घात-प्रतिघात,
यात्री किससे कहे, कहो ता, अपने मन की बात ?
कुसमय मे लप झप करने लग गयी ज्योति अकुलाती
प्रिय, धीमी पड रही आज मेरे प्रदीप की बाती।

तुम प्रकाशपति, तुम दिन मणिपति, सतत सनातन ज्योतिपते !
सशय-दाहक, अनल प्रवाहक, हे जग पावक, अग्निमते !
निज प्रचण्ड किरणागुलियो से उकमा दो मेरी बाती,
फिर से इसे बना दो प्रिय, तुम अग्नि अरुण-धुन-मदमाती।

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरली
२६ जनवरी १९३३

¤

घनश्याम

सून पधारे सजन यहाँ, घनश्याम बने, जलधार बने,
चपला बने, बने नभ कम्पन, झझानिल - सचार बने,
शीत बने ठिठुराते आये माघ मेघ साकार बने,
नभ - गजन बन हृदय कँपाते आये भय - आगार बने,
इस कारा म, तुम करुणाकर मम जीवन आधार बने
सून पधारे, यह छवि धारे, मुन दुखिया का प्यार बने !

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरला
२३ जनवरी १९३३

¤

पावस-पीडा

सखि मेरे कारागृह म भी आती हैं मेघावलिया,
कभी सुना जाती हैं यां भी निज कूजन केकावलिया,
कारागृह का अन्तरिक्ष भी रस-फुइयां बरसाता है,
छिन मे कौतुक दरसाता है छिन हियरा तरसाता है,
सजनि यहां भी होती रहती हैं ऋतु-क्रीडाएँ सारी,
अरी यहां भी कसका करती है गत-पीडाएँ सारी!

सूना हिय-आकाश, कल्पना सूनी, यह जीवन सूना,—
यह अस्तित्व निपट सूना है, मानस दिङ्मण्डल सूना,
उधर, भरा आकाश मेघ से, प्रकृति-कल्पना सजल हुई,
नभ दिङ्मण्डल मे बिजली यह चमकी मसृति सफल हुई,
हृदय रिक्त, जग हरा-भरा है, टूट गया मन का मोती,
मेघो के मिस आयी है मम अभिलाषा रोती-रोती!

ये अनजान प्राण, पावस मे, ना जानें, क्यो तडप उठे?
जाने क्या हो गया, ठगो के ये मोती बे मोल लुटे?
जल धाराएँ ता बहती थी, अब ये आखे भी बरसी,
अलि, हो गयी त्रस्त आखे ये जल-विप्लावित अम्बर-सी,
लो, सरकार! थाम दो आकर पावस धाराएँ मेरी,
मन-मण्डल निर्धूम बना दो क्या करते हो अब देरी?

आ जाओ, हा हा ! आ जाओ इन जँगलो के पास जरा,
जरा दिखा दो स्वप्न भरे युग दृग् की नवल छटा अपरा,
खडी भीजती रहो तनिक तो इस कारा के आँगन मे,
रच देख लूँ जल - कण - मण्डित उत्फुल्लित जलजानन मैं,
काल कोठरी के जँगलो से मुझको हाथ बढ़ाके दो,–
सजनि, बलाये ले लेने दो, हियरा जरा चढ़ाने दो ?

तुम भीजो, मैं सीज पसीजूँ, तुम मुसक्याओ मैं रोऊँ,
तुम आँसू पोछो, मैं इनसे कोमल युगल चरण धोऊँ ।
अर्घ्य - ग्रहण करती तुम भरती नेह हिये, हरती पीडा,
नत - मस्तक 'नवीन' के कुन्तल से करती कोमल क्रीडा –
लोचन से कुछ-कुछ टपकाती गोल-गोल बूँदें प्यारी –
आ जाओ, लहरा दो मेरी सुघड साधना की क्यारी ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैजाबाद
१९३२

■

ओ मुरली वाले

ओ मुरली वाले, ओ [illegible], आओ
छा जाओ इस [illegible] जाओ,
कब से यही [illegible] नवनीत लिये
वृषभानुजा [illegible]
नीले [illegible]
निर्मो, [illegible]

[illegible]

साजन, निक्वण मधुर मुरलिया का अन्तरतर मे भर दो,
हिय मन्थन-शीला स्वर-पीडा सकल चराचर मे भर दो!
छन्दहीन, गतिहीन, बेसुरा ताल - रहित जीवन जग का,
ज्ञान नही है, सम का लय का, छुटा ध्यान स-नि-ध-प म ग का
तुम स्वर-लय-यति-पति मुरलीपति कम्पित कर दो स्वर लहरी,
आज बहा दो स्वर-रस धारा कुछ गहरी, कुछ-कुछ ठहरी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैजाबाद
२८ नवम्बर १९३२

■

तडपन

सपने की खिडकी से झांको मत इस निदियारे घर मे
सजनि, मत किया करो कँपकँपी पैदा यो अन्तरतर मे
विकल प्राण, म्रियमाण हृदय यह आकुल आखें, नींद कहा ?
सूने मन को लिये जा रहा स्मरण तुम्हारा यहाँ-वहाँ।
थकित व्यथित मस्तिष्क हुआ है शिथिल अग प्रत्यग हुआ
ओ मूरत, देखो तो कितना फीका सब रस रग हुआ।

कस लेने को तुम्हे भुजाएँ अकुलाती है घडी घडी,
सजनि, डबडबा आती हैं ये चचल अँखियाँ बडी-बडी,
खडी - खडी कब से मुरझी है साध बलायें लेने की,
सोचो, कितनी विकट प्रतीक्षा सजनि, तुम्हारी सैने की ?
इस सूने चौराहे पे मैं कब तक बैठूँ ? आओ तो
रानी, चिर वियोग की ठण्डी फाँसी आकर खोलो तो।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२७ अक्तूबर १९३१

■

मनोरथ

अलमस्त हुई मन झूम उठा, चिड़िया चहकी डरियाँ-डरिया,
चुन ली सुकुमार कली बिसरी मृदु, गूँथ उठी लरियाँ-लरियाँ,
किसकी प्रतिमा हिय मे रखके नव आर्ति करूँ थरियाँ-थरिया ?
किस ग्रीव मे हार य' डाल सखी बस रो दूँ लगें झरियाँ झरियाँ ?

सुकुमार, पधार खिलो टुक तो इस दीन गरीबिन के अँगना।
हँस दो, कस दो रस की रसरी खनका दो, अजी, करके कँगना।
तुम भूल गये कल से हलकी चुनरी गहरे रँग मे रँगना ?
कर मे कर थाम लिये चल दो रँग मे रँग के अपने सँग ना ?

निज ग्रीव मे माल सी डाल, ज़रा कृतकृत्य करो शिथिला बहियाँ।
हिय मे चमकें मृदु लोचन वे, कुछ दूर हटे दुख की छहियाँ।
इस साँस की फाम निकाल, सखे, बरसा दो अभी रस-की फुहियाँ।
हरखे हियरास रसे जियरा, खिल जायें मनोरथ की जुहिया।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१५ दिसम्बर १९३०

पन्थ

यह जग - मग भी अजब अटपटा टेढा - मेढा है सजनी,
धूल त्रिशूल, वबूल - शूल था यहाँ बखेडा है सजनी !
अँधियाला ले रहा यहाँ क्या खूब बलायें इस पथ की,
कौन बता सकता है गाथा इस पथ की इति की अथ की ?
अकथ सुरथ-रत विरथ पथिक मथ-मथ हिय कथा अधीर बना
चलते - चलते इस पगडण्डी की वह क्षीण लकीर बना

हँसती हुई निराशा आयी, रोती आयी लघु आशा,
मिली मार्ग मे बहती-सी यह, उद्विग्नता कमनाशा,
शब्द ढूँढती झुकी डगर मे दीख पडी करुणा भाषा,
धल-धूसरित सतत मचलती चली हृदय की अभिलाषा,
सचित शोणित कण वन-बन मन-मोती नयनो से बिखरे,
थकित पथिक को इस जग-मग मे क्या ही साथी मिले खरे !

हँस - हँस पूछो हो कि मजिलें कितनी रही जवानी की ?
मुझे क्या पता कितनी घडियाँ बाकी है नादानी की ?
नयनो ने अपनी सी की, मन मे अपनी मनमानी की
मूरख हिय ने कई व्यथाएँ, देखो पानी-पानी की !
मत पूछो कितनी है बाकी मजिल इस अज्ञानी की !
इतना जानूँ हूँ कि कही है नगरी हिय - ठकुरानी की !!

■

डुबकी

आज वह बाँकी छबि वह छटा अटपटी
स्मरण दिगन्त मे उदित हुई सहसा,
मोती टपकाते मद्य स्नान ये तुम्हारे केश
बरसा गये हिय मे रस-फुई सहसा,
स्नानोत्तर शीतलता युत पाणि पल्लवो के
स्पर्श की स्मृति से कँपकँपी चुई सहसा
अधर-सम्पुटो के मिलन की बेला, कुमारि,
भोली-भोली आखें हुई छुई-मुई सहसा।

विह्वल कम्पन युत आलिंगन वह, वह,
अन्तिम मिलन, वह झकृति हृदय की,—
निजत्व विस्मृति के वे क्षण अनमोल, वह
घटिका मुहूर्तमयी मृदु आत्म लय की,
अस्फुट वचन कलिकाओ की सुगन्ध वह,
अश्रु-सिक्त वाणी अनुनय की विनय की,
आज इन सब की अतीत स्मृति जाग उठी,
खिंचा एक हूक उठी विजित प्रणय की

याद पडता है वह दिन, वह घडी जब
कुछ क्षण को मेरी सौभाग्य रेख चमकी,
उदित हो गये पुण्य, प्रमुदित हिय, खुले
भाग्य, हुई पूरी साध जनम-जनम की।

गोद म बिठा के, दुलरा के, खूब याद है
सिंगार की थी गुप-चुप धरम-करम की
छोटे से नवीन के हृदय मे, भरी है कई
बाते उस पुरातन भेद की भरम की।

डिस्ट्रिक्ट जेल फैजाबाद
१२ अगस्त १९३२

■

मत तोडो गहरा सपना

कुछ सुख की परछाही से, कुछ दुख से, कुछ आशा से,
कुछ उनकी हाँ-नाही मे, कुछ कुण्ठित अभिलाषा से,
हिय टूक टूक तो था ही, इतने म घन घिर आये,
सूने मानस मण्डल मे सस्मरण विगत फिर आये,
जीवन का सोया सपना, जग उठा आज यह सहसा,-
हिय तल मे खटक रहा है, युग-युग के अमिट विरह सा।

जिसने सपने मे देखी सत्यता सकल ससृति की,
जो जीवन बिता रहा है, लकुटिया लिये सस्मति की,
उसको सब जग कहता है, है बडा ढालने वाला,
कहते है सुध-बुध बिसरो पीकर जीवन का हाला,
जग को वह क्या समझाये ? जग है आखो का अन्धा,
जग समझ बूझ वाला है, वह ना समझी का बन्दा।

सपने ही की क्रीडा में, सब जीवन बिता दिया है,
माया की मृदु-मूरत पे, सर्वस्व निसार किया है,
छिन खिली धूप-जग-मग मे, छिन में अँधियारो आयो,
यो निपट धूप-छहियों में जीवन की अवधि बितायो,
थोडी-सी बाकी घड़ियाँ, अब कट जाने दो यो ही,
मत तोडो गहरा सपना, ओ जी पीतम निर्मोही।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
१० अगस्त १९३२

■

पुकार

ओ मेरे गोपाल छबीले कुछ ठुनका दो पाँजनियाँ,
झुन-थुन-रुन-खुन टुन-टुन-धुन को तुम बरसा दो याँकनियाँ,
पाजनिया किंकिणिया गूँजे हुलस उठें ब्रज की जनियाँ,
मैं बलि जाऊँ, तुम कुछ ठुमको, डोलो, मम घर-आँगनियाँ,
प्यासे श्रवण, हृदय अकुलाया, धुन सुनने को नूपुर की
अहो, हठोले ज़रा ठिठक, टुक आज हरो पीडा उर की

एक-एक रुन-झुन मे उलझी आकाक्षाएँ कई-कई,
तुम क्या जानो, निठुर, जगी है क्या-क्या पोडा नयी-नयी
रही-सही यह लाज निगोडी बह-बह गयी नयन जल म
उझक-उझक मग जोह रही है कठिन प्रतीक्षा पल-पल मे
कुटिया के दरवाजे बैठा कब से कान लगाये मैं,
निष्ठुर, अब तो आ जाओ, इस घनी कुहू के साये मे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैजाबाद
२७ नवम्बर १९३२

■

अज्ञान

क्या जानूँ यम-नियम-उपनियम, सनम, तुम्हारी गलियों के ?
यों ही उलझ गयी फन्दे मे मै तो तुम-से छलियों के
मै गरीबिनी क्या जानूँ तव पूजन की विधियाँ सारी ?
मैं क्या जानूँ क्या होती हैं योग - नियम-विधियाँ सारी ?
आँख लगी, अरमान जगे, अब कहते हो कि नियम पालो।
अब तो आन पडी हूँ दर पे जैसे जी चाहो टालो

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैजाबाद
२४ नवम्बर १९३२

■

स्थिति वैचित्र्य

कुछ हिसाब नही कि क्या-क्या है मेरे अन्तस्तल मे,
क्या गणना है कितनी बातें धँसी हुई इस दल-दल मे ?
आकांक्षाएँ डूब गयी हैं कितनी ही इस हिय-तल मे ?
ज्ञात नही कितने बुदबुद हैं उठते इस पंकिल जल मे ?
    हिय मे उत्पल है कि उपल है ? इसका भी कुछ ज्ञान नही
    इस हिय-थल की उथल-पुथल पर जग देता है ध्यान नही ।

मेरी भर्रायी कण्ठ-ध्वनि मे है आह भरी जग की,
कौन जान सकता है पीडा मेरे शब्दों के मग की ?
खींच-तान होती है बैठे हुए गले की, रग-रग की,
तब भी नही सुनाई देती कण्ठ-ध्वनि गायन के मग की,
    रुद्ध कण्ठ के पिंजर मे है बन्दी घोर अवरुद्ध यहाँ
    गायन की चातुरी गली की आज नहीं रस बुद्धि यहाँ।

आँखो के पलडो मे तुलते है मोती दिन - रात यहाँ,
क्या जानूँ किसके कहने से होता बिन्दु - निपात यहाँ ?
जब से आख सँभाली तब से हुई अनोखी बात यहाँ–
दीखा सदा गगन धुँधला सा मुझको साय प्रात यहाँ,
रात यहा, मध्याह्न यहाँ, है प्रात यहाँ इन नैनो मे,–
शयन, जागरण नवोत्थान है इन नैनो की सैनो मे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१४ जनवरी १९३१

■

रुन-झुन

क्या क्या भरा हुआ है नूपुर की इस रुनुक-झुनुक म ?
सखि, बतला दो क्या भर लायी हो इस ठुनुक-ठुनुक म ?
इन झाझो की खन खन मे यह क्या ध्वनि सुन पडती है ?
बोलो, सुई सुई-सी यह मृदु रुन झुन क्यो गडती है ?
मत डोलो आँगनियाँ म यो खनकाती पाजनियाँ,
कभी कभी तो माना करो बात मेरी, हाँ, रनियाँ !

पाजनिया के मिस हिय - झकृति की क्रीडा करती हो,
सहज चाल के मिस जीवन मे क्या पीडा भरती हो ?
कोमल चरणो के आभूषण म बोलो तो, रानी,
किसने भर दी पोडा ? है यह कौन वेदना दानी ?
अमल कमल सम पद-विन्यासो की कोमल झकारें –
हिय मे क्यो ठनका देती है पीडा की टकारें ?

चरण - नूपुरो से उठती है कम्पित - सी स्वर - लहरी,
मानो लोहित दीप - शिखा कुछ कँपती हो, कुछ ठहरी,
चरणो के तलुआ को लज्जित - सी मेहदी की लाली —
भरी हुई है, सजनि तुम्हारी रुनझुन मे मतवाली,
पाँजनियाँ, किंकिणियाँ, झाँझे गूँज रही हैं बाले।
सरसा रहे वेदना हिय मे ये नूपुर धुनवाले।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१५ जनवरी १९३१

■

कुण्डल

केशावृत युग कर्णों मे —
क्या छटा रुपहरी छिटकी ?
इस कच - निशीथ मे आकर
क्यो प्रखर दुपहरी ठिठकी ?

तारो मिस क्या अँधियारी, —
यह चमक रही है क्षणदा ?
अथवा यह विहँस रही है ?
घन तिमिर विजयिनी रणदा ?

हीरक ताटंक सलौने—
युग श्रवणो मे लटके हैं,
मानो दिङ्मण्डल - पथ म
दो इन्द्रधनुष अटके हैं।

कुण्डल की यह झाईं है ?
या चमक रही है आशा ?
या दीप सँजोये बैठी—
यह मेरी हिय - अभिलाषा ?

झुक घूम-झूम डुलते हैं,
आगे - पीछे झूले - से,—
दायें-बायें हिलते है
कुण्डल फूले - फूले - से।

'हाँ'—कहते ही, ऐ वाले,
झूले की पेंग बनें ये,
'ना' कहते दायें - बायें—
हिल उठें लाज सने ये।

कुण्डल संकेताक्षर हैं—
'हाँ-नाँ' की हिय-भाषा के,
सखि, टँगी निराशा इनपे,
ये हैं बन्धन आशा के।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
३ मार्च १९३१

■

वह बाँकी झाँकी

वसन्तोत्सव के दिन तुमने
निज विद्यालय मे, रानी,
बाल - कृष्ण लीला खेली थी,
निपट नवल रस मे सानी,

लम्बे सघन कुन्तलो का सखि,-
तुमने बाँधा था जूडा,
कोमल पाणि युगल मे ली थी
स्वनित मुरलिका रस-गूढा,
सुकुमारी चूडियाँ तुम्हारी, कर-ककण बन आयी थी,
अली, सुना है उस दिन श्यामल जल-घन बन तुम छायी थी।

कम्पित जल की परछाई-सी,-
औचक चपला चलिता सी,-
रग मच पर तुम आयी थी,-
कृष्ण रूप धर ललिता-सी,
मोर मुकुट थिरकाती थी वह,-
सलज चाल की ठुमक भली,
बजा रही थी किंकिणियाँ
वह चरण-न्यस्ता झुमक, अली,
मोहित हुई दर्शिकाएँ सब जगमग हुई नाट्यशाला,
कुछ जादू कर गया, सजनि, वह रूप तुम्हारा मतवाला।

एक बार वैसे ही धारे-
मोर पख का मुकुट नया,-
कुछ लज्जित-सी कुछ खिलती-सी-
ठिठक ठिठक आओ कृपया,
एक बार वह दृश्य दिखा दो,
जिसकी इतनी है चरचा,
सखी-सहेली मन मे जिसकी-
करती हैं अब तक अरचा,
मेरे हिय मे सदा बसो उस कृष्ण रूप मे तुम, सुभगे,
नागरी बनी, नटेश्वर मेरे हिय म भरमो तुम भामे!

श्याम बनो, अभिराम बनो,
अविराम करो हिय मे क्रीडा,
परदे की इस ओर, सजनि, तुम,
प्रकटो, छोडे निज व्रीडा,

मुरली लिये पधारो, हिय मे
मृदु स्वर की पीडा भर दो,
मेरे सूने वृन्दावन मे—
आज रास-क्रीडा कर दो,

जूडा बँधा, मयूर-मुकुट, कर मुरली, हा क्या छवि बाँकी।
कृपा रूप धारिणि स्वामिनि, अब दिखला दो अपनी झाँकी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१२ जनवरी १९३१

■

माँग

बोलो, किसने माँग भरी यह,
सजनि, तुम्हारी सुकुमारी?
इन कालो के ऐन बीच यह—
दीप शिखा-सी मृदुला, री,

सुनते हैं कि दीप कालो के—
आगे नही जला करता,
सुनते है नागो के सम्मुख—
कोई दीप नही धरता,

रंच बता दो किसने लौ यह आन लगायी है प्यारी?
बोलो किसने माँग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी?

कौन साहसी है वह जो यूं-
खेल रहा है व्यालों में ?
कैसी होगी वह नारी –
जो उलझी हो इन व्यालों में ?
हम नागिनिये लहरा गये –
देख - देख क्रीडा इनकी,
खूब फँस गये कुण्डलियों में,
अनुभव की पीडा, इनकी,
अरी फेर दो विष के मन्तर की कड़ियाँ न्यारी-न्यारी
बोलो किसने माँग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी ?

सेंदुर की सीधी रेखा यह,
खींची बडी चतुरता से,
अलि, किसने अरुणिमा छबीली
भर दी है आतुरता से
क्या धारे हो मस्तक पर सखि,
इसका तुम्हें पता क्या है !
लोहित, विजित, हमारे हिय की
यह तो अरुण पताका है।
करुण हमारी मूक वेदना आज निखर आयी सारी,
बोलो किसने माग भरी यह सजनि, तुम्हारी सुकुमारी ?

आज निखिल ब्रह्माण्ड हो गया–
है विभक्त दो भागो मे,
अथवा दो रातें उलझी है
अरुण उषा के धागो मे ?

यह कौमार्य और यौवन का
किंवा सन्धिकाल आया ?
या परिणीता अमल माधुरी
की है मदमाती छाया ?
सजनि, माँग है ? या आया है कोई यहाँ क्रान्तिकारी ?
बोलो किसने माग भरी यह आज तुम्हारी सुकुमारी ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१५ जनवरी १९३१

८

मेरी टूटी गाडी

ढचर - ढचर करती जाती है मेरी टटी गाडी,
जजर हुई आज मेरी सब नस - नस, नाडी नाडी।
दौडे चले जा रहे हैं सब अपने - अपने रथ पे,
भागा - भाग मची है स्पर्धा - मिश्रित जीवन् पथ पे।
धूल उड रही है, क्षण - क्षण मे उठे गर्द - गुब्बारे,
मँडरा रहे बवण्डर पथ म कैसे न्यारे - न्यारे,
घोर अशान्ति, क्रान्ति की क्रीडा करती है पल-पल मे,
धुआँधार मच रहा विकम्पित विचलित अन्तस्तल मे,
सभी सभी से आगे रहना चाह रहे इस मग मे,
अजब बावलो का समह है एकत्रित इस जग मे,
इस जग-मग म आन फँसा हूँ मैं भी एक अनाडी,
ढचर-ढचर करती जाती है मेरी टटी गाडी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
११ जनवरी १९३१

घडियाल बजाने वाले

घन-घन करते चलते जा रहे हैं ये बैठे-ठाले,
क्या पागल हो गये आज घडियाल बजाने वाले ?

सुबह शाम, दिन-रात गिन रहे हैं ये बीती घडिया
जमा हुए है यहाँ निठल्ले देखो, बडे निराले।

मुगरी लेकर धमा-चौकडी मचा रहे मनमानी,
या एकत्रित समय - कोष पर डाल रहे ह ताले।

काल बली के टुकडे टुकडे कर के ये कहते ह –
'इतनी तो निभ गयी अरे, थोडी सी और निभा ले!'

क्षण-क्षण चली आ रही है अति निकट अन्त की घटिका ?
अरे आखिरी घडी टली है कभी किसी के टाले ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१० जनवरी १९३१ रात्रि, २ ३०

■

पत्र

मेरी रानी,

पानी पानी हुई सियाही यह मेरी,
हाथ कँप रहे, लगा रही है निष्ठुर कलम वृथा देरी,
घेरी है आखें पलकों ने, चिर, दुविधा हिय म छायी,
लिखूँ ? न लिखूँ ? क्या लिखूँ ? कैसे लिखूँ ? समस्या घिर आयी,

होगे कैसे प्रकट बुलबुले चपल, सरस नीके - जी के ?
फैल रही है स्याही, आखर उभर रहे फीके - फीके !

हे कल्याणि,
पाणि-युग लतिका - से आडोलित डोल रहे,—
छिन उलझाते छिन सुलझाते हृदय ग्रन्थियाँ खोल रहे,
आसू घोल रहे स्याही मे अजब सुखिया नयी - नयी,
एक - एक अक्षर से छिटकी आतुरताएँ कई - कई,
घुल-घुल कर धुँधले अक्षर बह चले नयन के जल कण से,
अन्तर्हित हो रहे शब्द सब मम मृदु विगत सस्मरण - मे ।

कामिनि,
यामिनियाँ - सी चमके हूक हिये मे रह - रह के,
इधर भिगोती चन व्यथ ही फूहड आखे बह - बह के,
कह - कह चहक रहा है बीती गाथा मनुवाँ कीर सुआ,
आज हृदय के अटल उपल से कुछ लोहित सा नीर चुआ,
ना जानूँ क्या हुआ कँटीली कलम जिस घडी से थामी,
भटक रहा हूँ, देवि, हुआ हूँ जब से इसका अनुगामी ।

स्वामिनि,
यामिनियाँ घन छायी इधर - उधर सब ओर यहा,
फैल रही आखो के पथ मे अँधियाली घनघोर यहा,
ओर-छोर है कहा ? पन्थ की दिखती नही तनिक रेखा,
इधर तुम्हारी छबि दिखलाती आशा बनी चित्रलेखा,
जाऊँ किधर ? कहाँ मन्दिर है ? ओ मूरत, कुछ बोलो तो,
कुम्हला रहे कुसुम ये मेरे पूजा के पट खोलो तो ।

अनुरागिणि,

विरागिणी बनकर विचर रही है लगन यहां,
घूम रही है भसम रमाये अलमस्तानी मगन यहाँ,
कहाँ - कहा यह अलख जगाती फिरती यो पगली - सी है,
दिखने मे त्रिक्षिप्ता - सी है, पर, यो भली - भली - सी है,
सन्यासिनी बनी फिरती है अन्वेपण रत लगन, अली,
सूनी है, धूमायित भी है देखो उसकी गगन - थली।

प्रमदे,

भ्रम देखे है, सम्भ्रम भी देखे इन आखो से,-
आँख लडायी हमने भी दस - बीसो से क्या, लाखो से ?
कुछ दुनिया हमने भी देखी हम भी इधर - उधर भटके
पर क्या कहे ? तुम्हारे दर पर ही आकर लाचन भटके।
तब से कुछ ऐसा जुनून यह छाया है अलमस्ताना,
अपने पागलपन पर हमने जाना कभी न पछताना।

बाले,

छाले पडे हुए ह, क्यो पड जाते है छाले ?
यह अपने रसज्ञ हिय से तुम चुपके - से पूछो, बाले,
पाले बडे नाज के ये, क्या जाने जग के रँग - ढँग य ?
नेह - भरे भोले - भाले हैं, रखते सदा व्यथा सँग ये,
हिय - फुलवारी मे तुमको ये पारिजात - से फूल मिले,
आक्पण - सघर्प - विकपण - वल्लरियो के कुसुम खिले।

सजनि,

रजनियाँ निस्तब्धा जब उपवन मे छा जाती हैं -
तब मानस के शन्य गगन म लहरें कुछ घहराती हैं,

कभी तुम्हारे नूपुर की ध्वनि खन-खन करती है मन मे,
कभी चूडिया झकृत होती मधु-समीर के नि स्वन मे,
सलज तुम्हारी हँसी सलौनी मै निजन मे सुनता हूँ,
नीरव उपवन मे मुसक्यानो की नव कलियाँ चुनता हूँ।

ललिते,

तुम्ही बता दो क्या क्या लिक्खूँ छोटी पाती मे ?
कुछ लिखता हूँ तो होती है धुक्-धुक् मेरी छाती मे,
इसे कहूँ सकोच ? भीरुता ? या, लज्जा ? इसको, बाले,
क्यो पड जाते ह यो मेरे शब्दो पर सहसा ताले ?
सकोची है, निपट निरक्षर है यह मेरा प्यार, सखी,
निरी असस्कृत, शब्द-हीन है उत्कण्ठित मनुहार सखी।

प्रेम, प्यार, आकपण, घपण बालो किसको कहते हैं ?
झर झर करते लोचन झरने क्यो उमडे से बहते ह ?
रहते हैं किस देश छबीले रोदन-गायन के स्वन ये ?
सिमिट छुपे किस मजूषा मे मुझ अति निधन के धन ये,
कौन देश की यह विदेशिनी प्रीति रीति मग मे छायी ?
जीवन सचालन की कैसी नयी-नयी विधियाँ लायी ?

सजनि, बता दो तनिक, कँपकँपी क्यो होती दिन-रात यहाँ ?
क्यो होते इस वैरिन के ये घात, और प्रतिघात यहाँ ?
इस रोमाचकारिणी ठगिनी का है नीरव नीड कहाँ ?
तनिक बता दो वह थल, भावो की उमडी है भीड जहाँ,
देखो तो यह कम्पन रह-रह स्मरण-करण्डक खोल रहा,
करता है उत्पात, देख लो, रोम रोम मे डोल रहा।

सुनता हूँ कँपकँपी व्याप्त है इस जगती के कण कण मे,-
जड मे, चेतन मे, विकास के अणु-अणु के सघपण मे,
सुनता हूँ, कम्पन होता है अचल उपल के अन्तर मे,-
धुक्-धुक् होती ही रहती है इस सूने-से अम्बर म,
सजनि, दुरूह जनश्रुति है यह, इसमे मुझे प्रतीति नही,
तुम तो दिखलाती हो कम्पन-हीन प्रीति की रीति नयी !

कम्पन मे कम्पन होता है-यह भी गुरुजन कहते हैं,
सुनते है कि एक के लोचन देख अन्य के बहते है,
क्या प्रतिवाद भयकर मेरे लिए नियम सब है जग के ?
मेरे लिए त्रिशूल हो गये क्या सब फूल नियति मग के ?
रग-रग रोम-रोम निशि-वासर नाम सुमरनी फेर रहे,
देखो, कितनी आतुरता से वे सब तुमको टेर रहे।

ओ मृदुले, क्या लिखूँ बताओ इस बिलखाती पाती म ?
कैसे हिय निचोड रख दूँ मै इस पाती अकुलाती म ?
खीच रहा हूँ टेढी-मेढी रेखाएँ कँपते कर से,
विभ्रम सम्भ्रम-भाव चुआ है मेरे अक्षर-अक्षर से,
भाषा की दीनता, शब्द की दरिद्रता खल रही मुझे
पत्र लेखनोत्सुक्ता की यह ज्वाला कैसे, अहो, बुझे ?

क्यो लटकी हो तुम आशा की फासी-सी जीवन मग मे ?
पडी तुम्हारी स्मृति की बेडी हिय-उत्कण्ठा के पग म,
भीगे पग, सजनि, मेरे इस तृष्ण कल्पना मधुकर के,
छिटक रहे हैं धवल लवण-कण, लोल लोचनो मे ढरके,
काँप रही है जीवन मग के वृक्ष-तरु की डाली डाली,
सूख रही स्निग्धता रसीली, लुप्त हो रही हरियाली !

है कसूर किसका कि जवानी चिर वियोग की रात हुई ?
किसका दोष कि जीवन की षड् ऋतुएँ चिर बरसात हुई ?
दोष किसी का नहीं हृदय अभिलाषा हुई विरानी, री,
जब से सुरत सँभाली, तब से करता हिय मनमानी, री,
जाने दो, मत सुनो, व्यथा है मेरी बहुत पुरानी, री,
सदा रहो, तुम नव 'नवीन' के हिय में ओ ठकुरानी री!

गाजीपुर
जनवरी १९३१

किमिदम्

जीवन की दोपहरी में ही आज साँझ हो गयी, सखे,
आशा की किरणें आँखों में निशा आज सो गयी, सखे,
गल-गल हिय का उपल यह चला बूँद-बूँद टपकी ज्वाला,
सकल विधान उलटने को यह क्रान्ति आ गयी विकराला

छलनी-छलनी हृदय हो रहा,
मन क्रम वचन हताश हुए,
जीवन-भर के विमल मनोरथ
एक साथ गतआश हुए।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ अप्रैल १९३१

फिर से

फिर से क्या आफत आयी।
दिल कहा गया वह अपना ?
है अजब हाल इस मन का
देखे हैं दिन मे सपना।

कँपना हिय ने सीखा था
आखें सीखी थी झपना,
पर रसना ने सीखा है—
अब किसी नाम का जपना।

अलमस्त सदा के ठहरे
अल्हड नवीन ये झेले,
फिर आज वह चले इनके—
हिय के सुकुमार फफोले।

थे गये सहज ही कासी
गल-फाँसी ले आये ये,
कासी - करवत के बदले
हिय - गाँसी ले आये ये।

विभ्रम सम्भ्रम की अपनी—
भूली - सी अकथ कहानी,—
इनने मूरखता करके
फिर से कहने की ठानी।

अपनी पोथी के पन्ने
ये उलट रहे है फिर से,
अतर मे इनके ज्वर है
बाहर दिखते सुस्थिर - से।

मानस के कारे पट पे
छवि चित्रित कर लाते हैं,
फिर देख उसी को निशि - दिन
आखे भर - भर लाते है।

समझाये से समझे क्या ?
ये तो है बडे हठीले
हैं हाथ बढाते लेने
उत्फुल्ल प्रसून कँटीले।

अपनी हिय ठकुरानी का
दिन रात ध्यान धरते है,
है क्षणिक बुद्धि ये ऐसे
छिन जीते छिन मरते है।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१० सितम्बर १९३१

■

फिर से

फिर से क्या आफत आयी।
दिल कहा गया वह अपना ?
है अजब हाल इस मन का
देखे हैं दिन मे सपना।

कँपना हिय ने सीखा था
आखें सीखी थी झपना,
पर रसना ने सीखा है—
अब किसी नाम का जपना।

अलमस्त सदा के ठहरे
अल्हड नवीन ये झेले,
फिर आज वह चले इनके—
हिय के सुकुमार फफोले।

थे गये सहज ही कासी
गल-फासी ले आये ये,
कासी - करवत के बदले
हिय - गासी ले आये ये।

विभ्रम सम्भ्रम की अपनी -
भूली - सी अकथ कहानी,—
इनने मूरखता करके
फिर से कहने की ठानी।

अपनी पोथी के पन्ने
ये उलट रहे है फिर से,
अन्तर मे इनके ज्वर है
बाहर दिखते सुस्थिर - से ।

मानस के कोरे पट पे
छबि चित्रित कर लाते हैं,
फिर देख उसी को निशि - दिन
आँखें भर - भर लाते है ।

समझाये से समझें क्या ?
ये तो है बडे हठीले
हैं हाथ बढाते लेने
उत्फुल्ल प्रसून कँटीले ।

अपनी हिय ठकुरानी का
दिन रात ध्यान धरते है,
हैं क्षणिक बुद्धि ये ऐसे
छिन जीते छिन मरते हैं ।

श्री गणश कुटार, कानपुर
१० सितम्बर १९३१

फिर से

फिर से क्या आफत आयी।
दिल कहा गया वह अपना ?
है अजब हाल इस मन का
देखे हैं दिन मे सपना।

कँपना हिय ने सीखा था
आखे सीखी थीं झपना,
पर रसना ने सीखा है–
अब किसी नाम का जपना।

अलमस्त सदा के ठहरे
अल्हड नवीन ये झेले,
फिर आज वह चले इनके–
हिय के सुकुमार फफोले।

थे गये सहज ही कासी
गल-फासी ले आये ये,
कासी - करवत के बदले
हिय - गासी ले आये ये।

विभ्रम सम्भ्रम की अपनी–
भूली - सी अकथ कहानी,–
इनने मूरखता करके
फिर से बहने की ठानी।

अपनी पोथी के पन्ने
ये उलट रहे है फिर से,
अन्तर में इनके ज्वर है
बाहर दिखते सुस्थिर - से ।

मानस के कोरे पट पे
छवि चित्रित कर लाते हैं,
फिर देख उसी को निशि - दिन
आँखें भर - भर लाते हैं ।

समझाये से समझें क्या ?
ये तो हैं बडे हठीले
हैं हाथ बढाते लेने
उत्फुल्ल प्रसून कँटीले ।

अपनी हिय ठकुरानी का
दिन रात ध्यान धरते है,
है क्षणिक बुद्धि ये ऐसे
छिन जीते छिन मरते हैं ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१० सितम्बर १९३१

एक घट

एक घूँट, हाँ एक घूँट, बस दे जाओ ह प्राण, मुझे,
तनिक समीप अधर-सम्पुट ल आओ, कुछ तो प्यास बुझे,
एक घूँट उन अधरा का मधुरस ल लने दो कृपया,
एक घूँट देकर, स्वामिनि, यह प्यास बुझा दो, करो दया,
तडपा हृदय, गला चिटका है व्याकुल मन, जीवन सूखा,
एक घूँट, हा एक घूँट म, लहरे रोम-राम भूखा।

आवे खुले, मुँद आवे, यो साधे नयनो म ब्रीडा,
धक् धक् करते हिय म धारे तन्मयता की मृदु पीडा,
ग्रीवा उठा, अरुण, मादकता लिये कपोलो म आओ,
झूम-झूम झुक आओ, मेरे बाहुपाश मे बँध जाओ,
ललित-लाज से झगडा करती आतुरता का सग लिये,
एक घूँट, हा एक घूँट म सरसा दो मधुराग, प्रिये!

एक घूँट की मादक स्मृति मे डूबा मेरा जग सारा,
अब तो सूने मानस-मग म आन बहा दो रस-धारा,
मेरी लघु माधवी कल्पना, एक घूँट की मतवाली,
कब से खडी हुई है अपनी लिये हुए खाली प्याली,
आज अधर से अधर हमारे य प्यासे मिल जाने दो,
एक घूँट, हा एक घूँट म दो दिल मिल हिल जाने दो।

रेल पथ इटावा स इलाहाबाद
२५ सितम्बर १९२१

उजड धाम

उजड गया हिय भवन हमारा, उजडी प्रेम - नेम-डगरी,
बरबस आज छुट रही सहसा अपने पीतम की नगरी,
रह-रह ये लोचन लालायित फिर फिर पथ निहार चले,
अथवा अपनी निधि न्योछावर करते बारम्बार चले,
अटक-अटक कुछ ठिठक-ठिठक कुछ मटक मटक झुकते झुकते,
अलस, थकित हम यात्री चलते जाते हैं रुकते - रुकते

सदा राज महलो मे भटके हम हिय का सौदा करते,
बडे जतन से गाहक ढूँढा, आखो के झरते - झरते,
हिय हारिणी रुझान देखकर, लज्जा से मरते-मरते,
अपनी चीज सामने रख दी हमने कुछ डरते - डरते,
गाहक उठे, — बलाएँ ली हिय - निधि की जीवन - ऊषा मे,
फिर कह उठे कि वस्तु सुघड है, रख लो निज मजूषा म ।

यो ही हम नवीन मतवालो का हिय - भवन उजाड हुआ,
इस जीवनका एक एक क्षण अब तो विकट पहाड हुआ,
विफल जवानी मे मनसूबे आये, ठहरे, चले गये,
हमसे नव नवीन ज्ञानी भी देखो सहसा छले गय,
भले गये - हाँ भले गये वे चचल मनसूबे मन के,
बुरा हुआ जो छोड चले वे कुछ सस्मरण विगत क्षण के ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ अक्टूबर १९३१

व्याकुल

क्या ही अदा तुम्हारी, क्या ही शगल तुम्हारा !
दिन-रात साजते हो जीवन का दम सहारा ।

नत ग्रीव क्या हुए हो ? लोचन उठा के देखो,–
अब ढल चुका है सूरज, है शून्य पन्थ सारा ।

घनघोर कामनाएँ - हिय में उमड घुमडती,
बरसायेंगी कभी ये रस की अटूट धारा ?

पागल समझती तुमको दुनिया 'नवीन' भोले,
तुम तो बताओ लेकिन उपनाम क्या तुम्हारा !

शौकीन तुम बडे हो, उनको बुला रहे हो,
यह तो कहो कि तुमने उनको कहाँ निहारा ?

सरकार, न आओ तो नूपुर तो मत बजाओ–
इससे तडप उठे है आकुल हृदय हमारा

इतना तो करो मालिक झिलमिल की ओट ही से–
मेरी सदा पे परदा हिल जाये कुछ तुम्हारा !

डिस्ट्रिक्ट जेल गाजीपुर
२ जनवरी १९३०

भोली मूरत

ओ भोली मूरत, मत आओ
तुम मेरे लोचन पथ मे,
अभी नही विस्मरण खण्ड का
कर पाया हूँ मह, पथ में।
सुनो, सीख लेने दो मुझको
नव विस्मृति का पाठ जरा,
जरा सुखा लेने दो मुझको
अपना हियरा हरा - भरा,
अपनी मुसकाती आखो की–
झाकी तुम मत दिखलाओ,
घाले, अवगुण्ठन मे रहकर
तनिक भूलना सिखलाओ।

मधुर मधुर फुहिया-सी रिमझिम,
मत बरसाओ विमल हँसी,
लह - लह कर अकुरित बनेगी
मम आशा - क्यारी हुलसी,
झुलसी हुई पडी है मेरी,–
खेती यो ही रहने दो,
जरा रोक लो तुम अपनी यह
स्मिति-धारा, मत बहने दो,
सूखा खेत, मडैय्या टटी,
फटी बाँस की बासुरिया,
अब न गुदगुदाओ, दुखती हैं
सखि, 'नवीन' की पासुरियाँ।

वेणी

अरी ओ उत्कण्ठित सुकुमारि, – जरा सुलझा लो उलझे बाल ।
ये काले लंबे भँवराले,
अलि, ये बड़े नाज़ के पाले,
बिखर रहे हैं ये मतवाले,
सुन्दरि, कर दो इन्हें निहाल–जरा सुलझा लो उलझे बाल ।

तन्तु नाम के विरल जाल-से,
लोचन कण की तरल माल से,
वायु विडोलित कमल-नाल-से,
झूम रहे हैं बाल विशाल – जरा सुलझा लो उलझे बाल ।

कर में ले लो कंघी पैनी,
आज गूँथ लो सुन्दरि, वेणी,
यहाँ बहा दो श्याम त्रिवेणी
उठने दो तरंग उत्ताल – जरा सुलझा लो उलझे बाल ।

धूमशिखा-सी हिल डुलती है,
निशि-तम से मिलती-जुलती है,
सजनि, लटें रह-रह खुलती हैं,
कैसा इनका हाल विहाल – ज़रा सुलझा लो उलझे बाल ।

गौर वदन पर फहराते हैं,
युग कपोल पर लहराते हैं,
श्यास - जलद से घहराते हैं,
बाल हैं य मेघों की माल ? ज़रा सुल्झा लो उलझे बाल ।

वेणी अली, बाँध लो कसकर,
ललित कुसुम गूँथो हँस हँस कर,
देखो इधर नैन में रस भर,
तुमको विश्व विजय की चाल–जरा सुलझा लो उलझे बाल।

बाँधो चोटी बड़ी चुभीली
अति अनियारी, बड़ो नुकीली,
लगन, देख हो जाय, चुटीली,
भरे वेदना से हिय-थाल -- जरा सुलझा लो उलझे बाल।

तन्मय-सी मत देखो दर्पण,–
कर दो कहीं न आत्म समर्पण,
है ऐसा केशों का कर्षण,
मानो सिखवन, भोली बाल,–जरा सुलझा लो उलझे बाल।

चित्र लिखी सी सस्मित-सी तुम–
केश न देखो, विस्मित-सी तुम,
मन मोती होवे न कहीं गुम–
है अति सघन,सुमुखि,कच-जाल,–जरा सुलझा लो उलझे बाल।

एक एक कुन्तल से, रानी,–
बँधी हुई हिय लाज सयानी,
अब गूँथो वेणी कल्याणी,
आया है यह यौवन - काल, - जरा सुलझा लो उलझे बाल।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
२० जनवरी, १९३१

■

एकाधिपत्य

देखो तो 'नवीन' है कैसा शूल तुम्हारी पसली मे ?
कौन करकराहट भर लाये तुम नैनो की तसली मे ?
वह झुँझलाहट सखे, तुम्हारी, यह अनमना भाव मन का, —
साफ कह रहा है कि लगी है जग गले की हँसली मे।

वडे शौक से तौक गले मे डाले तुम घूमो हो, जी,
नही समझ पाये ? यह तो है लौह खण्ड, ऐ मनमौजी,
इन खनखनती लौह् शृखला की कडियो को गिन गिन के
आज सुस्त - से याद कर रहे तुम अपने किन-किन को जी ?

मन मे जो खुट - खुट होती है, यह क्या है, कुछ बोलो तो ?
जरा सँभल कर अपने मन के पलडे पर कुछ तोलो तो,
नेह - हाट मे फैल रही है नित एकाधिकार चिन्ता,
क्या तुम भी फँस गये इसी मे ? अपना हृदय टटोलो तो।

देख तौक की यह कडिया तुम याद करो हो इन - इन को,
जिनके कारण गुण - बन्धन का पाठ मिला तुम निरगुन को,
आज तुम्हारे कहा रहे ? वे सभी पराये खूब हुए,
फिर एकाधिपत्य के पीछे और अधिक क्यो हो ठुमको ?

तुम भी क्या अनुभव करते हो, अरे डाह का दाह सखे ?
तुम तो वडे मस्त मौला हो, तुमको क्या परवाह सखे ?
तुमने दिल देना सीखा है, यह लेना कब से सीखा ?
हठी ! यहाँ जग मे क्या रखना कुछ लेने की चाह सखे ?

जानूँ हूँ एकाधिकार तो दिल का एक तकाजा है,
प्रेम - पन्थ पर नित चलने का यह भी इक खमियाजा है,
किन्तु पूर्ण अधिकार तुम्हारा यदि उनको अस्वीकृत हो,
तो फिर चुपके-चुपके सह लो हृदय-घाव जो ताज़ा है।

करने को खिलवाड यहाँ पर आये हैं कैसे कैसे,
खूब याद है उनकी सारी अदा, और वे थे जैसे,
छिन-भर करके चुहल रमीली विदा हुए दिलदार सभी,
अब तो केवल मन समझाना यहाँ रहा जैसे-तैसे।

■

कृपाकोर ?

क्या मेरे मालिक रीझे हैं,
सचमुच मेरी रचना पे ?
नाच उठीं क्या मम कवित्व की—
कड़ियाँ उनकी रसना पे ?
आज पूछते हैं वे मेरी
कविता - कोकिल-कूक कहाँ ?
कहते हैं कि अजी, रख दो तुम
अपना हिय दो-टूक यहाँ

आखें चार हुई, यह अटपट
सन्देसा आया प्यारा
दिखला दो नवीन तुम अपना
हिय - सम्पुट न्यारा - न्यारा।

क्या ही भोलापन है, क्या हो—
मीठा-सा अल्हडपन है।
हृदय गुदगुदाना विनोद मे,—
क्या हो नवल सुघडपन है।
तुम क्या जानो कैसे मेरी—
कविता मूक हुई, बाले ?
तुम क्या जानो पड जाते है
कैसे प्राणो के लाले ?

तुम तो इठलाती, यौवन के—
प्रागण मे हो डोल रही,
एक - एक पद सचालन मे
हिय का सब कुछ मोल रही।

हँस हँस पूछो हो कि सुनाई—
देती नहीं तान मेरी ?
पूछ रही हो कहाँ गयी वह—
पहले की उडान मेरी ?
किसने मेरे गीत विहग के
मृदु पखो को नोच लिया ?
तुम्हीं कहो, किसके द्वारा सी
मेरे [illegible] को [illegible] ?

निठुरे, ओ निठुर, जानो तो,
कह भी [illegible] क्या ?
[illegible]
ऐसी [illegible] क्या ?

सूखी तृण शय्या पर सोती–
है मेरी कविता-बाला,
सजनि, पिन्हाओ मत तुम –
उसको अपनी सुस्मृति की माला,
धीरे से धक्का लगते ही –
उमडेगा नि श्वास, अरी !
खुल जायेगी आखे, होगी
विगत वेदना हरी-भरी,
एक-एक विस्मृति-तृण चुन-चुन –
सूखी सेज सजायी है,
बडी कठिनता से थोडी सी–
कच्ची निंदिया आयी है।

■

पान

सुन्दरते, किन भावो की तुम मुग्धा सी व्रीडा हो ?
किस मधुरी चचलता की तुम रमणमयी क्रीडा हो ?
धीरे-धीरे, इन हाथो पर आकर रख देती हो–
निज कर निर्मित पान – देवि, क्या बदले मे लेती हो ?
झुक जाती ये पलके – यो ही विनिमय हो जाता है।
लिये पान आता हूँ, चरणो मे मन खो जाता है।

■

पिला दो

मुसकाती, मधु छलकाती सी सखि, तुम साकी बन आओ,
निज मधु-भरी सुराही लेके, मदमाती बन-ठन आओ,
सीधा नही, तनिक टेढा-सा किये मधुभरा सुघट नया,
सजनी, यौवन के पावस मे सरसा दो कुछ रस कृपया,

अजलि भर-भर खूब पिला दो,
मेरे मृण्मय प्राण जिला दो,
कुछ क्षण मेरी बा-होशी को—
बे-होशी के सग मिला दो,

सुरस दान देती आतुर-सी, सजनी, मेरे मन भाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साकी बन आओ,

सूखे प्यासे अग सग को, मधुरे, हरा-भरा कर दो,
मेरे रोते अन्तरतर मे तन्मय मधु पीड़ा भर दो,
सुध-बुध के कर्कश बन्धन को छिन्न-भिन्न कर दो कृपया,
लोक-लाज की मधु-धारा मे आन बहा दो, करो दया,

पाया बहुत ज्ञान का परिचय,
जानूँ हूँ मैं खूब नीति-नय,
यह असमजस दूर हटाओ,
मानो मेरा इतना अनुनय,

अपने नख से मधु रस का वह भरा कटोरा ठनकाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती सी सखि, तुम साकी बन आओ,

अपना ऐसा रग जमा दो, कुछ ऐसी रस-धार बहे-
कि बस तुम्हारा ही दीवाना मुझे सकल ससार कहे,
उमडी नदिया सी बह आवे तन्मय तान तरगमयी,
उतरावे तादात्म्य भाव की उन्मत्तता अभग नयी,

एक खुमारी - सी छा जावे,
आखो मे मस्ती आ जावे,
आत्म विस्मरण के रजकण मे—
हियरा अपनी निधि पा जावे,

ऐसी ढलवा दो सजनी, मत रीता प्याला खनकाओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साकी बन आओ।

मन के मथित कथित भावो मे चकित नया ससार जगे,
मधु रस मे सरवस हो ऐसे दे दो प्याले प्यार पगे,
जिन प्यालो के एक घँट मे नये चाँद-सूरज चमके,
दे दो ऐसे अतुल मद भरे जिनकी नव आभा दमके,

है यह दुनिया बडी पुरानी,
मुझे नयी गढने दो, रानी,
आज तुम्हारे मधु प्यालो से,
नयी सृष्टि होगी कल्याणी,

पुरुप बना मै, प्रकृति बनी तुम मदमाती बन-ठन आओ,
मुसकाती, मधु छलकाती-सी सखि, तुम साकी बन आओ।

▫

नाविक ?

किस घाट औ' घट पे तरी–
अटकी है आकर के कहाँ ?
यह लूमती,. कुछ झूमती,–
है कगार ऊँची उठी यहा।

है कटाव का वडा जोर यॉं
विकराल सी य' कगार है
घबरा के जजर नाव, रे,
पटकी है लाकर के कहाँ ?

यह टीला सम्भ्रम का खडा
है नही किनारा यहा कही,
अरे खेने वाले, सँभल जरा,
तू फँसा है आकर के कहाँ ?

नही लगरो की पहुँच यहा,–
न दरख्त का कोई आसरा।
सपने का मोहक जाल है
सब ओर फैला जहा - तहाँ !

चल लौट नाविक, ऐ मेरे,
तरी डाल दे मँझधार मे
लहरो मे, भँवरो मे पडी
बहने दे नैया यहा - वहा !

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
८ जनवरी १९३१

■

बढ़े चलो

टूट गया, हा टूट गया—यह मेरा सुन्दर सपना,
छूट गया, हा छूट गया—सब राग रंग रस अपना,
रूठ गया, हा रूठ गया—अपना माशूक निराला,
फूट गया, हा फूट गया—वह अलमस्ती का प्याला,
फूटा प्याला, टूटा सपना, संग लिये इठलाते,
बढ़े चलो, हाँ बढ़े चलो तुम पे नवीन मदमाते।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ नवम्बर १९३१

■

दिवाली

जगमग-जगमग हुआ आज यह टूटा-सा घर आली,
इतनी कृपा? सँजोयी तुमने आके यहाँ दिवाली?
ज्योति जगाने वाली, ओ तुम दीपक-बाती वाली,
खूब किया जो आज इधर भी छिटका दी उजियाली।
मेरी सन्ध्या की अँधियाली की तुम सुन्दर लाली,
लहराओ मेरे आँगन बन दीप-शिखा मतवाली।

मुझे बहुत कुछ लिखनी हैं जीवन गायन की कड़ियाँ,
भला किया—आलोकित कर दीं तुमने श्यामल घड़ियाँ,
तुम सिरहाने बैठो-मैं लिक्खूँ कुछ अपनी बीती,
देखो तो कैसी है गाथा यह मेरी मनचीती,

लिखी-अधलिखी, कही अधकही, टूटी - फूटी बातें,
तुम झुक - झुक कर पढ़ती जाओ शरमाते सकुचाते।

आज अमा के नभ में चमकें झिल मिल झिल - मिल तारे,
मेरे टूटे घर में चमकें दीपक सजनि, तुम्हारे,
बड़ी कृपा की शून्य साँझ यह तुमने जगमग कर दी
दीप - दान देकर वन्ध्या - सन्ध्या की गोदी भर दी।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ नवम्बर १९३१, दीपावली

■

नहीं -नहीं

आज ? नहीं, कल ? नहीं, खूब है
सहज रसीली 'नहीं - नहीं'।
मन्दस्मित है कहीं, अनोखी
झुंझलाहट है कहीं - कहीं,
सजनि तुम्हारी 'नहीं-नहीं' यह
'नेति - नेति' हो गयी भली,—
नेहाराधन के वेदों में
क्या ही चरचा नयी चली
इधर नहीं, उस ओर नहीं, इस ओर नहीं, सब ओर नहीं !!
देवि, आज क्या पा न सकूँगा नहीं-नहीं का छोर कहीं ?

न - ना - निनी' ही की क्या तुम
लिखती हो बारहखड़ियाँ ?
क्यों नकार के धागे में हैं
गुथी वचन की मृदु लड़ियाँ ?

खूब गुनगुनाती गीतो को
कडियाँ न-न-न न-न-न धुन मे
क्या ही मधुर नकार छुपाया
किंकिणियो की रुनझुन म !
इस नकार की मीमासा का अर्थ जरा समझा देना–
मेरी उलझी हृदय ग्रन्थि को और जरा उलझा देना – !

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१० दिसम्बर १९३०

ढुल-मुल

आज तुम्हारी आखो मे आँसू देखे तडपन देखी
अमित चाह देखी, रिस देखी, लोक लाज अडचन देखी,
आज तुम्हारे नयन पुटो मे सपनो को जगते देखा,
आज अचानक सजनि, तुम्हारे हिय की सब धडकन देखी।

अलस शिथिलता लिये, विवशता लिये, पराजित भाव लिये,–
निपट दीनता लिये, सलौने हिय का सचित चाव लिये,–
करुणा भरे दृगो से तुमने क्यो देखा यो अकुला के ?
आज सभी कुछ प्रकट हो गया, रहा न रच दुराव, प्रिये।

हो जायेगा धीरे - धीरे वही घाव इतना गहरा,
यह न पता था, क्योकि सदा का जो मैं नौसिखिया ठहरा,
यदि मैं यही जानता होता, तो क्या यो बढके आता ?
सच कहता हूँ, बिठला देता मैं निज पुतली पर पहरा !

आधे खुले, मुँद आधे दृग, यों तुम मुझे निहार रही,
विकल छलकती उन आँखों से अपना सब कुछ वार रही,
ओ मेरे प्राणों की पुतली, बड़ा विकट यह जीवन है
नित्य लोक सग्रह मे आड़े आती है दृगधार बही ?

आकाक्षा, एपणा, वासना, सुख का नित स्वाहा स्वाहा!
और सनातन निदयता से मन का निपट दमन,हा हा—
यही, यही असि धारा पथ है, ओ मेरी अच्छी रानी,
कैसे कोई कर सकता है, इस जीवन मे मनचाहा ?

कैसे दिखलाऊँ कि पड़े है मेरे हिय मे भी छाले ?
तुम्हे चाहता हूँ कितना, यह कैसे जतलाऊँ बाले ?
किन्तु चाह का दाह मात्र ही इस जीवन का लक्ष्य नही,
कर्तव्याकर्तव्य - तत्त्व के - पड़े हुए हैं हम पाले।

मेरा जीवन तो आसू ही आसू की है एक लड़ी,
पर, आसू का उपल बनाना, है बस, यह साधना कड़ी,
आज हृदय की अमल तरलता अश्म रूप बन जाने दो,
ओ कलिकाक्षि, न भर-भर लाओ अपनी आखें घड़ी घड़ी।

आज ज्वार आया है हिय मे ? हाँ तूफान भयकर है,
मुझ सँभालो, प्रिये, तुम्हारा यह प्रवाह प्रलयकर है,
बँधी हुई है ब्रह्मपाश के कच्चे धागे मे जगती,
यो ही रहने दो न बहाओ, यह बन्धन शुभ शकर है।

आज पान देते हो देते, छलका नयनो से पानी,
देख तुम्हारी यह आतुरता मेरी मति-गति अकुलानी,
मेरे धीरज की भी कोई सीमा है, कुछ सोचो तो ?
देख अश्रु ये, भड़क उठेगी मेरी भावुक नादानी।

ओ सजनी, अब तो आ पहुँचो मदन-दहन की यह वेला,
दीख पडे है अब उखडा-सा केलि कुतूहल का मेला,
उजड चला है प्रेम - प्राण का हाट, बाट सूनी-सी है,
रहने दो एकाकी मुझको, हूँ एकोऽह अलबेला।

यो ही, इस सूने जीवन मे सग मिला है कभी कभी,
किन्तु अचिर ही रहे हृदय के मेरे ग्राहक वग सभी,
कुछ क्रीडा-सी करते आये, कुछ शरमाये, कुछ झिझके,
एक मधुर सौदा तो, देखो, टूट चुका है अभी-अभी।

कुछ ऐसा ही-सा विधान है, मेरे इस लघु जीवन का,
कि बस नही मिलने का मुझको चिर सगी मेरे मन का,
तुम हो ! ओ भोली, पगली हो, बधुर मेरा पन्थ बडा,
बडा कठिन है, सजनि, निभाना किसी मस्त प्रेमी जन का।

यह ठगिनी आशा यौवन की, यह विपादमय स्फूर्ति निरी,
मदिर चाह यह, विकट प्यास यह, यह सन्तोप-अपूर्ति निरी,
ये सब बना चुकी हैं, मेरा जीवन एक तमाशा-सा,
देख चुका हूँ मैं बहुतेरी शून्य मृत्तिका - मूर्ति निरी।

अब तो रच सँभल जाने दो, इतना यौवन बीत चुका,
एक बार तो कह लेने दो, कि मैं स्वय को जीत चुका,
अब झटके पर झटके मत दो, तनिक रज्जु ढीली कर दो,
ग्रीव झुक गयी है यह मेरी, यह मस्तक भी, अहो, झुका।

हाथ जोडता हूँ, न बहाओ यो लोचन - मुक्ता धारा,
जीवन - पथ मे कीच मचेगी, फिसलूँगा मैं बेचारा,
मेरे ऊँचे, नीचे, सँकरे पथ को पकिल तुम न करो,
कीच और क्यो ? पहले से ही है जीवन - पथ अँधियारा।

उस पार

एक बार आज हम दोनों चलो चलें उस पार, सखो,
जहाँ बह रही हो सनेह के विमल नीर की धार, सखो,
चलो, चलें, उस देश, जहाँ हो छिटका मजुल प्यार, सखो,
जहाँ सकुचकर हो जाते हों दो-दो लोचन चार, सखो,
जहाँ कुंज की गलियों में हों मिलते दो दिलदार, सखी,
चलो चलें उस देश, जहाँ हो छिटका मजुल प्यार, सखी!

लोक लाज सकुचे बैठी हो जहाँ द्रुमों के झुरमुट में,
जहाँ नेह की चाह खिल रही हो कलियों के सम्पुट में,
अन्धे नियमों की निर्मम यह क्षमता सुप्त जहां होती,
गतानुगति के अन्धकार की छाया लुप्त जहाँ होती,
सुन पड़ती हो जहा शृखला खण्डन की झनकार, सखी,
चलो चलें उस देश, जहा हो छिटका मजुल प्यार, सखी!

जहाँ नया आसमा छबीला नीला चँदुआ ताने हो,
नये चाद सूरज की आभा जहा नया रन ठाने हो,
नयी जमीन, नये बादल, ये नव तारे, दिक्शूल नये,
नये शकुन, अपशकुन नये, हा जहा खिलें नित फूल नये।
जहाँ हुलसती बर आती हो हिरदे की मनुहार सखी,
चलो, चलें उस देश, जहा हो छिटका मजुल प्यार सखी!

सजनि, तुम्हारी इस दुनिया मे कसक-सिसक को ज़ोर बडा,
टटे दिल की हाय-हाय का मचता रहता शोर बडा,
आतुरता अटकी रहती है आँखो की गहराई मे,
आशा मूर्च्छित पडी उपेक्षा की एकान्त तराई मे,
छोड चलो यह देश, मनोरथ हुए जहाँ हिय-हार सखी,
चलो चल उस पार, जहाँ हो छिटका मजुल प्यार सखी!

ताना वाना पूरे बैठा जीवन की चादर बिनने,
उसी समय तुम आयी मेरे सचित तार-तार गिनने,
तारतम्य मिट गया, सिमिट कर सिकुडा सब ताना-बाना,
आफ्त ही हो गया तुम्हारा, सजनि, यहाँ आना जाना,
श्वास और निःश्वासों के हैं टूटे सारे तार, सखी,
अब तो ज़रा आन छिटका दो अपना मजुल प्यार सखी!

मेरी आराधना परिधि का केन्द्र बिन्दु सुकुमार, सखी,
सहसा ढलक पडा नैनो के सम्पुट से इस बार, सखी,
उमडा है बे-परवाही का यों यह पारावार, सखी,
कँपे अधर, रह गया सिसक कर हिय का विमल दुलार, सखी,
यहाँ हो रहा है बाधाओ का स्वच्छन्द विहार, सखी
चलो चलें उस देश, जहाँ हो छिटका मजुल प्यार सखी!

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
६ दिसम्बर १९३०

■

भ्रम जाल

जिस दिन उठती हुई जवानी आयी मेरे द्वार—
बदल गया है उसी दिवस से जीवन का व्यापार,
टुकड़े - टुकड़े हुई शृंखला लोक लाज की, देवि,
हर दम यहाँ चढ़ा रहता है एक अजीब खुमार।

मन म रंग - विरागापन है, अधरों मे है प्यास,
आँखो मे अधीर अन्वेषण का भर रहा प्रयास,
श्वास और नि श्वासा मे है चिन्तन का रण रंग
हिय की द्रुत गति मय धड़कन मे भरी हुई है आस।

देवि, भुजाओं मे आलिंगन का भर रहा उछाह,
रोम-रोम मे समा गयी है घुल मिलने की चाह,
छिन-छिन मे यह देह कण्टकित हो उठती है खूब,
होता ही रहता है निशिदिन इस जीवन मे दाह।

इस मेरे मस्तिष्क देश मे है असीम उन्माद,
और एक अप्राप्त वस्तु का मन मे भरा विषाद,
जीवन मे शून्यता भरी है और तीव्र अनुराग,
धरम करम की, पाप-पुण्य की, भूल चुका हूँ याद।

पथ के टेढ़े - मेढ़े - पन की मुझे न थी परवाह
पर, न याद था मुझे कि यह तो गहरी भी है राह,
कितना गहरा उतर गया हूँ सहसा मैं अनजान,
नही पा सका हूँ अब तक, सखि, मै अपनी थाह।

इस गहरे मे घना अँधेरा फैल रहा है प्राण,
और तरल - भावना - वीचियाँ लहरा रही अजान,
डूबा - डूबा - सा लगता है मेरा सब ससार,
धोया - धोया-सा लगता है यह जीवन सुनसान।

पाप पुण्य के फलाफलो को, देवि, न दो उपदेश,
नय-अनयो के इस विमश का तुम न करो अब क्लेश,
सजनि, कौन हलका है, मेरे इस यौवन का बोझ,
फिर कैसा यह पाप पुण्य का बोझा और विशेष ?

यूँ भुज भर कर हिये लगाना है क्या कोई पाप ?
या अधखुले दृगो का चुम्बन है क्या पाप कलाप ?
कुन्तल से क्रीडा करना भी है क्या कोई दोष ?
देवि, बताओ तो इसमे है कहाँ पाप सन्ताप ?

मदमाते होकरके फिरना, रहना नित अलमस्त,
निशि दिन अपनी वस्तु खोजना होकर तन्मय, व्यस्त,
इसमे कहा पाप है प्रमदे ? कहाँ अनीति विकार ?
यह तो है जीवन की महिमा, नित्य अचल, कूटस्थ ?

नीति-अनीति-विचारो म है मन-सम्भ्रम मय भूल,
जग की पाप पुण्य की बातें । है ये ऊल-जलूल,
जीवन के जो प्रबल तकाजे, वे कहलाते पाप,
क्या ही झोक रही है दुनिया यूँ आँखो मे धूल,

यदि अस्तित्व पाप का है तो जग है पाप प्रसूत,
तो फिर, कैसे हो सकता है यहाँ पुण्य उद्भूत ?
धम पुण्य की शिथिल भावना है मनकल्पित बात,
देवि, मुझे तो नही हुआ है यहाँ पाप अनुभूत ।

ज़रा झूम उठना लहराकर, हो जाना मदहोश,
जरा थाम लेना मुट्ठी मे इस हिय का आक्रोश,
मिट्टी के कूजा को देना हलके-हलके प्यार,
क्या है यही पाप, सखि ? यह तो है यौवन का जोश ।

हिय के लेन देन मे वाले, कहाँ पाप की रेख ?
पाप पुण्य का है कुछ यो ही उलटा सीधा लेख,
उलझ रहा है जग शतियो से इस भ्रम मे अनजान,
पाप कहा है ? पाप मुझे तो कही न पडता देख ।

पाप ? देवि, है पाप निगोडी जडता का अविवेक,
पाप-भाव है कायरता का आध्यात्मिक अतिरेक,
अपनी छाया से भी डरना, वस, है यही अधम !!
लोगो ने भी बना रखा है अजव तमाशा एक !!!

दो-दो आँखें लड-लड कर जब हो जाती है चार,
जब अपने ही से डरता है नयनो से नीहार,
आग और पानी जब खेले मानस मे, तब देवि,
पाप पुण्य की व्यर्थ भावना हो जाती है क्षार ।

अगर पाप है तो वह है इस जीवन का सोपान,
अगर पाप है तो वह है इस यौवन का सम्मान,
जोग छेम की, प्रेय - श्रेय की मुझे नही परवाह,
इतना जानूँ हूँ कि नेह मे नही पाप नादान,

इसीलिए कहता हूँ, वाले, तोडो यह भ्रम - जाल,
रच निहारो आ पहुँचा है अव तो यौवन - काल,
हाथ सुमिरिनी नही फबेगी, इस यौवन मे, देवि,
कुसुमो की भी हो सकती है लम्बी - लम्बी माल ।

निमन्त्रण

उड़ आ बैठो, अरी कुहकिनी, है मेरी डाली सूनी।
अपने श्वास - पवन से इसको सिहरा दो तुम दिन दूनी।
चहको कोई तान, भैरवी नव स्वर-मजूषा खोलो।
कोई गान, अरी, अलबेली, छोडो, कुहू कुहू बोलो।
घोलो रस, नीरस पादप की सिहर उठे रोमावलियाँ।
डाली-डाली हो मतवाली, फूल उठे आतुर कलियाँ।

मेरे मानस मगन-गगन मे सघन अँधेरा फैल रहा।
अन्धकार का भार विकम्पित स्मर दीपक यह झेल रहा।
तुम आओ मम दिङ्मगल मे नव ऊषा सी विहँस, लली।
अलसाने लोचन - पुट खोले छा जाओ इस देश अली।
नये सवेरे के शुभ क्षण मे भर दो ये रिक्ताजलिया।
लोल लोचनो की लाली से रजित हो जीवन-गलियाँ।

मेरा हिय आकाश शून्य है, ध्वनि विरहित, लय-हीन बना।
शब्द-हीन निस्तब्ध भाव से है वह तो अति क्षीण मना।
यहाँ वायु म तरल तरगे उठती नही अहो, सजनी।
लहरा दो इस घटाकाश को कुछ तो आन कहो सजनी।
रजनी यहा, यहाँ अँधियारी, नि स्तब्धता यहाँ छायी।
यहा गुनगुना दो, फैला दो, आकर आभा मनभाई।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१९ दिसम्बर १९३०

दीवानी लग

मेरी रानी, दीवानी - सी डोल रह
इक टक जोह रही उत्कण्ठित, मेरा
लगन बावरो खोज रहा है मेरे नभ
मूर्त रूप में आ जाओ, मत बिलखा
जग-मग जग-मग गगन हो उठे,
होवे मथित हृदय का मन्थन, र

गाज़ीपुर,
२६ दिसम्बर १९३०

सिंगार

आओ, मुझ देखो, है दो - दो–
दर्पण मेरी आँखों में,
ये दर्पण प्रतिबिम्बित करते
तुमको चु के ना म
रहो
रम
मन

ये हैं वे आईने जिनमे
अँकी तुम्हारी छवि बाँकी।
आन सुधारो अलकावलियाँ
अपनी चचल प्रतिमा की।

सिर से साडी का पल्ला यह
खिसक रहा है जरा - जरा,
आईनो म आकर देखा
कैसा अल्हडपन निखरा।

मृदुले, मम दृग् के मुकुरो मे चमकी तव सुकुमार छटा।
दपण पोछो, अचल से तुम असफलता - रज हटा - हटा।

आओ, बैठो सन्निधान मम,
मैं, गूँथूँ वेणी अलकें,
कघी बनें अँगुलियाँ मेरी,
नेह - फुल्ल उमड छलकें,

माँग काढ दूँ मैं, झुँझलाकर
तुम वालो को उलझा दो।
इसी तरह मम हिय की गाठें
सुकुमारी तुम सुलझा दो।

उलझ सुलझ लाँबे लोलुप कच जूझें काले भौराले,
भर लेने दो माग वेदना के सेदुर स, ऐ बाले।

हिय का हार कहा स लाऊँ?
है मेरी भुज-वल्लरिया।
पहना दूँ, हँसने दो यदि ये,—
हँसे सग की छोहरिया।

लोक लाज का भास रहेगा—
यो कब तक मग मे अटका ?
सजनि, तोड दो तो यह बन्धन
दे कर एक विमल झटका।
मरी यह सिगार-मजूषा कर-कमलो मे अर्पित है।
जरा खोल के इसे देख लो कैसी वस्तु समर्पित है।

मोच रहा हूँ आज पिन्हा दूँ
पैरो मे मृदु किकिणियाँ,—
ऐसी किकिणिया जो चमके
ज्यो मुक्ता गुम्फित मणियाँ।
इसीलिए गढता जाता हूँ
कविताओ की ये कडिया,—
ऐसी कडिया जो बन जाव
नेह शृखला की लडियाँ।
ठुमक ठुमक तुम चलो, बज उठे, मीठी मीठी पाजनिया।
खनका दो कविता की कडियाँ रानी, मम हिय-आगनिया।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१६ दिसम्बर १९३०

८

पराजय

कापालिक सेव्य भूतनाथ के शरीर की
विभूति उडती है जहा रज कण-कण मे,
चट् चट् हू-हू हा-हा करती ज्वालाएँ जहा
भेद भुला देती सब जीवन मरण मे,

लक्ष-लक्ष आशाएँ, निराशाएँ, ये लक्ष-लक्ष
एक सग सूझे जहाँ घनघोर रण मे,
वाट जोहती है स्वय वराचिता मेरी वहाँ
आकाश मण्डप तले श्मशान प्रागण मे।

यौवन दिशा के स्वप्न का मधुर मधु-मद
उतर गया सो कैसे जानूँ मैं अजान नैक,
सुध-बुध विसरा के, भर-भर अजली
वेहोशी मे कर गया हूँ मजवा मैं पान नैक,
अटपट पाँव पडते हैं, वात फैल गयी आकर,
सँभलती लोक लाज के सुजान, नैक,
भूल के, नशे मे कही घूम न जाऊँ उधर
छिटकी है जहाँ चन्द्रिका-सी मुसकान नैक।

गिरते, पडते, झूमते, झुकते, ऐ 'नवीन',
चलो उधरी को जहा लय है प्रणय का,
निदय नियम जहाँ भस्मक स्वरूप लिये
नाश करते हैं अनुनय का विनय का,
इस वेहोशी मे इतना तो होश रखना कि
पराजय ही मे मजा आता है विजय का,
भूल मत जाना हे 'नवीन' पुरातन-सत्य
सृष्टि के विकास मे छिपा है तत्त्व लय का।

डिस्ट्रिक्ट जेल, कानपुर
नवम्बर १९३०

■

बिदिया

लघु केन्द्र बिन्दु है क्या यह—
मेरी वेदना परिधि का?
लोहित मोती यह क्या है—
मम अतल विरह-वारिधि का?

कितने-गहरे से उसको—
सुकुमारि, उठा लायी हो?
कितनी हिम निधियाँ, बोलो,
तुम आज लुटा आयी हो?

क्या नृत्य चतुर नयनो की,
है सुघड ताल की ठुमकी?
यह बिन्दी है सिन्दुर की?
या टिकली है कुकुम की?

भृकुटी-सचालन से ही,—
या उथल-पुथल होती थी,
यह निगन (?) विचारी यो ही
अपनी सुध-बुध खोती थी,

यह भ्रू-विशाल तो था ही,—
टिकली भी आन पधारी,
भौहो के मृदु फन्दे मे—
पड गयी गाठ सुकुमारी!

क्या सुन्दर साज सजा है—
मदु नयनो की गासी का!
है खूब इकट्ठा सामा
इन प्राणो की फासी का!

यौवन की मत्त अँगड़ाई–
यह बिन्दु रूप बन आयी,
घूँघट के झीने पट से,
अरुणाभा छन-छन आयी,

मानस की मदिर हिलोरें–
भर गयी बूँद में आकर,
इठलाते आते अल्हड़पन को,
क्या ही ठुकराया लाकर।

लोकोक्ति सदा सुनते हैं–
गागर में सागर भरना,
याँ, एक बिन्दु में, सजनी,
देखा था सिन्धु लहरना,

सखि, गोरे भाल क्षितिज पै–
यह अरुण इन्दु उग आया,
किस सुघड़ विधाता ने यह,
आरक्त बिन्दु टिटकाया?

इस एक बूँद में, बाले!
कितना विष भर लायी हो,
हिय कब से तड़प रहा है,
क्या जादू कर आयी हो?

जीवन-ऊषा की प्राची
हो गयी आज अरुणा सी,
मेरी उत्कण्ठा सजनी,
छिटकी लोहित करुणा सी,

आकुल आखों में छायी,
कुछ लाल-लाल झाई-सी,
आकर देखो यह क्या है?
टिक्ली की परछाई-सी,

बिंदिया की परछाई का–
नैनो मे अवम उतारे–
कब से बैठा हूँ रानी,
प्रतिबिम्ब हिये मे धारे,
मत जाओ ये मुँह फेरे,
अब यो आँखें न चुराओ,
बिन्दा विलसित मुख प्यारा,
घूँघट पट मे न दुराओ।

कितने भावो को मथके,
सिन्दूर बनाया तुमने,
अलि वलि कितनी लै ली है,
बोलो तो इस कुकुम ने,
सन्ध्या की सकल अरुणिमा–
ऊषा की सारी लाली–
हो सार रूप बन आयी–
यह एक बूँद मतवाली।

मेरी वेदना व्यथा की-
रंजित आरक्त कहानी,
आसू मे घुल-घुल रानी,
बिंदिया बन गयी सयानी।

■

निद्रोत्थित नेह

जिस दिन उट्ठा सहज नेह का —
अलस भाव सोते से आली,
उस दिन शैशव की चचलता —
बन - ठन गयी लाज की लाली।

अरुणाई - सी अँजो नैन मे,
हुए पलक कुछ भारी - भारी,
चपल चाल गति हुई अचचल,
मन की मौज हुई मतवाली।

दिखने लगी नयी - सी दुनिया,
दिखने लगा नया - सा जीवन,
छिटक उठी मेरे पार गये
नयी चाँदनी - सी उजियाली

रिमझिम - रिमझिम नेहा बरसा,
रिमझिम बरसी रस की बूँद,
यो आकण्ठ भर गयी सहसा, —
मेरी यह छोटी - सी प्याली।

नये भाव उभर हिय - तल म,
कुछ उलझन - सी मन म आयी।
मेरे छोटे - से जीवन म —
अली, चली कुछ नयी प्रणाली।

समझ गयी मैं कि है मदमयी
घनी साँझ की नीरवता यह,
अब समझी, हिय क्या दुखता है,
जब आती निशि काली-काली।

नये - नये ये शब्द रसीले,
स्फुरित हुए हिय में, रसना में,
अब तो बहुत मधुर लगती है —
यह मद - भरी लाज की लाली,

नेह नवेला रंग छलकाता
मचल पड़ा मेरे आँगन में,
सून भर गया है सहसा वह,
जो अब तक था खाली - खाली,

मैं बौरानी - सी लगती हूँ,
पर मेरा कसूर ही क्या है ?
सहज नेह का अलस भाव यह
सोते से उठा है आली।

—

आँसू के प्रति

मत बह, मत बह अरे हठीले, तनिक ठहर, मेरी सुन ले,—
छुपा खेद का भेद, उसे तू खोल न, ओ बैरी, सुन ले,
कण्ठ द्वार पर ही रुक, रुक तू,
आगे को न रंच भी झुक तू,

हम विषपायी जनम के

अरे, लौट जा फिर अपने गृह,
मेरी कही मान जा टुक तू,
लोचन की झिलमिल के ओझल ही रह, आ वैरी, सुन ले,
मत बह, मत बह, अरे हठीले, तनिक ठहर, मेरी सुन ले।

रुक जा, झूला तुझे झुलाऊँ,
अन्तरतर म तुझे सुलाऊँ,
श्वास और विश्वासो के मृदु-
पलने म तुझको दुलराऊँ,
आ जा, सो जा, मेरे राजा, आ जा, ओ वैरी, सुन ले
मत बह, मत बह छलक-छलक तू, तनिक ठहर, मेरी सुन ले।

उमड आया है तू बिन बोले,
बिना कहे तू हिय मे डोले
झाक - झाँक क्यो देख रहा है-
मेरी नयन - खिडकियाँ खाले ?
आ बेशरम, भरम जीवन का खाल न तू, चित म गुन ले
मत बह, मत बह, अरे हठोले, तनिक ठहर, मेरी सुन ले।

मेरी अकथ कहानी के कण-
विगलित कर न, अरे तू क्षण-क्षण,
गोपनीयता ठान चुकी है-
निदय, तुझसे आज मृदुल रण,
जूझ न उससे, अरे झगड मत तनिक ठहर, मेरी सुन ले
छुपा खेद का भेद, उसे तू खोल न, ओ वैरी सुन ले।

है यह जग विकराल मरुस्थल,
मत बरसा फुहियाँ तू पल-पल,
हैं उत्तप्त बालुका के कण,
यहाँ अरे तू छलक न छल-छल,
निश्चल अटल-उपल-सा हिय-तल में रम जा, मेरी मुन
गुप्त खेद का भेद-मरम तू खोल न, ओ वैरी सुन ले

गाजीपुर
२३ सितम्बर १९३०

■

खोज

हे 'नवीन' क्या ढूँढ रहे हो झुक झुकके रुक-रुकके ?
ठिठक ठिठक क्या देखे हो यूँ छिप छिपके लुक-लुकके ?
ढरक पड़ा है क्या कोई नग सम्पुट से आँखों के ?
क्या हैं शिथिल उड़ान भाव मन मधुकर की पाँखों के ?
क्यों तुम खाक छानते फिरते हो या गली गली में
आतुर, भेद भूल मत जाना नकली में, असली में

बड़ा कठिन है, यहाँ खोजना मोती अपने मन का,
बड़ा कठिन है मिलना साथी इस टूटे जीवन का,
ढूँढ-खोज में अब न गँवाओ यह जिन्दगी अधूरी,—
तै करना है अभी बहुत कुछ जीवन-पथ की दूरी,
कोई नहीं किसी का, है या यूँ ही-सा कुछ नाता
आदि काल से, हंस अकेला ही है उड़ता आता

गलतफहमियाँ भरी हुई हैं जीवन की थाली मे,
दुख की छाया छिपी हुई है पथ को अँधियाली मे,
काली - काली मतवाली घन छाया पथ मे फैली
बीहड निबिड विपिन मग मे है आशा खडी अकेली,
ऐ 'नवीन' इस अँधियाले मे ढूँढो हो उजियाला ?
बन्धु, तुम्हारी अकल-समझ का निकला क्या दीवाला ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
३० सितम्बर १९३०

■

तुम्हारे सामने

सोच सोच कर गाँठ बाधता जाता हूँ मै,
सब बाता को गिन-गिन रखता जाता हूँ मै,
जब तुम आओगे तब सब कुछ कह डालूँगा,
और तुम्हारी सस्मित 'हा' वह कहला लूँगा ?
किन्तु तुम्हारे सामने, क्या हो जाता है मुझे ?
खोये हुए विमुग्ध-सा कौन बनाता है मुझे ?

प्यारे प्राणो के परितप्त पवन के झोके,
निखराये कुछ फूल सामने उन चरणो के,
ऐसी ही कल्पना किया करता हूँ निशि दिन,–
शून्य हृदय आकाशकुसुम चुनता हूँ गिन गिन ।
किन्तु तुम्हारी मृदुल-सी, मजुल मूर्ति निहार कर,
वह परितप्त बयार रुक जाती कण्ठ-द्वार पर ।

■

प्यासा

बिना पिये मानता नही वह,
बिगड गयी है कुछ ऐसी आदत,
कहाँ के रोजे, कहाँ की पूजा ?
छुटी परस्तिश, मिटी इबादत ।

है ध्यान उसको तो और ही कुछ,
धरम-करम से उसे न राहत,
वो छोड बैठा है सारे झझट,
हुई है वर्षा य' जब से आफत ।

न बोलता-चालता है वह कुछ
कभी जो बोला तो अपनी कहता,
अजब सिडी से पडा है पाला,
वो अपनी धुन ही मे मस्त रहता ।

दबाये खाली बगल मे बोतल,
सँभाले टूटा-सा एक प्याला,
वो पीने वालो मे नाम लिखवाने
आन पहुँचा, हुजूरेवाला ।

वह कह रहा है कि नाम लिख लो–
समझके अपनी कलम चलाना,
बडी अजब खोपडी का है वह,
नही बताता पता ठिकाना ।

उधर-उधर तैरती हैं आँखें–
य' सुख डोरे पडे हुए है,
सुरूर छाया है लोचनो मे,–
तुम्हारे दर पे अडे हुए है ।

घडी-घडी आह से निकलती
शिकस्ता दिल की कथा पुरानी,
हुजूर, रह-रहके कह रहा है,--
नयन का पानी अकथ्य कहानी।

फटे-से कुरते में इक फटा-सा--
छुपाये कागज बडे जतन से
व' कह रहा है कि इसमें क्या है,--
य' जाके पूछो उन्हीं के मन में।

तुम्हारे आगे वो खाली बोतल--
हिला-हिलाकर यूँ कह रहा है
'जरा इधर भी गरीब परवर,
फिजूल मधवा क्यूँ बह रहा है ?

हो गर इजाजत तो दोनो हाथो से--
फोडे बोतल को वह इसी दम,
पिला दो भर-भरके चुल्लू उसको--
मिटा दो हस्ती का यह विकट भ्रम।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१ जनवरी १९३१

■

चिन्ता

आज निशा के सघन तिमिर में उठ आयी हिय हूक,
सुपमे, अन्तर में आ पैठा स्मृति का बाण अचूक,
टूक-टूक हो गया हृदय, सखि, नयन हुए जब चार,
लोहित-सा हो गया आज उर, अन्तर का व्यापार,
कौन सुने ? करता है हा ! हा ! मम हिय का अनुराग,
चुपके, कान लगाकर सुनता मेरा फूटा भाग।

ऊँची ऊँची दीवारो को कर के सहसा पार
कुहु निशा मे छिटकाने शशि किरणें-सी दो-चार,
आ पहुँचे धाग म स्मृति के सग मे लोचन आज–
लिये सरलता की क्रीडा का मोहक साज - समाज ।
सहसा उगे नैश अम्बर मे ये दो दो नक्षत्र,
काँप रहा मेरा दिङ्-मण्डल यत्र - तत्र - सवत्र !

आज घूमकर देख रहा हूँ मैं पीछे की ओर,
जीवन की पगडण्डी टेढी, दिखे न ओर न छोर,
कब का चला ? कहाँ आ पहुँचा ? क्या जानूँ अनजान ?
क्यो चलता हूँ अह-निशि मैं इसका मुझे न ज्ञान ?
चलते - चलते चमक जाय है बिजली की-सी रेख
तभी दिखाई दे जाता है कुछ-कुछ एकाएक ।

हिय मे गडी हुई आखो का है सँभालना काम
तडप जाय पर आह न निकले तभी बहादुर नाम
खण्ड - खण्ड आशा यदि होवे तब भी क्या परवाह ?
धुआ उठे, हो भस्म हृदय का चाहे सब उत्साह,
जो होना हो, हो जाये पर, न हो रग मे भग
सदा उमडती रहे हृदय की नवल अनन्य उमग ।

अश्रु विन्दु करते हैं मेरी स्मिति का नव अभिषेक,
बनी तुम्हारी निठुराई मम विरह-गान की टेक,
सतत निराशा लिखती है इस जीवन का अनुलेख
सजनि, खिच चुकी है अभाग की उल्टी सीधी रेख,
निरानन्द घडियो ने लूटा जीवन का आनन्द,
चिन्ता ही घेरे है जब से उठी उमग अमन्द !

कोमल चरण तुम्हारे, बन्धुर मेरा जीवन-पन्थ,
तुम नाजो की पली, नही है मम विपदा का अन्त,
अन्तवन्त जीवन,–अनन्त है सजनि, तुम्हारी चाह,
होने दो हौले हौले इस दग्ध हृदय म दाह,
कैसे कहूँ कि, स्वामिनि, चल दो इस मौजी क साथ ?
कैसे कहूँ कि आओ चल दें लिये हाथ मे हाथ ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
५ दिसम्बर, १९३०

■

दुपहरी

आन पहुँचा जीवन मध्याह्न,
तज रहे दोपहरी म प्राण,
शीश चढ आया यौवन-सूय
चलाता तीखे तीखे बाण,

सिमिटकर चरणा मे छिप गयी–
लोक-लज्जा की छाया दीन,
उमडती आकाक्षाएँ हुई –
स्वेद के कण-कण म तल्लीन,

खून पानी बन बन बह चला,
भाल पर फैला मुक्ता जाल
पथ सुनसान, सामने खडी
घेरकर चिन्ताएँ विकराल !

तरणि की निपट प्रखर करवाल—
कर रही गुण-चन्दन का नाश,
चित्त मे आ बैठी उद्भ्रान्ति,
पड़ा है मन मे मोहन-पाश,

अनोखी चकाचौध की चमक—
दिशाओ मे फैली सब ओर,
माग मे उठे धुआँ सा सदा,
निबल आँखो म रहा न ज़ोर,

तडपता मन कुरग फिर रहा—
ढूँढता अमल सजल कासार
यहाँ यह मृग मरीचिका डोल रही
है धरे रूप साकार।

यहा उद्भ्रान्ति ! कहा है शान्ति ?
सघन छाया का रहा न लेश,
धूप ही धूप विशेष, अशेष
भस्म करती है विपिन प्रदेश,

सफलता के वृक्षो से हीन—
कामनाओ का निबिड अरण्य,—
सामने फैला, आकर फँसा,—
भटकता फिरता पथिक नगण्य,

क्लेश ही क्लेश रहा नि शेष,
कौन पूछे यात्री की बात ?
घात प्रतिघातो से है बना
विश्व के जीवन का सघात।

उमड उट्ठी है भीषण आग,
तप रहा है मेरा ससार
प्रज्वलित अगारो से बने
सजनि, इस जीवन के व्यवहार,

उमड छा जाओ मेरे गगन–
नवल श्यामल वदली-सी आज,
घटा सी घिर आओ, सुकुमारि,
कि हो तुम बडी गरीब निवाज।

विहँस सरसा दो सूखे प्राण,
मधुर बरसा दो रस की धार
सजनि, यौवन-निदाघ की आग
जलाती है मेरा ससार।

■

उस दिन

उस दिन विजयी सैनिक-सा मैं आया द्वार तुम्हारे,–
लिये अजली मे अधखिलते-से कुछ सुमन दुलारे,
सोचा था कि पराजित सा कुछ नीचे झुकके, बाले,–
बिखरा दूँगा चरणो मे ये बडे नाज के, पाले।
पर, सहसा उलझी कुसुमो की ये पखुरियाँ सारी
क्या जानूँ क्या हुआ देखते ही मृदु छटा तुम्हारी!

उस दिन सोचा था कि कहूँगा अपनी अकथ कहानी,
कह दूँगा मैं आत्म-निवेदन-समवेदना पुरानी,
चुन-चुनके एकत्रित की थी हिय मे शब्दावलियाँ,
जैसे माली चुन लेता है डलिया मे नव कलिया।
किन्तु तुम्हारे आगे भूला मैं सब कुछ ही अपना
सोच न पाया, जाग रहा या देख रहा हूँ सपना।

उस दिन, किरणे शिशिरातप को आती थी छन-छनके,
मन्द वायु मे नाच रही थी शाखाएँ वन - ठनके,
आशाओ के पुज कुज मे थे सोते - से जागे,
सोचा था मै हिय रख दूँगा खोल तुम्हारे आगे,
किन्तु अधर-पुट पर कुछ सहसा झूल गया ताला-सा
छलक न पाया यह भावो से भरा हृदय प्याला सा।

उस दिन सोचा था कि हृदय के अतल सिधु की निधिया—
आखो से ढरका दूँगा मै पूरी होगी विधिया।
सोचा था कह दूगा चुपके - चुपके मैं कुछ बतिया।
शायद कट जावे मन चकवे की वियोग की रतिया।
पर, मनसूबो की सब सेना हुई पराजित क्षण मे।
कौन टिका है अब तक सम्मुख आत्मनिवेदन-रण मे ?

उस दिन असमर्पित फूलो की वे पखडियाँ, रानी,—
भूल-शूल सी साल रही हैं अतर मे अरझानी।
पानी-पानी बनकर जो वह सके न भाव सलौने, —
वे, होके उत्कण्ठ, हिचकियो के बन गये खिलौने।
सजनि, तुम्हारे युग कपोल की सहज लाज की लाली—
अपना रग चढा देती है सब पर वह मतवाली।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाजीपुर
१८ दिसम्बर १९३९

प्रलयंकर

युगीन चेतना को स्वर देती राष्ट्रीय
कविताओं का संग्रह

अदृष्ट चरण-वन्दना

वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणो मे,
जिनकी महिमा रही अगोता जन साहित्यिक अधिकरणो मे ।

तुम अज्ञात नाम जन सेवक, तुम सैनिक, तुम धीर, वीरवर,
तुमने नव सन्देश श्रवण की क्षमता दिखलायी साहस कर,
चरण तुम्हारे चले अशक्ति, अति सत्वर अनजाने पथ पर,

मानव प्रगति हुई प्रतिलक्षित तव चरणो के आचरणो मे,
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणो मे ।

चरण तुम्हारे वे कि जिन्होने दुगम शैल किये अतिलघित,
जिनकी निर्भय अच्युतता ने किये अनेक हृदय निस्पन्दित,
जो नवीन निर्दिष्ट मार्ग पर मुदित बढ चले निपट अशकित,

वे दृढ चरण छिप गये हे जो सहज विस्मरण - आवरणो मे,
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणो मे ।

वे तव शतश चरण कर गये अभिनव जन यात्रा पथ निर्मित,
तुम वे सैनिक जो आज्ञा पर समुद कर गये प्राण समर्पित,
आज तुम्हारे तप-प्रसाद से है भारत जन-गण-हिय हर्षित,

तव शोणित कण अब पुष्पित हैं नव यत्नो के अवतरणो मे,
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणो मे ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जुलाई १९५४

■

भरत-खण्ड के तुम हे जन-गण।

भरत - खण्ड के तुम, हे जन - गण
[illegible] रहे हैं सब शोणित में इस भारत माता के रज - कण,
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण!

अहंकार, मनोविकार, बुद्धि, मन, यह भाव रूप और अपरम्पार,–
कला, काव्य, इतिहास पुरातन, ललित मधुर कोमल गाथा-स्वर,–
नाट्य-रूप, गगन गाथा, प्यार, मिलन, गान निरन्तर,–
यह अपूर्व सम्पत्ति तुम्हारी है भारत की माटी का धन,
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण।

आमन्त्रण यह तुम्हें है कि इस माटी का शृंगार करो तुम,
आवाहन है तुम्हें कि अपनी जाती का भण्डार भरो तुम,
युग कहता है कि इस भूमि का यह दरिद्रता - भार हरो तुम,–
स्नायु - तन्तु - तारों में हो यह श्रम वृन्द-वाद्य की घन घन
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण।

एक धाम तुम, एक नाम तुम, एक बात तुम, एक प्राण हे तुम,
एक रागमय, इक यति गतिमय, सब उदय के गेय-गान हे तुम,
श्रेय प्रेय-साधनापूर्ण तुम, मानवता के नव विहान हे तुम,
स्वेदोदक का अर्घ्य चढ़ाकर करो प्रात का सन्ध्या-वन्दन,
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण।

५ विण्डसर प्लेस नयी दिल्ली
१८ फरवरी १९५५

■

गरजे मेरे सागर पहाड

गरजे मेरे सागर, पहाड
सिंहो की सी करके दहाड़।

मेरे सागर गम्भीर गहन,
करते हैं जो बडवाग्नि वहन,
कहते हैं मानव, जाग जाग,
सुलगा दे ज्वाला सब दहन
बाधाओ को जड से उखाड
सिंहो की-सी करके दहाड।

मेरे ऊँचे-ऊँचे भूधर,—
गजन करते है हर-हर-हर,
बोले, मानव तू क्यो उदास ?
तू भी गजन कर हहर-हहर।
इस लौह भीम को दे पछाड
सिंहो की सी करके दहाड।

मेरे सरवर, मेरी सरिता,
चिर स्नेहमयी, पुण्याचरिता,
कल कल कल स्वर भर बोल उठी,
यह अमल नवल जीवन भरिता,
रे मनुज, खोल अपने किवाड
सिंहो की-सी करके दहाड।

मेरी आँधी, मम मलय पवन,–
छू - छूकर मेरे युगल श्रवण,–
हैं पूछ रहे मुझसे क्षण - क्षण,
क्यों हुए भग्न तव सुखद भवन ?
किसने यह घर डाला उजाड,
सिंहो की - सी करके दहाड ?

मेरी धरती हिल डोल उठी,
निगति मे गति - रस घोल उठी,
अन्तस्तल मे कल्लोल उठी,
धरती माता यो बोल उठी
सुन रे, कडके मम वृद्ध हाट।
सिंहो की - सी करके दहाड।

मानव क्या तू न सुनेगा यह,–
युग - वाणी का गजन अह - रह ?
यह सब - नाश - सन्देश अभय,
यह निर्वाणाह्वानन दुवह्,
तू बन विजयी, जय - ध्वजा गाड
सिंहो की - सी करके दहाड।

यह शताब्दियो का पाप महा,
एकत्रित है बेमाप यहा,
इसको तू खोद बहा दे, रे,
तेरा जो यह अभिशाप महा,
सब परिपाटी का वक्ष फाट,
सिंहो की - सी करके दहाड।

तेरा स्वरूप, जो अति अनूप
वह बिगड बना है अति कुरूप,
तू अपना स्वामी स्वय, अरे,
तेरा कोई भी नही भूप !
अन्तस्तल की ज्वाला उभाड
सिंहो की - सी करके दहाड ।

दुर्दम रण - चण्डी चेत उठे
कर महा प्रलय सकेत उठे !
सवस्व - नाश का रुद्र रूप
नव - नव निर्माण समेत उठे,
आये विनाश की एक बाढ,
सिंहो की - सी करके दहाड ।

डिस्ट्रिक्ट जल, उन्नाव
२२ अप्रैल १९४३

■

तू विद्रोह रूप, प्रलयकर !

अरे, अरे, ओ निपट निराशा की श्वासें भरनेवाले,
अरे पराजित, अरे पराजयवादी, ओ मरनेवाले,
ओ शक्ति चितवनवाले, ओ आत्म-रूप-विस्मृतिवाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ गमनोत्सुक, ओ निदाघ-सस्कृतिवाले,
दूर पार से आज आ रही अनल-गान की तान नयी,
आज वायु मे निष्पन्दन है, कण-कण म है जान नयी !

तू नाशक ध्वनियो का गायक, तू विकराल क्रान्ति-द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयकर, तू है अनल-राग स्रष्टा,
तेरे प्राणो मे तडपन है, नीच भावना अब कैसी ?
यह विश्वासघात अब कैसा ? दुष्कृतिया क्यो, अब ऐसी ?
कर दे क्षार क्षार अपनी इन प्राण मोहिनी कृतियो को,
खण्ड-खण्ड कर दे, रे मोही, निज निबल सस्मृतियो को !

ओ बरसो से शिथिल पाश म जकडे रहने वाले, तू,
आत्म दीनता की दाहकता मे नित दहने वाले तू,
ध्रुव विश्वासान्तर्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष जल, थल,
आज अनल-ताण्डव होने दे मच जाने दे तू हलचल,
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी !

ध्वस-काय यह अभी-अभी ही शुरू हुआ है जरा-जरा,
गत प्रणालियो का वन-उपवन अभी बना है हरा-भरा,
तुझे इसे उन्मूलित करना है करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त ज्वाला,
तू पहिना दे जग-ग्रीवा मे, यह अगारा की माला !

शालो के फूलो से सज्जित सुख-शय्या हा जाने दे,
भर ले अगारे करवट मे, हूक लूक उठ आने दे,
अरे, अकमण्यता शिथिलता भस्मसात् हो जाने दे,
अग्नि चिता मे विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे,
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन सा ? आज प्राण की होली है ?
तेरी दाहक स्वर-लपटो मे स्वय त्राण की होली है ॥

■

गरल पियो तुम ! गरल पियो तुम !!

आज रुद्र ललकार रहे हैं अमृत पुत्र, लो गरल पियो तुम,
आज अमर वेला आयी है गरल पियो, चिरकाल जियो तुम,
ओ तुम चिर जीवन के प्यासे, सुन लो यह भैरव आवाहन,
हिम गिरिवर के तुग श्रृग से गूँज रहा है घण्टा घन घन !
प्रलयकर शकर बैठे हैं खोले वरदानो की झोली,
जागो, ग्रहण करो वर उनका, बढे चलो टोली की टोली !

हहर हहर हर शिखर-शिखर से गरज उठे हैं आज पिनाकी,
आमन्त्रण है आज सभी को, अब क्या चिन्ता भव-बाधा की ?
हिम-आच्छादित शिला खण्ड सब प्रतिध्वनित हैं उनके स्वर से,
भूधर के सब पार्श्व-देश भी अनुकम्पित है स्वर हर-हर मे !
हर-हर करती गह्वर सुरधुनी, ले आयी सन्देश सब-हर,
रे, गरजे हैं आज महेश्वर, काँप रहे हैं गिरिगण, गह्वर !

जगती का कण-कण कम्पित है सुन यह महानाश की वाणी,
भारत के रज-कण कापे हैं सुन सुन यह वाणी कल्याणी,
आज महाकालेश्वर का ही प्रतिनिधि एक यहा आया है,
जिसकी छाया परम अमृत है ! महामरण जिसकी माया है !
अटल हिमाचल से कुमारिका कन्या तक विस्तृत जन-पद मे
है उसका सन्देश प्रचारित, प्रति गिरि मे, गह्वर मे, नद मे !

देखें कौन वीर सुनता है गरलपान के इस गर्जन को,
नीलकण्ठ के भव भय हारी चिर मगलकर इस तर्जन को,
चिर जीवन के औघडदानी आज दे रहे मरण-सँदेसा,
सर्व प्राप्ति के इच्छुक हो तो ग्रहण करो यह हरण-सँदेसा !

सुनो बजा डिम-डिम डिम डमम्, बोला निपट दिगम्बर, गाँधी
अरे मरण भी जीवनक्रम है। कैसा प्रलय ? कहाँ की आँधी ?

आज वही सागर मन्थन है जो होता है कालान्तर में,
आज वही भीषण घषण है, चषण है जग के प्रान्तर में।
जन-उद्यम का मेरु-गिरीश्वर मन्थन-दण्ड बना बलशाली,
भोग-भाव के शेषनाग की मन्थन-रज्जु बनी विकराली,
यह अथाह, अज्ञात तत्त्व का अतल महार्णव लहर रहा है।
मथित व्यथित उसका अन्तस्तल उफन रहा है, घहर रहा है।

जगती के जनगण, अवलोको यह विकराल महार्णव-मन्थन,
घर्णित मन्थन दण्ड निहारो, जिसकी गति का रंच न स्तम्भन,
यह फेनिल आडोलन देखो, निरखो यह प्रशान्त का विप्लव।
कितनी त्वरित चलित है देखो मन्थन-रज्जु विडोलित, विक्लव।
इस विकराल फणीन्द्र-रज्जु के रन्ध्र रन्ध्र से बहा हलाहल,
जिससे दग्ध हुआ-सा लगता मन्दर मेरुदण्ड यह पल-पल

देखो इस अथाह जलनिधि के गहन, गभीर अतल से तल में—
क्या क्या उद्वेलनमय बुद्-बुद आ उठते हैं इस खल-भल में।
तुम तो अमृत चाहते थे इस सपरिश्रम समुद्र-मन्थन से,
किन्तु हलाहल ही निकला है भोग-विलास-रज्जु-बन्धन से।
तुमने उद्यम मेरु-मथानी चालित की है भोग-पाश से
तब कैसे बच पाओगे इस शेषनाग के विष विलास में ?

लो निकला यह गरल हलाहल, पर तुम मत भागो। मत भागो।
निज उद्बोधन करो। कहो हे नीलकण्ठ, जागो। अब जागो।।
अरे निहारो समाधिस्थ है विषपायी शंकर अन्तर में,
बम् भोले। बम् भोले।। बोलो, जाग उठेंगे क्षण-भर में,

सुनो, तुम्ही को पीना होगा अपनी कृति का विषम हलाहल
आज स्ववश करनी ही होगी भीति-भावना की यह हलचल ।

अवाप्तव्य अनवाप्त ध्येयके इस अज्ञात अतल का मन्थन,–
तुमने किया, किन्तु फैलाया जग मे कैसा भीषण क्रन्दन ।
हाहाकार भरा दिशि-दिशि मे, नभ रक्ताक्त अश्रु रोता है,
लोहित मग्न दिङ्मूल हुआ है, रणचण्डी नर्तन होता है,
अन्तरिक्ष से अग्नि-अँगारे बरसाते हो तुम ओ जग-जन,
कहा तुम्हारी अमृत-साधना ? कहाँ तुम्हारा यह उत्पीडन ?

क्या यो ही अज्ञात तत्त्व का अम्बुधि अवगाहन होता है ?
अरे, इस तरह तो मानव-हिय अनपावन पाहन होता है ।
नि सन्देह तुम्हारा उद्यम-मन्दर चक्रित चलित हुआ है,
नि सन्देह तुम्हारा सागर - म थन कुछ-कुछ फलित हुआ है,
पर, देखो, तव मन्थ-रज्जु से – जो है भोग - विलासी बन्धन,
निकला है यह गरल हलाहल जीवन-भजन, प्राण निकन्दन ।

इस दानवी क्रोध, हिंसा का गरल हलाहल कौन पियेगा ?
कौन आज निज को मारेगा ? अरे, कौन चिरकाल जियेगा ?
ओ तुम मानव, ओ मनु-वशज, तुम्ही करोगे पान हलाहल ।
गगन-विहारी तुम्ही बनोगे, जो कि धँसे हो आज तलातल ॥
मानव हो तो फिर उपमानव, दानव क्यो बनते जाते हो ?
अपनी ही कृति के दल दल मे क्यो फँसते, सनते जाते हो ?

नर हो तो क्यो भूल रहे हो कि तुम शुद्ध नारायण छवि हो ?
यदि लव हो तो अग्नि पुज हो, एक किरण हो तो तुम रवि हो ।
आओ तो निर्लिप्त भाव से निज विकार अन्तर मे धारो,
यदि न कर सके इतना भी तो सर्वनाश है, जरा विचारो !

इतनी यह् विज्ञान-सम्पदा, इतना यह् बल बुद्धि पराक्रम,–
भस्मसात् होवेगा क्षण मे, त्यागो अपने मन का सम्भ्रम ।

कहता जा, रे परम तपस्वी, रे अति मानव अरे दिगम्बर ।
लग्न विनाश उन्मुख मानवता, कहता जा तू, रे विश्वम्भर,
यह् सन्देश - धारण का यह् शखध्वनि नवल, सनातन,–
अरे कदाचित् सुन न सकेंगे निपट अल्प विश्वासी हम जन ।
किन्तु अरे तू तो कहता जा, देता चल सन्देश सुहावन,
इसी तरह मानवता का मन, शायद हो जाये कुछ पावन ।

तुझ जैसा पथ - दर्शक पाकर, यह् मानवता धन्य हुई है,
नर मे नारायण की झाकी यहा विशेष अनन्य हुई है,
जग ने देखा कि हा गुहा का वह मानव पशु गुप्त हुआ है,
तुझमे देखा कि वह हिंस्र-नर जाने किधर विलुप्त हुआ है,

ओ करुणाकर मेरे बापू, जियो जियो, शत वर्ष जियो तुम ।
मानवता के अर्थ, शम्भु हे, गरल पियो तुम । गरल पियो तुम ।।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१ अक्तूबर १९४२

पथ-निरीक्षण

सुन लो ओ नवीन दीवाने, सुन लो मेरी बात जरा,–
अरे, रही है विजय जगत् मे सदा काल से स्वयंवरा,
जिसके गट्टे मे ताकत, है, है उसकी ही वसुन्धरा,
देकर सीस, असीम मिले हैं यही विश्व की परम्परा,
विजय और वसुधा ये दोनो बडे बाप की बेटी है,
कापुरुषो की नही, सदा ये बलवानो की चेटी है ।

वरण करोगे विजय ? बनोगे जग मे क्या तुम धरणीश्वर ?
तो सीखो कैसे देते है जन शोणित अजलि - भर - भर ?
विजय वरण करने निकले हो, पग धरते हो यूँ डर - डर ?
कायर ! समझा या कि चले हो तुम अपनी खाला के घर ?
खबरदार ! पीछे मत देखो, लानत है गर तुम झिझको,
क्या है मोल तुच्छ जीवन का, अरे खपा दो तुम निज को !

विजय ? न सोचो कि वह मिलेगी, कब, किस दिन, किस घडी, अरे,
विजय नही ककडी मिले जो यो ही पथ मे पडी अरे ?
पहले कुछ चुक्ते तो कर दो साँचे - चोखे दाम अरे,
भीरु चाहते हैं कि मिले वह विजय बिना कुछ भेंट धरे,
तुम हो अग्निकुमार अरे ओ युवक धुनी, ओ मतवाले,
इस स्वातन्त्र्य-चण्डिका को दो भर निज शोणित के प्याले ।

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोडे सग अहो,
जब दुनिया - दारो की होवे धीमी हृदय - उमग अहो,
जब कि पडे जय-जय की ध्वनि का कुछ-कुछ फीका रंग अहो,
तब तुम, अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभग रहो,
निरुत्साह की, तिरस्कार की यदि तुमको भावना मिले,
तो उसको, ह अटल हिमाचल, सह जाओ तुम विना हिले ।

तुमको करना है पुरखो के सब पापो का प्रक्षालन,
तुम्हे तोडना है सदियो की विकट श्रृखला का बन्धन,
है बलि-वेदी, सखे, प्रज्वलित माग रही ई धन क्षण-क्षण,
आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ई धन,
भस्मसात् हो जाने दो ये प्रबल उमगे जीवन की,
अरे सुलगने दो बलि-वेदी, चढने दो बलि यौवन की ।

आज अग्नि-ताण्डव होने दो, लप - लपट लहराने दो,
रंजित अग्नि - शिखा उठने दो, अम्बर लौ हहराने दो,
निज ध्वंसावशेष दुर्गों में विजय ध्वजा फहराने दो,
एक बार फिर से जय-जय की विजय गूँज घहराने दो,
हारी थकी अस्थियाँ लेकर मरते जाओ कूच सखे,
पथ जैसा है वैसा ही है निरखो नीच न ऊँच सखे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२१ जनवरी १९३४

■

भैरव नटनागर

अरे भयंकर, ओ शिवशंकर।
ओ जगती की पुण्य गन्ध तू, आ गा की जीवन भय हर, हर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर।
चार बरस तक अनहद डमरू खूब बजाया, ओ बम् भोले,
नाच उठा सब जगत् देखकर तेरा वह ताण्डव प्रलयंकर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर।
विकट नाच नाची सब दुनिया तेरे भृकुटि-विलास मात्र से,
नारी-नर नाचे, शिशु नाचे, नाची युवक युवतियाँ थर थर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर।
रग रग रोम रोम, सब, नाच उठे लोहित शोणित-कण,
अहंकार नाचा, हिय नाचा, कम्पित हुआ निखिल मन-अम्बर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर।

हम जड भी गतिचलित हो गये, उस तेरे गतिमय नर्तन से,
अवश डुला तव ताण्डव-गति से अचल राष्ट्र-निद्रा गिरि-मन्दर,
अरे भयकर, ओ शिवशङ्कर !

हम नाचे तो, किन्तु हो गये, देव, बहुत कुछ हम बेताले,
तव ताण्डव-यति-गति को हमने, विकृत कर दिया था, हे शशिधर,
अरे भयकर, ओ प्रलयकर !

तू मति दाता, तू धृति दाता, गति दाता तू औघड दानी,
अब निष्कृति निगति दाता बन प्रकट रहा है तू, हे नटवर,
अरे भयङ्कर, ओ प्रलयङ्कर !

जब जग-जन की आखो म तू बन जाता है अगति अधृति मय,
तभी रुद्र गतिमय होता है तेरा अति गभीर अन्तर-तर,
अरे भयकर, ओ प्रलयङ्कर !

नाचा स्वय, नचाया सब को, और समेटी है अब लीला,
'ठहरो !'—यो कहकर तू गुप चुप नाच रहा है स्वय ताल पर,
अरे भयकर, ओ शिवशकर !

अपना नाच आप नाचेगा ? क्या न नचायेगा अब हमको ?
भर दे रे, तू इसी अगति मिस, भर दे गति हिय मे विश्वम्भर,
अरे भयङ्कर, ओ शिवशकर !

हम फूहड ! हम कैसे नाचें तेरी सुघड ताल-गति-यति पर ?
तू ही सदा नाचता रह, रे, एकाकी भैरव नटनागर,
अरे भयकर, ओ प्रलयङ्कर !

तेरे रक्त बिन्दु, श्रम-कण बन, झलक रहे हैं तव ललाट पर,
उसी स्वेद-कण दर्पण म हम निरखेंगे निज रुद्र रूप वर ।
अरे भयकर, ओ शिवशङ्कर !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
८ अप्रैल १९३४

मर-मर हम फिर-फिर उठ आये

मर-मर, हम फिर-फिर उठ आये।
अब तक तो कवलित न कर सका, महाकाल मुँह बाये,
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये।
हम अक्षर, हम अमर सदा के, हम मृत्युंजयकारी,
हम अनादि, हम सतत सनातन, हम न काल के जाये,
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये।
हम समझे सब भेद मृत्यु है पट-परिवर्तन-लीला,
जीवन अमर, अनन्त, अनामय, फिर हिय क्यों घबराये?
मर-मर, हम फिर-फिर उठ आये।
यह बह रही सजीवन धारा तोड प्रकृति पाषाणी,
महा मृत्यु के अन्तर मे भी जीवन-बिन्दु समाये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये।
जनम-मरन की भेद-भावना हृदय छोडकर भागी,
जगी प्रतीति, हिये मे हमने अजर अमर पिय पाये,
हम, मर मर, फिर-फिर उठ आये।
कोटि कोटि मन्वन्तर स यह जीवन धार पुरानी,—
नित-नूतन-सी उमड रही है जडता मृत्यु नसाये,
हम, मर-मर, फिर फिर उठ आये।
अरे, सहस्रो वर्षो पहल मृत्यु तत्त्व हम समझे,
धिक् हमको, यदि मरण-भीति यह आकर आज सताये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये।

डिस्ट्रिक्ट जेल अलीगढ
२३ जनवरी १९३४

■

पराजय-गीत

आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ,
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढती हुई कतार फौज की सहसा अस्त - व्यस्त हुई,
मस्त हुई भावो की गरिमा महिमा सब सन्यस्त हुई,
मुझे न छेडो इतिहासो के पन्नो, मैं गतधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

मै हूँ विजित, जीत का प्यासा विजित, भूल जाऊँ कैसे ?
वह सघपण की घटिका है बसी हुई हिय मे ऐसे –
जैसे माँ की गोदी मे शिशु का दुलार बस जाता है,
जैसे अगुलीय मे मरकत का नवनग कस जाता है,
'विजय-विजय' रटते रटते मेरा मनुआ कल-कीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुण्ठिता है, खाली तूणीर हुआ।

गगन भेद कर वरद करो ने विजय प्रसाद दिया था जो,
जिसके बल पर किसी समय मे मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति-दीपशिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृपा आवरण मे उसको लिपटाया है,
गौरव गलित हुआ गुरुता का निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

एक सहस्र वर्ष की माला मे हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत युग के गुम्फित मनको को फिर-फिर हेर रहा,
घूम गया जो चक्र उसी की ओर देखता जाता हूँ,
इधर-उधर सब ओर पराजय की ही मुद्रा पाता हूँ।
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

विजय सूर्य ढल चुका अँधेरा आया है रखने को लाज,
कही पराजित का मुख देख न ले यह विजयी कुटिल समाज,
अचल, कहाँ फटा अचल वह ? माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ ?
अर्धनग्न, रुग्णा, सपूत की माँ का लज्जा-अस्त्र कहा ?
कहा छिपाऊँ यह मुख अपना ? खोकर विजय फकीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

जहाँ विजय के पिपासात हो गये, लाख की ओट कई,
जहा जूझकर मरे अनेको, जहा खा गये चोट कई,
वही आज सन्ध्या को म बैठा हूँ अपनी निधि छोडे,
कई सियार, श्वान, गीदड ये लपक रहे दौडे दौडे।
विजित साझ के झुटपुटे समय कर्कश रव गम्भीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

रग-रग मे ठण्डा पानी है, अरे उष्णता चली गयी,
नस नस मे टीमें उठती हैं, विजय दूर तक टली सही,
विजय नही, रण के प्रागण की धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावो मे वर्दी के चिथडो मे ले आया हूँ।
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर, हा ! कैसा मै वीर हुआ
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।

वर्दी फटी, हृदय घायल, कारिख मुख भर, क्या वेश बना?
आँखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना।
अरे पराजित, ओ! रणचण्डी के कुपूत! हट जा, हट जा,
अभी समय है, कह दे, माँ-मेदिनी जरा फट जा, फट जा,
हन्त! पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ?
खिंचता ही आता है जब से खाली यह तूणीर हुआ!!

■

अग्नि-कायर-संवाद

अग्नि-शिखा ने धधक कहा, "मैं प्यासी हूँ",
कायर बोला, "मैं तो एक उदासी हूँ,
मुझे क्या गरज तू प्यासी है या भूखी?
बता कहाँ से लाऊँ मैं समिधा सूखी?"

हवन कुण्ड की आग उगलने लगी वचन
"अरे भस्म कर दे तू अपना जीवन-धन
मेरी प्यास बुझे, अब मत कर देरी,
तेरे द्वारे आज लगाती हूँ मैं फेरी।

मुझको मत निराश कर तू आलसी अरे,
वरना मँडराऊँगी मैं बहु रूप धरे,
कभी बनूँगी मैं परतन्त्र भाव पीडा,
कभी खेत खाऊँगी बन अकाल-क्रीडा।

अरे कापुरुष, दे-दे तू मुझको पानी
बुझने दे मम प्यास, निपट-से अज्ञानी,
वरना, मैं हूँ आग तुझे मा डालूँगी।
बन कर हिय की हूक हृदय मे सालूँगी।"

सुन करके ये वचन भीरु हिय मुरझ गया
पर, वारो के हिय का बन्धन सुरझ गया
उरझ गया बलिदानोत्कण्ठा का फन्दा
मर मिटने के भाव हुए फिर से जिन्दा।

■

शिखर पर

चढ चल, चढ चल, थक मत, रे बलि बध के सुन्दर जीव,
उस कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नीव,
बडे-बडे थे शिलाखण्ड मग रोके पडे अचेत,
इन्हे लाघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत,
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास।
नीचे, उपत्यका मे, है जीवन-पकिल का त्रास।
चढ चल, चढ चल, थक मत रे तू बलिदानो के पुज,
देख कही न लुभावे तुझको यह जीवन की कुज
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी मा की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध,
कर दे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।

■

१९३०वें वर्ष की समाप्ति पर

जाते हो ? जाओ, सुखेन जाओ, हँसते जाओ, प्यारे
पूर्ण भूत की सुघड जाल म हँस फँसते जाआ, प्यारे,
हे उनीस नौ तीसवे बरस, क्रीडा-काल बीत आया,
तुम्हे बुलाने को, मुसकाता, देखो वह अतीत आया,
छिन छिन बीत रही हैं आज तुम्हारी क्रीडा की घडियाँ,
खिसक रहो है खन-खन करती काल शृखला की कडियाँ।

मुझ याद है वह दिन जब तुम आये थे हँसते मिलते,
उस निशीथ के अपर काल मे देखा था तुमको खिलते,
शरत्कृशा रावी के तट प छटा तुम्हारी देखी थी,
उस दिन इस जीवन मे एक नयी आभा अनुलेखी थी,
उस दिन र गा चुके ये दावो पर जो कुछ भी पूँजी थी,
हे सुवप, उस दिन, 'स्वतन्त्र भारत की जै' ध्वनि गूँजी थी।

उस दिन भारत के दिड्मण्डल मे, गूँजा उद्घोष नया,
उस दिन बन ठनकर झुन झुन करती, आयी आशा विजया,
मुझे याद है, इस दिन झण्डेके नीचे कुछ गान हुआ,
अथवा माते हुए देश को, जागृति का कुछ भान हुआ,
वह प्यारा कप्तान जवाहर, उस दिन नाचा फिरा वहा,
आशाओ का पुज याद है, उस दिन जैमा घिरा वहाँ।

लिखी हुई है अहो तुम्हारे वक्षस्थल पर अमिट कथ
कितनी मादकता, कितनी दाहकता, कितनी विकट व्यथ
ये अनेक बलिदान, प्राण की यह, उत्सुक चटपटी भल
रे सुवर्ण, देखी है तुमने, निपट घोरता गली-गल
अनाचार, गाली, डण्डे की, क्रूर यातना देग
यह सब रख देना उन, अलक्ष्य चरणो मे झुके

पूर्ण भूत के स्वप्न दुर्ग का मृण्मय सिंह द्वार खुला
फहरा रही कँगूरो पर, विस्मरण ध्वजाएँ ये मृदुला,
खडे पेशवाई को आत्म विसर्जन के ये दरबारी,
दर्शन करने को आयी है मदिर भावनाएँ सारी,
हे सुवर्ण नव हृष्ट आज सब ओर वहाँ उच्छ्वसित
महाकाल का देश तुम्हारे स्वागत मे उल्लसित हु

जाओ, सखे, थकित मानवता का, इतिहास बनाने को,
जाओ, शान्त, बिना बोले, विश्रम अवकाश मनाने को,
एक बार गिन गिनकर अपनी, कृतियो की दुनिया छोडो,
जोडो नाता निष्कृति से, आविष्कृति की मणियाँ फाडो,
हे अशान्त, विश्रान्त घाट की, ओर छोड दो रिक्त
आशा और निराशाओ को छोड चलो अपनी गठ

डिस्ट्रिक्ट जेल गाजीपुर
३१ दिसम्बर १९३०

विप्लव गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणोंके लाले पड जायें, त्राहि - त्राहि स्वर नभ मे छाये,
नाश और सत्यानाशो का धुआधार जग म छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सद - सद् भावो की धूल उड उठे दायें - बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक - टूक हो जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,

माता की छाती का अमृत मय पय कालकूट हो जाये,
आँखो का पानी सूखे, हाँ, वह खून की घूँट हो जाये,
एक ओर कायरता कापे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ विचारो की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष मे एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये।

नियम और उप नियमो के ये बन्धन टूट - टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे, उस महा रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी शोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रागण मे घहराये,
नाश ! नाश !! हा, महानाश !!!, की प्रलयकरी आख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये।

"सावधान ! मेरी वीणा मे चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजरावें, युगलागुलियां ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है महानाश का गीत रुद्ध होता है।
आग लगेगी क्षण मे, हृतल मे अब क्षुब्ध युद्ध होता है॥
झाड और झखाड व्याप्त है इस ज्वलन्त गायन के स्वर से।
रुद्ध गीत को क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से।

"कण कण मे है व्याप्त वही स्वर, राम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है अहा ! सुप्त है सरक्षण की घडियाँ।
लटक रही है प्रतिपल मे इस नाशक सभक्षण की लडियाँ।
चकनाचूर करो जग को गूंजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से।

"दिल को मसल-मसल मेहदी रचवा आया हूँ मैं यह देखो–
एक एक अगुल-परिचालन मे नाशक ताण्डव का पेखो!
विश्वमूर्ति ! हट जाओ, यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा।
टुकडे - टुकडे हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा॥
आज देख आया हूँ जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू - विलास मे महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूँ,
"जीवन गीत भुला दो कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेर अन्तरतर से।

जीवन मे जजीर पडी खन-खन करती है मोहक स्वर से–
अन्दर आग छिपी है इसे भडक उठने दो एक बार अब,
दहल जाय दिल, पैर लडखडायें, कॅप जाय कलेजा उनका,
नाश स्वय वह उठे कडक कर उस गभीर कम्प-से स्वर से

"वरमो की मार्यिन हूँ तोडोगे क्या तुम अपने इस कर से ?,
ज्वालामुखी शान्त है इसे कडक उठने दो एक बार अब।
सिर चक्कर खाने लग जाये टूटे बन्धन शासन-गुण का।
'रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से'।

■

वसन्त

कविते, सूना है यह जीवन, भार भूत, नैराश्य भरा
फिर भी कारा मे आया है यह मधुपति कुछ डरा डरा,
पदाक्रान्त मै ज्वराक्रान्त हूँ, निस्साधन अति दीन अहो,
कविते, ऋतु राजा को कैसे आज रिझाऊँ ? तुम्ही कहो ?

नही दिखा सकता हूँ दिल के शोलो की आतिश-बाजी
कही साफगोई न बढा दे पिय की अगली नाराजी।

पीपल की डालें दिखती है मेरे छोटे जँगले से,
आज साँझ को मैंने देखे उनके रँग-ढँग बदले-से,
थिरक रही थी सान्ध्य पवन मे पीपल की हर-हर डाली,
खेल रही थी किरणो से पत्तियाँ सुनहली हरियाली,

डूब गया इतने मे सूरज, पडी पत्तिया वे काली
है ऐसा मेरा जीवन, छिन उजियाली, फिर अँधियाली ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
३० जनवरी १९३३ वसन्त पचमी

■

तन मन से तुमको प्यार किया

तन-मन से तुमको प्यार किया, धन से कैसे करते, बोलो ?
धन से न कभी उन्सियत रही, सम्पत्ति कहाँ धरते, बोलो ?
है तंग जगह इस जीवन में है यहाँ वक्त की भी तंगी,
थोड़े-से क्षण, छोटा बरतन, इनमें क्या - क्या भरते बोलो ?

हमने बटोर दीवानापन, लाकर इनमें रक्खा, यारो,
दुनियादारों के लेखे तो खाया हमने धक्का, यारो,
लेकिन इस नि:साधनता में है एक लुत्फ़ कुछ अपना ही,
वह क्या है, क्या बतलायें हम ? गूँगे ने गुड़ चक्खा, यारो,

कह सकते हो हम असफल हैं इसलिए हुए हम वैरागी,
कह सकते हो हम पराभूत हैं इसलिए बनते त्यागी,
पर, प्रेम नहीं है विजितवाद, है आदि प्रेरणा वह मन की
जिसने सनेह-धूनी तप ली, वह तो सचमुच है बड़भागी,

इक हैरत होती है हमको, कुछ ज़रा तरस भी आता है,—
मुख्तसर ज़िन्दगानी में यह मानव कैसा गुर्राता है,
तानाशाही, नाना गर्दी, ख़ूरेज़ी, यह बे - ईमानी ।
गर आज मरे कल, कल दूजा दिन, फिर भी नर यों इतराता है !

ये चन्द ज़िन्दगी के लमहे गर धन बटोरने ही बीते,—
गर, इस कोशिश से पा जाये मानव सब फल मन के चीते,—
तो भी क्या दिल भर जायेगा सोने-चाँदी की झन झन से ?
यदि हिय टटोल कर देखोगे, पाओगे अपने को रीते,

सोचा, जीवन-कूजे मे हम क्यो जमा करें ककड-पत्थर ।
सोचा, सनेहके नव रस से ले क्यो न लबालज इसको भर ?
जब नयी जवानी मे दुनिया बढती है धन मचय करने, —
उस वक्त चल पडे हम जोगी इस उलटे सीधे मारग पर,

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
६ नवम्बर १९३०, रात्रि १२ ४०

■

हम अलख निरजन के वशज

हमने भी पाया अजब हृदय,
हम जग को करने प्यार चले,
पर अजब तमाशा हुआ यहाँ
हम सबके हो हिय-भार चले,
जिस - जिसको हमने अपनाया
वह बेगाना हो गया यहाँ,
मरु मे सनेह वपन करते
इस जग मे हम बेकार चले

हम रहे फुट्ट फैयल या पर,
हम इधर-उधर हिय - हार चले
जीवन की इस डगरी मे हम
अपना सब कुछ ही वार चले
जिनको हमने अपना समझा
वे ही अब हम से कहते हैं
'तुम कौन हमारे होते हो ?
तुम गलत धारणा धार चले',

हम जन्मजात बोहेम ठहरे,
हमको कब आयी अक्ल ज़रा ?
इस दिन भी तो उन सबके हित
हम हो जाते हैं विकल ज़रा,
ऐसा कुछ लगता है गोया,
अपने ही दिल के टुकड़े को —
अपना - सा कर पाने में हम
हो गये यहाँ पर विफल ज़रा,

हम पास बढ़े जितना उनके
वे उतना हमसे दूर हुए,
वत्सलता, स्नेह, दुलार प्यार —
सब उनको नामंज़ूर हुए,
हम थे मुगालते में अब तक
जब ठेस लगी, तब होश हुआ,
इक खरी आँच के लगते ही
हिय के सम्भ्रम वे - नूर हुए,

फिर भी हम तो हैं मस्ताने,
है हमें न ख्वाहिश दानों की,
हम नहीं भिखारी दर - दर के,
परवाह न निज अरमानों की,
हम अलख निरंजन के वंशज,
निज मनोरथों के हम हंता,
अपना सब कुछ देने में ही
है सार्थकता इन प्राणों की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२ दिसम्बर १९३८, रात्रि २ बजे

■

सम्भाषण

आज चाद ने खुश-खुश झाँका,
काल-कोठरी के जँगले से,
गोया मुझसे पूछा हँस कर,
कैसे बैठे हो पगले - से ?

कैसे ? बैठा हूँ मै ऐसे –
कि मै बन्द हूँ गगन-विहारी,
पागल-सा हूँ ? तो फिर ? यह तो,
कह हारी दुनिया बेचारी,

मिया चाँद, गर मै पागल हूँ–
तो तू है पगलो का राजा,
मेरी तेरी खूब छनेगी,
आ, जँगले के भीतर आ जा

लेकिन तू भी पार फँसा है–
इस चक्कर के गन्नाटे मे,
इसी लिए तू मारा-मारा–
फिरता है इस सन्नाटे मे,

अय्या, चकरघिन्नी फिरने का–
यह भी है कोई मौजूँ छिन ?
गर मजूर घूमना ही है,
तो तू जरा निकलने दे दिन

यह सुन वह आदाब बजाता–
खिसक गया डण्डे के नीचे,
और कोठरी मे 'नवीन' जो
लगे सोचने आँखें मीचे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ
१९३३

■

उत्सीदेयुरिमे लोका'

किसने हमें सुनाया आकर यह कठोर संदेश
कि तुम डटे ही रहना, विचलित मत होना लवलेश ?
किसने भरे हमारे दृग् में ये सपने साकार ?
किसने पहनाया है हमको यह यात्री का वेश ?

थक जाते हैं तब भी रहता ही है इतना ज्ञान
कि हम प्रवासी हैं, हमको क्यों व्यापे आज थकान ?
हमें निभानी ही है अपनी निष्ठा, अपनी लीक,
जान-बूझकर आज बनेंगे क्या हम निपट अजान ?

हमने जान-बूझ कर ओढ़ा जन संग्रह का भार,
जान बूझ कर लादा हमने सिर पर यह अम्बार,
समझ बूझ कर जब लिखवाया इस सूची में नाम, —
कहो, त्याग बैठें क्या तब हम निज पथ क्रमण-विचार ?

आज थके हैं प्राण, थके हैं पाँव, थकी है देह,
किन्तु, बन्धु, हम कैसे छोड़ें निज प्रवास का नेह ?
'उत्सीदेयुरिमे लोका' यदि हम हों तन्द्रित आज ।
इसी लिए हमको रहना है अथकित, नित्य अगेह !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१२ जून १९४४

■

क्यों रोते हो, यार ?

क्यो रोते हो, यार, सिपाही, क्यो रोते हो यार ?
क्या घर की चिट्ठी को पढकर जीवन लगा असार ?
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

घर पर विवश छोड आये थे तुम जो मनहर मीत, –
क्या मालूम हुआ है, तुमको, हुआ वही विपरीत ?
क्या, बम, होने लगे इसी से ओ तुम अचल अभीत ?
बडी कठिनता से मिलता है यहा अचचल प्यार।
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

मुँह देखे की प्रीत यहा है, मुँह देखे की लाज,
काई अपनी माग भरे क्या निवासित के काज ?
नित्य समागम पर ही स्थित है अपना मनुज समाज।
यह ध्रुव सत्य परख लो, भाई, मत बैठा मन मार,
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

तुम्ही नही हो यहा अनोखे, निज पीतम से त्यक्त,
तुम-जैसे है कई, – व्यथाएँ जिनकी है अव्यक्त,
निज प्रिय छोड, लाम पर जाते है जो भी अनुरक्त–
उनमे बहुतो को मिलता है यही अथिर व्यवहार।
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

बुरा मानने का इसम है, तुम्ही कहो, क्या काम ?
आकर अन्य बसेंगे हो जब रीता होगा धाम।
'प्रकृति याति मानवी' – समझो यह रहस्य हिय थाम।
यह है शती बीसवी, प्रचलित है अब नये विचार।
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

सामूहिक उत्थान हेतु है अर्पित जिनके प्राण, –
उनको निज का वैयक्तिक सुख क्यो रोके हठ ठान ?
निवेदितो मे तुमने जब निज नाम लिखाया आन, –
तब, अब कहो, शिकायत कैसी ? क्यो यह हा-हा-कार ?
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

तुम कहते हो अरे ! पराया हुआ वही रसखान, –
जिसने हुलस दिये थे हमको नित्य अमित वरदान !
हाँ ! पर, कब तक बाट तुम्हारी जोहे आतुर प्राण ?
यो, अधर मे लटके, कब तक चला करे ससार ?
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

तुमने पकडा समझ - बूझकर ऊबड - खाबड पन्थ,
ऐसा पन्थ, कि नही दिखाई पडता जिसका अन्त !
तुमने ओढी जान बूझकर विपदा अतुल - अनन्त,
तब क्या आशा कि सग चलेगा कोई प्राणाधार ?
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

क्या अधिकार तुम्हे कि अन्य पर डालो अपना भार ?
पथ का साथी ढूँढो, ऐसा तुमको क्या अधिकार ?
तुम्ही कहा, कब हुआ दुकेला इकतारे का तार ?
तुम भी करते रहो अकेले झन-झन स्वन सचार !
सिपाही, क्यो रोते हो, यार ?

केन्द्रीय कारागार, बरली
२३ अप्रल १९४४

खिचडी

आशु-तोष, क्यो असन्तोप की धधक रही है ज्वाला ?
भस्म कर रही है क्यो मेरे हिय को यह विकराला ?
असन्तोष है ? या है केवल यह दुश्चिन्ता प्रबला ?
अथवा इस हिय मे छायी है आत्म दीनता अटला ?
लप-लप लपक रही ज्वालाएँ ये सब यहा घनेरी,
यह जीवन होने को है क्या आज राख की ढेरी ?

क्या यह पतनोन्मुख भावो की द्योतक है बेचैनी ?
क्यो चलती है हिय मे कैंची-सी यह ? पैनी - पैनी
पतन प्रेरणा है यह ? या यह उन्नति-द्योतकता है ?
या यह केवल मति-विभ्रम की प्रखर विमोहकता है ?
भोले बाबा, रच बता दो है कैसी यह माया ?
मेरे नभ - मण्डल मे छायी है यह कैसी छाया ?

इन सकल्प-विकल्पो ने है डाला हिय मे डेरा,
चपला उद्विग्नता आ गयी करने रैन - बसेरा,
यह प्रमाद है ? अलस भाव है या विराग - गैरिक्ता ?
है जीवन शकरा ? या कि यह है केवल मरु-सिक्ता ?
अहो वृषभ वाहक, दाहकता उठती है क्षण-क्षण मे
रह-रहकर क्यो होने लगती है तडपन तन-मन मे ?

खद-बद, खद-बद हिय की हाँडी निशि वासर करती है,
है यह क्या जो उथल-पुथल यो मम हिय मे भरती है ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
९ जनवरी १९३१

क्रान्ति ?

क्रान्ति ? क्रान्ति ? मेरे आँगन मे
यह कैसा हुंकार मचा ?
बोलो तो यह किसने अपने-
श्वासो का फुंकार रचा ?

झंकारो, धनु टंकारो का
यह चिर परिचित स्वर छाया,
रण-भेरी का यह भैरव रव,
कहो कहा से घिर आया ?

क्या सचमुच ही महा प्रलय की आंधी उठ आयी क्षण मे ?
ऐं ? क्या महा क्रान्ति मतवाली आयी मेरे प्रागण मे ?

क्रान्ति जगी, आंधी आयी, यह
उठी ज्वाल, चीत्कार हुआ,
नभ काँपा धरती भर्रायी,
जग मे हाहाकार हुआ,

वार हुए छाती पर, मन के-
मसूबे मिस्मार हुए
प्रलयंकर प्रवाह मे पडकर
कितने बे-घर-बार हुए ?

शोक कहाँ ? वेदना कहा है ? मिटने का उल्लास यहा,
मोह उठा, भ्रम पाप कटा, अब रहा न जीवन त्रास यहाँ।

हम विषपायी जनम के

आओ क्रान्ति, बलायें ले लूँ,
अनाहूत आ गयी भली,
वास करो मेरे घर - आँगन,
विचरो मेरी गली - गली,

सड़ी - गली परिपाटी मेरी,
इसे भस्म तुम कर जाओ,
विकट राजपथ में मँडराओ
जन-पद में डोला आओ,

नयी अग्नि ज्वाला भड़का दो तुम मेरे अन्तरतर में
अरी, नये, नक्षत्र जगा दो मेरे धूमिल अम्बर में।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० सितम्बर १९३१

■

अनल गान

अरे, अरे, ओ निपट निराशा के [illegible] वाले,
अरे पराजित, अरे [illegible], ओ [illegible] वाले,
ओ शंकित चितवन वाले, ओ [illegible] वाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ [illegible], ओ [illegible] वाले,
दूर पार से आई [illegible] [illegible] की तान नयी
आज वायु में [illegible] है, [illegible] में है तान नयी।

अनल गीत सुन ले, ओ यौवन के मदमाते वीर बली,
अग्नि गीत की यह स्वर-लहरी अन्तरिक्ष को चीर चली,
तारक माला-सी स्फुलिंग स्वर श्रुतिया सब दिशि फैल रहीं,
अनल-कुमार, आज तू पावक स्वर-तरग से खेल यही,
आज अग्नि - सस्कारो की तू हो जाने दे रस्म, सखे,
अग - जग की जडता - चचलता हो जाने दे भस्म, सखे!

स्वर-सप्तक कुछ नही, ताल-यति गति को भस्मीभूत किये,–
निपट अटपटी विकट तान से चिनगारियाँ प्रसूत किये–
अरे, चला चल सर्व दहन का वैश्वानर-सन्देश लिये,
आज लुकाठी की वीणा ले चल, दाहक का वेश किये,
अग्निमयी ही नही, अनल-सम्भूता हो वीणा तेरी।
अरे क्रान्तिदर्शी, उठ आये अग्नि-शिखा, अब क्या देरी?

तू नाशक ध्वनियो का गायक, तू विकराल क्रान्ति द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयकर, तू है अनल-राग स्रष्टा,
तेरे प्राणो मे तडपन है, नीच भावना अब कसी?
यह विश्वासघात अब कैसा? दुष्क्रनिया क्यो, अब ऐसी?
कर दे क्षार-क्षार अपनी इन प्राणमोहनी कृतियो को,
खण्ड खण्ड कर दे, रे मोही, निज दुबल सस्मृतियो को।

कितनी सदियो से लादे है तू उर पर यह भार बडा?
अरे, तनिक तो बता कि कैसे तेरा यह अविचार बढा?
जीवन-कन्दुक ठुकराने का तू ने स्वाग भरा, क्यो रे?
रच बता तो, किन गलियो मे अब तक तू विचरा यो, रे?
अब उठ, आज जला दे सत्वर निज व्यक्तित्व, मोह, ममता,
माग अलख से भीख कि तुझको मिले ज्वलित पावक क्षमता।

ओ बरसो से शिथिल पाश मे जकडे रहने वाले, तू,
आत्म-दीनता की दाहकता मे नित दहने वाले, तू,
ध्रुव विश्वासान्तज्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष, जल, थल,
आज अनल ताण्डव होने दे, मच जाने दे तू हलचल,
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी।

ध्वस-काय यह अभी-अभी ही शुरु हुआ है ज़रा ज़रा,
गतानुगति का वन - उपवन अभी बना है हरा - भरा,
तुझे इसे उन्मूलित करना है, करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त-ज्वाला
तू पहना दे जग-ग्रीवा मे, यह अगारो की माला।

शोलो के फूलो से सज्जित सुख शैया हो जाने दे,
भर ले अगारे करवट मे हूक लूक उठ आने दे,
अरे, अकमण्यता शिथिलता भस्मसात् हो जाने दे,
अग्नि चिता मे विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे,
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन-सा ? आज प्राण की होली है!
तेरी, दाहक स्वर लपटो मे स्वय त्राण की होली है!

■

हे क्षुरस्य धारा पथगामी

हे विशुद्ध, हे पूर्ण बुद्ध, सुनिग्द्ध तृष्ण, हे सन्यासी,
हे उज्ज्वलन्त, हे सन्त, शान्त हे, हे अनन्त के अभ्यासी,
मानवता की तुम प्रहेलिका, जगती के तुम अचरज हे,
हे विकास की विकट समस्ये, श्रेष्ठज हे, जय अन्त्यज हे,
योग-युक्त हे, शोक - मुक्त हे, यज्ञ भुक्त, हे बलिदानी,
हे अपमानित, हे सम्मानित, श्री गुरुदेव परम ज्ञानी

हे प्रलयकर, हे शकर, हे किंकर, हे निष्ठुर स्वामी,
परम सेव्य, हे तुम चिर सेवक, ओ कमठ, ओ निष्कामी,
हे क्षुरस्य धारा - पथ - गामी, हे जगमोहन जय जय हे,
युद्धवीर हे, रुद्धघोर हे, नीति - विदोहन, जय जय हे,
अनय क्षय हे, अभयनिलय हे, सदय हृदय पाप - क्षय हे,
हे कृतान्त-मे काल कूट तुम, जीवन दायक मधु पय हे,

धन्य हुई यह वसुधा वृद्धा, मानवता यह धन्य हुई,
तव विप्लवकारी प्रसाद से भय भावना नगण्य हुई,
ये मिट्टी के पुतले भी बढ-बढ लड गढ चढने दौडे,
क्या ही फूँके प्राण कि इनने सदियो के बन्धन तोडे,
आज उठी है अश्रुत स्वर लहरी जगती के अम्बर मे,
एक नवल उत्साह - वीचि फैली है सकल चराचर म,

आज शस्त्र अस्त्रो की घाते खूब कुण्ठिता हुई भली,
'अक्कोधेन जिने कोधम्' की कथा ही चरचा नयी चली।
अहो विश्व के हृदय - पटल को कम्पित कर दने वाले,
अहो कराल, मृदुलता से मानव हिय भर दने वाले,

आज सत्य, शान्ति की, व्यक्तिगत परिधि विश्व व्यापिनी बनो
यह आकुचित तटिनी जग - विप्लावक मन्दाकिनी बनो,

देव, तुम्हारे एक इशारे मे है उथल - पुथल जग की
उदधि गभीर कण्ठ ध्वनि म है आभा विप्लव के रग की।
अस्थि पुज मे यज्ञ - कुण्ड की ज्वालाएँ ये धधक रही
ओ प्रचण्ड तापस, बस-बस, जग भस्मसात् होवे न कही।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद
२८ सितम्बर १९३२

■

ओ, सदियो में आने वाले!

आज सुनी फिर से जग जन ने
विकट गडगडाहट अम्बर मे,
इन्द्र-वज्र की गगन भेदिनी
ध्वनि गूँजी नभ के अन्तर मे,
दिक्-गज डोले, काल कँप उठा,
जब कि दधीचि अस्थिया कडकी,
वृत्र अन्ध की असुरपुरी मे
छल - भस्मक ज्वालाएँ भडकी,
इक तापस की टेढ पसलिया
कुलिश गर्जना फिर उट्ठी है,
विगत प्राक्-इतिहास कथाएँ
स्मृति पर आज उभर उट्ठी है।

विस्मृत युग मे थे दधीचि वे
जिनने अपना देह - दान कर,—
हरण किया था वृत्रासुर का
अन्धकार घनघोर प्राण - हर,

एक दधीचि आज आया यह
जिसकी यज्ञ-हुताशन - ज्वाला,—
प्राण-अरणि के संघर्षण से
धधकी देह बीच विकराला,

अस्थि - पुज यह, यज्ञ वेदि-सम,
ज्वलित हो उठा आत्म ज्वाल से,
चिन्तन मग्न आज यह नश्वर
घिरा हुआ है ज्वाल - माल से।

यह प्रचण्ड होलिका जल रही
उसके तपोज्वलित अन्तर मे,
फैला है आलोक शोक हर,
दृग् दृग् मे, अवनी-अम्बर मे,

निज तप के उत्तुग शिखर चढ,
सुलगा कर प्राणो की होली,
अलख जगाकर कहता है यह
चेत। अरी मानवता, भोली।

इसका तप स देश - दिवाकर
चमक रहा है गगनागन मे,
अरे, रहेगा अब भी क्या तम
मानवता के मन - प्रागण मे ?

कई युगो से ठना हुआ है
जड औ' चेतन मे भीषण रण
कई युगो से जूझ रहे हैं
चिर प्रकाश औ' निबिड तिमिर घन,

कई युगो से, अहो, हो रहा,
इन्द्र - वृत्र का यह सघषण,
युग युग से होता आया है
दधीचियो का प्राणाकर्पण,

अगम काल नद मे होता ही
रहता है प्राणो का तर्पण,
अरे 'स्वधा' 'स्वाहा' से ही है
प्राण - विवद्धन है प्राणापण,

तम-प्रकाश के तुमुल युद्ध मे
क्या तम की ही तूती बोली ?
क्या न हुई है पग-पग पर
अन्धकार की हँसी - ठठोली ?

घन तम ने तो, अरे सदा ही
अपनी कलुष कालिमा धो ली,
पर प्रकाश तो छिटकाता ही
रहा सदा निज कुकुम-रोली,

फिर से आज धरा-डोली है,
फिर से आज जली है होली,
फिर से आज एक तापस ने
निज प्राणो की झोली खोली ।

इन चालीस करोड जनो की
आशाओ का पुज सनातन,
इन चालीस करोड जनो के
गौरव का प्रतीक सु-पुरातन,

इन चालीस कोटि मूको की
घन गजन गम्भीर गिरा वह
तिमिर-ग्रस्त चालीस कोटि की
तेज-पुज चिर ज्योति शिरा वह,

मुट्ठी - भर हाडो की ठठरी,
वह गान्धी जग मोहन, जय-जय !--
प्राणो को रख चुका दाव
पर होकर अति नि सशय, निभय !

जिनने प्राणो के बदले मे
सीखा है प्राणो का लेना,--
जिनने सीखा है निष्कारण,
यो ही, पर को पीडा देना,--

क्यो न हँसे वे देख-देख यह
तिल तिल प्राण-हवन की क्रीडा ?
क्यो न हँसे वे देख सन्त को
जग के कारण सहते पीडा ?

इसी तरह तो कभी हँसे थे वे--
वे येरुशलम निवासी ?
उनमे पहले विहँस चुके थे
यूनानी सुख - भोग - विलासी !

है अति गहन तमिस्रा जग मे,
हाँ, छाया है आज अँधेरा,
पडा हुआ है आज विश्व मे
भीषण अन्धकार का डेरा,

आज चुनौती हमे दे रहा
यह दुदम तम त्रास भयानक,
कहता है 'लो नष्ट हुए है
सभी ज्योति के स्वप्न अचानक !'

किन्तु महा मानव कहता है
'मम हिय मे है प्रसर प्रभाकर,
मत घबडाओ, मानव
जग म मुसकायेगी ऊषा अमाहर!'

जग को ज्योति दान देने हित,
अपने कोमल अन्तर-तर मे–
ओ अति मानव, किया निमन्त्रित
तू ने रवि निज-हिय-अम्बर मे ?

सूर्य चक्र का बेधन कर तू,
मत कर यो ब्रह्माण्ड विद्ध, तू,
ऐसी विकट साधना मत कर,
ओ निर्मोही महासिद्ध, तू,

यह तव तप-उज्ज्वल अन्तस्तल,
यह तव दुर्बल देह पुरातन,
अरे, धधक उट्ठेगी, रुक जा,
ओ वलिदानी, ओ करुणा घन !

सहन कर सकेगी न, अरे यह
अति तप-तेज, पुरानी काया,
और, हमारा तो सबल है
यही जिसे समझा तू माया,

तुझ देही को इसी देह मिस
अब तक हम सबने पहचाना,
तेरे इस शरीर को ही तो
हमने अपनी निधि है माना,

तव जजर पजर ही तो है,
हम दीनो का एक सहारा,
यह न रहा तो हो जायेगा
बस अनाथ यह देश बिचारा ।

डीक रही है यह पामरता,
पशुता भी गर्जन करती है,
भावो की काली अँधियाली
हिय मे चिंता-भय भरती है,

अरे, ज्योति तो है तेरे ही
इन सकरुण, स्वप्निल नयनो मे,
ये यदि मिचें अँधेरा होगा,
तेरे जन-गण के अयनो मे,

खोले रह, रे तू खोले रह,
मत मिचने दे अपने लोचन,
इन्ही टिमटिमाते दियला से
होगा जग का सकट मोचन ।

जब युग उद्ग्रीवी होता है,
जब सदिया करवट लेती है–
मानवता की पुण्य सुकृतियाँ
जब वरदान अमित देती हैं,–

अरे, तभी तो जग-मरु-थल मे
ऐसा कमल विहँस खिलता है,
बडे भाग्य से जन-समूह को
ऐसा पथ-दर्शक मिलता है,

ना जाने कितने चिर सचित
पुण्यो का प्रतिफल, तू आया,
यह न भूलना कि है हमारे
लिए, अमृत तेरी यह छाया।

हम तेरी वेदना-व्यथा को
क्या जाने? कैसे पहचाने?
तेरी अतला गहराई को,
कैसे जाये थाह लगाने?

तुझ सा तो तू ही है, नरवर,
तव समानधर्मा न यहा है,
ओ सदियो आने वाले,
तेरी उपमा सुलभ कहाँ है?

तू अपना अपमान स्वय है,
अनुपमेय तू, अरे निराले,
तुझको तू ही जान सके है,
ओ आजानु भुजाओ वाले।

आज बनायें क्या हम तेरे
अगणित वरदानो की सूची ?
तव तप-बल ही से इस भू पर
उठी बहुत मानवता ऊँची,

रेंग रहे थे जो कि पेट के
बल, इस भूमि खण्ड के जग-जन,—
वे ही अब तो उन्नत शिर है,
सबल हुए उनके दुबल मन,

तव प्रसाद से प्राप्त हुआ है
सदियो का खोया अपनापन,
अरे, आज हुकार उठे ह
ये नगे, भूखे, जजर तन।

अपनो की मत होम, दया कर,
मत मर, मत मर, अरे अमानी,
ग्रहण कर सकेगे न कभी हम
तेरा प्राण-दान, ओ दानी,

अल्प प्राण हम, महा प्राण तू,
स्वल्प निष्ठ हम, तू दृढचेता,
मरण-वरण मत कर, रे नरवर,
मत बन, मत बन, तू नचिकेता।

तुझसे हमे बहुत पाना है,
अरे अभी तो केवल अथ है,
'इति' मत कर, ले देख, हमारा
कितना विस्तृत, बन्धुर पथ है।

अभी कहाँ ? अब आने को है
तेरा युग तो, अरे प्रवत्तक,
तू तो अग्र सूचना लेकर
आ पहुँचा है सत्य समर्थक,

उस युग के निर्माण-काल का
तू ही तो होगा अधिनायक,
उस प्रभात की मधुर भैरवी
का तू ही तो होगा गायक,

इसी लिए तू टेर हमारी
सुन ले, ओ योगी ध्यानस्थित
तुझको तो अपने जन-गण का
करना ही है वहुत व्यवस्थित।

यदि उस पार वुलावे कोई,
तो तू मत सुन, मत जा, प्यारे,
तेरे विना, सोच ले क्या-क्या
हो जायगे हाल हमारे ?

घटाकाश-वाणी मत सुन तू,
तू मत सुन बलिदान निमन्त्रण,
प्राण-हवन की विकट क्रिया का
अब तो कर ले रच नियन्त्रण ?

देह नही है तेरा बन्धन,
प्राण नही हैं तेरे बन्धन,
जन्म बन्ध से विनिमुक्त तू,
ओ जग के तम तोम निकन्दन !

मत जा गोकुल छोड़, न जा
यमुना पार, अरे, ओ मोहन,
तुझ बिन कौन सुरास रचेगा,
कौन करेगा फिर गो दोहन ?

मुरली कौन बजावेगा फिर ?
ग्वाल-बाल कैसे नाचेंगे ?
नट नागर, तेरे बिन हम सब
नट-कछनी कैसे काछेंगे ?

तू जीवन-कालिन्दी मत तर,
रुक जा, रच हमारी सुन ले,
कुछ दिन और इसी गोकुल की
गलियों की ककड़ियाँ चुन ले !

डिस्ट्रिक्ट, जेल उन्नाव
२ मार्च १९४३, अर्ध रात्रि

■

मस्त रहो

मानव, मस्त रहो जीवन में, तुम मत इतने व्यस्त रहो,
कर्मठ रहो, किन्तु कर दो निज कर्म - संग में न्यस्त, अहो
रहो सदा ऐसी मस्ती में कि मिट जाये मन का खटका,
कुछ ऐसे उठो कि हो जाय सब चिन्ताएँ अस्त, अहो !

ऐसी मस्ती नहीं कि जिसमें मदहोशी - सी आ जाये,
वह मस्ती भी नहीं कि हृदय में अलग शिथिलता छा जाये,
ऐसी नहीं कि जिससे हो यह जीवन मदप - रूप निरा,
पर, ऐसी जिससे कि हृदय में समता, अचल समा जाय ?

बहुत झूलते रहे अभी तक आश - निराश - हिंडोले मे,
बहुत उडे हो, मानव, तुम तो कल्पित उडनखटोले मे,
पर, बोलो, *आकाक्षाओ ने तुमको क्या वरदान दिया* !
हम कहते हैं कि कुछ नही है इच्छाओ के झोले मे।

इतना बल उनमे अवश्य है कि वे कर्म को विकृत करें,
इतना बल है कि वे तुम्हारे सब सुकृतोको अकृत करें
उनमे यह बल है कि तुम्हारे हिय की शान्ति त्वरित हर ले,
और, तुम्हारे सद्भावों को वे क्षण - भर मे अनृत करे!

यही साधना साधो, मानव, कि तुम अडिग औ' अटल रहो,
प्रतिकूलता पधारे सम्मुख तब भी तुम नित अचल रहो,
समझो बन्धु कि आते ही है पथ मे आँधीके झोके,
क्या कर लेंगे ये बेचारे यदि तुम मन मे सबल रहो !

निश्चय ही हम सब मनुजो को शिश्नोदर की व्याधि मिली,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की निश्चय हमे उपाधि मिली,
किन्तु मनुज ही को तो सयम रूपी अमित प्रमाद मिला!
मानव के ही हिय सर मे तो शतदल चित्त समाधि खिली!!

मनुज-प्रगति इतिहास कह रहा आज ऊर्ध्व भुज होकर यो
कौन पा सका है अपने को चिर निद्रा मे सोकर यो?
मानव का चिर प्रगति चिह्न यह जागरूकता ही तो है!
अपनापन पाओ, अपने को अपने ही से खोकर यो!

क्या आशा ? कैसी अभिलाषा ? कैसा राग ? द्वेष कैसा ?
ललक लपकना यत्र-तत्र, यह शूकर - श्वान-वेश कैसा ?
अपनी आकाक्षाओ का शव क्यो लादें हम कन्धो पर ?
धधके क्यो न विराग - चिता अब ? शव का मोह शेष कैसा ?

आओ मानव, भस्म रमायें, अपना यह शव दाह करें !
आओ, आज श्मशान जगायें, हिय में नवल उछाह भरें,
आओ, आज मनाये होली, नव उत्सवका साज सजें,
शव जलता है ? तो जलने दो ! हम क्या हिय मे आह भरें ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जनवरी १९४४

■

विष-पान

तुम कैसे नवीन मतवाले ?
तुम कैसे पीने वाले ?
फेर रहे हो अपना मुँह तुम
देख हलाहल के प्याले ?
विश्व नाम पीने वाला था,—
तुम न मनाओ उसे, अरे,
हँसो - हँसो, हाथ बढ़ा था,
ले लो प्याले गरल - भरे।

अब विष की बारी आयी, ओ,
मधुरामृत पीने वाले,
फेर रहे हो क्यो अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

यौवन के सपने का मधवा—
जागृति मे विष रूप हुआ,
तनिक निछावर तो हो जाओ,
कैसा रूप अनूप हुआ,
ओ शौकीन ढालने वाले,
इसमे क्यो घबराओ हो ?
वह भी चक्खा, चखो इसे भी,
क्यो मन मे सकुचाओ हो ?
आज पड गये हो आकर तुम
काटकूट विष के पाले।
पर, न फेरना तुम अपना मुख
देख हलाहल के प्याले।

मधु चक्खा मधवा भी ढाला,
अधरामृत का पान किया,
स्वाद-समस्या की उलझन का
भेद भरम कुछ जान लिया,
मान लिया, मधु रस चख कर ही,
अपने को पीने वाला ?
शायद, भूल गये थे विष को
देख सुधा - रस का प्याला।

हाँ देखो यह अमृत-अनृतता –
प्रकटी, ओ जीने वाले,
फेर रहे अब क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

असलग्नता, सतत विलगता,
निपट उपेक्षा आयी हैं,
कालकूट के विषम छबीले –
प्याले भर - भर लायी हैं,
भर नैनों में सपना, हिय में –
भर-भर सरस उमग नयी, –
गरल भरे ये पात्र चढ़ा लो,
निखरे छबि रस रग - मयी,
देखो तो प्यालों से छलके –
क्या फेने नीले - काले
फेर रहे हो क्यों अपना मुँह
देख हलाहल के प्याले ?

पीने वालों की भाषा में
अमिय गरल का भेद नहीं,
स्वाद - समीक्षा में होता है
मधु - कटु का विच्छेद कहीं ?
रस -अनेकता, रूप - भिन्नता,–
है नखरा गुणवानों का,
सुधा हलाहल एक रूप है,
कौल यही मस्तानों का !

फिर कैसी यह अरुचि अधर में,
ऐ 'नवीन' पीने वाले ?
फेर रहे हो क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ दिसम्बर १९३१

■

नरक-विधान

उधर बिलबिलाते थे कीड़े
नाबदान में किलबिल-किलबिल,
इधर सड़ी, गन्दी, कच्ची-सी
नाली का पानी था पंकिल।

उठते थे अबखरे भयंकर
सड़न और बदबू के वा पर,
और वहीं पर बने हुए थे
मानव नामक कीड़ों के घर।

क्या उन मलिन घरौंदों को भी
घर कह सकते हो तुम, यारो ?
घर कहने के पहले यदि तुम
साहस कर के वहाँ पधारो—

तो तुम देखोगे कि माँद-सी
तंग कोठरी है गीली-सी—
जिसकी दीवारें दिखती हैं
दरकी-सी, मैली, सीली - सी।

यह कैसा विधान ? रे मानव,
वह कैसी विडम्बना नय की ?
अरे पराजित, अब भी क्या है
बहुत दूर वह घडी प्रलय की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१४ सितम्बर १९३७, रात्रि २ बजे

■

एक बार तो देख

एक बार तो देख, अरे जग मेरी डण्डा-बेडी,
एक बार तो देख कट गयी है यह मेरी एडी,
टेढी मेढी यह मदमाती मेरी चाल निहार,
झन-खन-झन-झन करता है हम मस्तो का ससार,
गुर्राते झन्नाते फिरते है ये मेरे शेर
ओ जग, ज़रा देख तो है याँ कैसे विकट दिलेर !

यहाँ बेडियो की उठती है स्वर झकार-हिलोर,
बैरक और अडगडो मे, चक्कर मे, चारो ओर,
झन झन-खन खन की यह जीवन दशक माहक टेक-
बार बार उठ-उठ आती है यो ही एकाएक,
सुन ले, कान लगाकर सुन ले ओ जग इसको आज,
अरे, देख तो इन बन्धुआ का फैला यहा स्वराज !

जिन कोठरियो मे कुत्ते भी
नही चाहते छिन भर रहना—
उनमे श्रमिको के बच्चो को
पडता है दिन दिन भर रहना।

गन्दी बदबू मे पलते हैं
दुनिया के नागरिक सलौने,
चिथडो मे लिपटे, बढते हैं
मानवता के ये मदु छौने।

ये दुनिया मे आये, इनने
दुनिया मे क्या देखा-भाला ?
उजियाले मे भी तो देखा
इनने जीवन का अधियाला।

मानव की निदयता देखो,
शोषण सहा, यातना भोगी,
और बन गये बचपन से ही
सक्रामक रोगो के रोगी।

तिल्ली बढी, जिगर बढ आया,
ढाँचा हुआ सूख कर काटा,
रोटी के टुकडे के बदले
इन्हे मिला चाटे पर चाटा

नालदार बूटो के नीचे
रौंदा गया त्रस्त मानवपन,
धन, बल, पैदा करने वाला
स्वय रह गया, निर्बल निधन।

यह कैसा विधान ? रे मानव,
वह कैसी विडम्बना नय की ?
अरे पराजित, अब भी क्या है
बहुत दूर वह घडी प्रलय की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१४ सितम्बर १९३७, रात्रि २ बजे

■

एक बार तो देख

एक बार तो देख, अरे जग मेरी डण्डा-बेडी,
एक बार तो देख कट गयी है यह मेरी एडी,
टेढी मेढी यह मदमाती मेरी चाल निहार,
झन झन-झन-झन करता है हम मम्ता का ससार,
गुर्राते झन्नाते फिरते हैं य मेरे शेर
ओ जग, ज़रा देख तो है याँ कैसे विकट दिलेर !

यहाँ बेडियो की उठती है म्वर झकार हिलोर,
बेरक और अडगडो म, चक्कर मे, चारा ओर,
झन झन-खन खन की यह जीवन दशक माहक टेक—
बार बार उठ-उठ आती है या ही एकाएक,
सुन ले, कान लगाकर सुन ले ओ जग इसको आज,
अरे, देख तो इन बन्धुआ का फैला यहाँ स्वराज !

नहीं वेडियों की यह झन झन यह है जीवन-मन्त्र,
काँप रहा है सुन कर जिसको क्षण क्षण शासन-तन्त्र,
वे पशुबल के अधिनायक क्या जानें इसका तत्त्व !
निज सर्वस्व होम कर ही है मिलता मुक्त निजत्व।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद
३१ अक्टूबर १९३२

■

घूट हलाहल

पराभूत, पददलित, प्रताडित, भीषण अत्याचार विमर्दित,—
दण्डित, व्रण मण्डित, खण्डित तन, निरानन्द, पद-पद पर वर्जित,
मानव को मैं देख रहा हूँ आज सतत ठुकराये जाते,
देख रहा हूँ टूट रहे हैं मानव मन के सारे नाते !
देख रहा हूँ अनाचार का महा भयंकर ताण्डव नर्तन,
और सुन रहा हूँ मानव का यह विकराल पाशविक गर्जन !

दुर्दमनीय दानवी लीला, यह दुरन्त बर्बरता जागी,
आज सनी दौरात्म्य पंक में नर की नरता स्वयं अभागी,
आज सुना है मेरे साथी दण्डित, ताडित, त्रस्त हुए हैं,
मेरे संयत भाव हृदय के सहसा अस्त-व्यस्त हुए हैं
आज हृदय में उमड रहा है फिर से यह सोया क्रोधानल !
पर मुझको पीना ही होगा अब की फिर यह घूँट हलाहल।

केन्द्रीय कारागार, बरली
११ जून १९४३

■

अपना मृदु गोपाल

देखा वेडी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
अपना मदु गोपाल, सलौना वह मन मोहन लाल।

वह प्यारे मुख मण्डल वाला,
वह तेजस्वी, चपल निराला,
वह गोरा, वह कुछ-कुछ काला,
वह अपनी धुन का मतवाला,
जिसको देख उमड आती है, वत्सलता बेहाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।
देखा वेडी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल—
सलौना वह मन मोहन लाल।

वह इठलाता, मदु मुसकाता,
खनन-खनन करता मदमाता,
इधर-उधर से आता-जाता,
नुपूर के स्वन को शरमाता,
कुलिश बेडिया झनकाता वह चलता मादक चाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।
देखा वेडी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद
१ नवम्बर १९३२

■

कारा मे सातवी श्रावणी रक्षा पूर्णिमा

सोच क्या रहे हो खोये-खोये मे, नवीन, तुम ?
आज फिर आयी रात्री पूनम सुहावनी ।
मेदिनी लहर रही, नभ से हहर वही
हर - हर कर जलधाराएँ लुभावनी,
अरि - दुर्ग बीच तुम अब लौं बिता चुके हो,
एक - दो क्या, अरे, देखो, सात - सात श्रावणी ।
सोच क्या ? अवश्य ध्वस्त होगी, नष्ट - भ्रष्ट होगी
वैरियो की यह शस्त्र - अस्त्रवती छावनी

आज तो तुम्हारे भावी स्वप्न शील लोचनो मे
झाई - सी पडी है किसी गत रस - रग की,
तुम, जो भविष्य चिन्तनो म रहते हो लीन,
सुध कर बैठे हो क्या विगत प्रसग की ?
रण-वाद्य रत श्रवणो मे गूँजो है क्या
कोई लुप्त गूँज किसी मदिर मृदग की ?
ऐसा लगता है मानो तुम पे पडी है छीटे
नेह स्मृति सरिता की उच्छल तरग की ।

कोमल कराम्बुज थे, कोमल अँगुलियाँ थी,
जिन पर लहराता था एक रक्षा का ताग ।
होठो से सुमन्द - मन्द बिखर रहे थे फल,
उमड रहा था स्नेह-वत्सलता का पराग ।

चिर वरदायिनी, अखण्ड भाग्यशालिनी,
पधारी थी सनेह भरी, जागे थे तुम्हारे भाग !!
आज उठ आया है तुम्हारे हिये, ओ नवीन,
क्या वही वात्सल्य ? क्या वही अमन्द अनुराग ?

तुम तो हो वधिक पुराने ओ नवीन, सुनो,
तुम पे हैं ना जाने कितनी स्मृतियों के खून !
तुमने तो कितने ही अपने मनोरथ ये,
हठकर, बरबस ही डाले है भून - भून !!
जीवन के प्रात में औ' जीवन की सन्ध्या में,
रस कब मिला ? एक - सी हुई हैं दोनों जून
क्या करे ? पधारे आज शूल-हूल बनकर,
वे जो थे तुम्हारे अति कोमल स्मृति-प्रसून !

बढ़े चलो, अरे, मत पीछे मुड देखो आज,
राखी आयी, होली औ' दिवाली भी तो आयेंगी,
रस की लगेगी भीर, सस्मृतिया कसकेंगी,
आँखो मे अतीत की घटाएँ घोर छायगी,
पर, तुम रुकना न एक क्षण को भी, बन्धु,
मानवता देख तुम्हे क्षण-क्षण मिहायेगी,
आँखें पोछती - सी, हिय-कसक टटोलती-सी
जगती की करुणा तुम्हारे गुण गायेगी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
श्रावणी पूर्णिमा, १५ अगस्त १९४३

■

राखी की सुध

बिटिया, मेरी गुड़िया रानी, कहाँ तुम्हारा तार !
कहाँ तुम्हारी स्नेहमयी मंजुल वाणी सुकुमार ?
ओ तुम कच्चे धागे वाली, स्निग्ध दृगनो वाली,
ओ तुम कुंकुम - अक्षत वाली मधुरस्मिता विशाल,
यह श्रावणी - पूर्णिमा कारागृह मे आयी आज,
संग लिये शासन की साहसता का हरित समाज !

नभ मे, नेह-भरे दल - बादल, धरे विविध आकार,
दौड - दौड कर भू - मण्डल पर डाल रहे जलधार,
हहर-हहर करती लहराती बही वायु गम्भीर,
फुहियो के मिस टपक रही है रिम झिम नभ की पीर,
ऐसे समय ओढ गत - सस्मृतियो का विरल दुकूल,
बरबस, राखी - पूनम आयी कारा मे पथ भूल !

बहिना, यहा तुम्हारा भैया, निपट अरक्षित, मूक,
साधन हीन, छीन तन, बैठा किये हृदय दो - टूक,
आज, तुम्हारे कुकुम - रोचन की स्मृति मे ये प्राण,
ऐसे तडप रहे हैं, जैसे घायल हिरन अजान,
बनकर याद, लहरता है तव अगुलियो का तार,
बहन, आज आती है सुध राखी की बारम्बार !

उस दिन तुम आयी थी लेकर कुकुम, अक्षत, और–
अपने हाथो कते सूत की राखी की मृदु डोर,

थाल भरे मेवे सग मे थे लगे हुए ताम्बूल,
रानी ये सस्मरण बने याँ मेरे हिय के शूल,
यहाँ बनी हथकडिया राखी, साखी है ससार
यहाँ, कई बहनो के भैया बैठे है मन - मार !

हम सक्रान्ति - काल के प्राणी बदा नही सुख भोग,
हमे क्या पता क्या होता है स्निग्ध - सुखद सयोग ?
हम बिछोह के पले, खूब जाने है पूण वियोग
घर उजाड कर जेल बसाने का है हमको रोग—
फिर भी, हा, हा, फिर भी, दिल ही तो है यह अनजान
बरबस तडप-तडप उठा करता है यह नादान !

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैजाबाद
श्रावणी पूर्णिमा १९२२

■

आज क्रान्ति का शख बज रहा

आज ठिठककर खडा हो गया
विप्लव के पथ का यह राही,
टेक लकुटिया लगा देखने
पीछे को यह क्रान्ति सिपाही,
कितना बीहड, कितना भीषण,
दुगम पथ यह तै कर आया !
कहाँ कहाँ क अमित धलिकण
निज वसनो मे यह भर लाया

विगत काल की, वर्तमान की,
भावी की कुछ सोच रहा है,
चिन्तन रेखा रचित भाल से
अपने श्रम - कण पोछ रहा है।

चलित चित्र पट-सा आया है
सब अतीत नयनो के आगे,
वह गत,—जिससे जुड़े हुए हैं
सामाजिक जीवन के धागे

बिम्बित हुई समष्टि व्यष्टि म
औ' समष्टि मे व्यष्टि समायी,
मानो यो विप्लवकारी ने
अपनी सीमा आज गँवायी,
यो वैयक्तिकता मे झलकी
मानो निखिल राष्ट्र की छाया,
मानो दपण बन आयी है
विप्लवकारी की कृश काया।

सप्त लक्ष वे ग्राम देश के
वे सब कोट्यावधि नर नारी—
इस यात्री के दृग् मे मानो
चमक उठे है बारी-बारी,
ऐसे ग्राम, भरा है जिनमे
अति अगाध अज्ञान भयकर,
मँडराती है जहा भूख की
उत्कट ज्वालाएँ प्रलयकर,

जहाँ चू रहा पूति, घृणित अति
परिपाटी का, कोढ दिवस-निशि
जहाँ भरी दुर्गन्ध भयानक,
जहाँ महामारी है दिशि दिशि।

निज हतभाग्य राष्ट्र के वे सब
ग्राम समूह कुचैले, मैले,
जन-कृति के उपहास चिह्न ये,
वे मानव के सदन विषैले,
वे कुरूप अति, वे चिर साक्षी
शताब्दियों के अध पतन के,
ग्राम बन गये है प्रतीक ये
मानव के उपमानव - पन के,
शतयुग - चिता धूम्र दुगन्धित,
सन्तत भस्मक ग्रास, रास-रत,—
मानो फैल पडा है होकर
लक्ष-लक्ष ग्रामो मे परिणत।

राज-मार्ग है कहा वहा पर ?
वहा बनी केवल पगडण्डी,
जिस पर आठो याम नाचती
खप्पर लिये बुभुक्षा - चण्डी।
वह पतली पतली पगडण्डी,
जिस पर मानव नगा, भूखा,—
चलता रहता है निशि वासर,
ले अपना मुँह रूखा - रूखा।

बनी हुई हैं टेढी - मेढी
लीक बैलगाडियों की भी,
जिन पर झुक आयी हैं शाखें
झाडों और झाडियां की भी।

ग्राम नही है, ये सदियों की
आहें पुंजीभूत हुई हैं,
मानव की वेदना, व्यथाएँ,
बनकर ग्राम प्रसूत हुई हैं,
रुद्ध श्वास, धरती माता का
मानो उभर उठा है सब तन
मानो ये हैं चिह्न कि क्षण में
होगा भीषणतम भूकम्पन,
अपनी गहरी लम्बी सासें
कब तक रोकेगी भू माता ?
खोया हुआ रहेगा कब तक
यह मानव निज भाग्य विधाता ?

कितनी अगति, विगति यह कितनी,
कितनी जडता और विषमता !
है कितनी विडम्बना इनमें,
हाय, यहाँ कितनी अक्षमता।
इन पर छाये पीर, कब्र सब,
भूत, प्रेत, पीपल औ' पत्थर,
एक छींक से ही होते हैं,
ये मानव सभीत अति सत्वर,

अपने को कर लिया मनुज ने
निगड-अन्ध - विश्वास- बद्ध-पग,
तो फिर, गमनशील होकर भी
क्हो, क्यो न बन जाये यह अग

गतानुगति - फाँसी की, रस्सी
यहा गले मे पडी हुई है,
और अज्ञता मस्तिष्को को
यहा कुचलती खडी हुई है,
मानव क्या देखे अपने को ?
वह कैसे समझे अपने को ?
वह कैसे विच्छिन्न करे निज
दुर्दम मोह-तिमिर - सपने को ?
पन्थ सकुचित, दृष्टि सकुचित,
क्षितिज और आकाश सकुचित,
हृदय और मस्तिष्क सकुचित,
सकल विचार विकास सकुचित ।

यहाँ लुट चुकी है शतियो से
मानव की प्रकाश की थाती,
तम ही तम है यहाँ, बुझी है
जब से हृदय - दीप की बाती,
सभी अँधेरे म टटोलते
और भडभडाते फिरते हैं,
उठना कैसा वहाँ, जहा पर
मानवगण क्षण - क्षण गिरते है ?

जितना सघन अँधेरा है इन
ग्राम्य जन - गणो के अन्तर मे,
उतना तम तो नही मिलेगा
तारकहीन गहन अम्बर मे।

लगता है, मानव हृदयो के
दीप बुझे ना जाने कब से।
ना जाने अभिशाप वज्र कब
गिरा भूमि पर ऊँचे नभ से।

दिनचर मानव बना निशाचर,
लुप्त हुई है वह लौ जब से,
यह, इस भूमि-खण्ड का मानव,
बन आया है पशु सम तब से।

कैसी प्रगति ? ऊर्ध्वगति कैसी,
जब जन बैल बने घानी के ?
कहाँ पन्थ दर्शन ? मिच जायें
जब लोचन मानव प्राणी के।।

आज क्रान्तिकारी के दृग् मे
ऐसे ग्राम और ऐसे जन, —
झलक उठे है सग - सग ही,
चिन्तन - रग रँगे हैं लोचन।

यह धरती का पूत विप्लवी,
यह विद्रोही पथिक चिरन्तन,
यह भी है उन ग्रामो का सुत
जिनमे है इतना अन्धापन,

चमक सके है इसके दृग् मे
यदि ज्वलन्त जागृति ज्योतिष्कण,–
तो फिर यह विद्रोह-प्रचारक
क्यो निराश हो! क्यों हो उन्मन ?

उन ग्रामो मे, जिनमे जीवन
नित प्रति कीचड मे सडता है,–
वहा, जहा दिन रात मृत्यु का
काटा जीवन मे गडता है –
वहाँ, जहा अज्ञान तमिस्रा
इतनी शतियो से छायी है,–
जहाँ अन्धविश्वास - भावना
पोत रही तम की स्याही है, –
अरे, वहाँ के कुछ सपूत, जो
जूझ रहे हैं समरागण मे।
तब फिर, क्या चिन्ता! कैसा भय?
क्या आये शैथिल्य चरण मे।

जो निकले है घर से करने
अभिनव मानवता का सिरजन,–
जो निकले है घर से, गढने
मानव का नव सामाजिक-तन,–
उन्हे मिला है महत् कम का
यह सन्देश कठोर, भयकर!
क्रान्ति वरण करने वालो, है– '
अति प्रलयकर क्रान्ति स्वयवर!

कुशल विप्लवी शब्द-जाल मे
नही फँसेगी क्रान्ति कुमारी,
कुछ उच्छिष्ट मन्त्र जपने से
हो न सकेगी क्रान्ति तुम्हारी ॥

वीर क्रान्तिकारी मुसकाया
सुनकर महाकाश - वाणी यह,
और गरज उट्ठा कि सत्य ही
है दुरूह मानव प्राणी यह,
अपना, अपने इतिहासो का,
करके अति मन्थन सपरिश्रम,
निज दुरूहता सरल बनाने
का करता है सतत उपक्रम।
एक सूत्र मे अटकाता है
अपनी सकल ऐतिहासिक गति,
किन्तु, हारकर रह जाती है
उसकी प्रबल चमत्कारिक मति।

यह श्रेणी सघर्ष मात्र ही
मानव का इतिहास नही है,
यह पदार्थवादिता मात्र ही
जन का श्वासोच्छ्वास नही है,
निपट आधिभौतिक द्वन्द्वात्मक
विश्व नियम-शृखला नही है,
क्या जडता बन सकी निरन्तर
जीवन-कटि-मेखला कही है?

तीतर-फन्दों में न अँटेगी
यह बहुमुखी मानवी लीला,
इक खूँटी पर अटक सकेगा
कैसे जन इतिहास हठीला ?

जिन-जिन ने मानव को समझा
संवेदन की एक इकाई,
उन-उन की बलवती बुद्धि ने
यहाँ सदा ही ठोकर खायी,
जो समझे कि मनुज-लीलाएँ
अर्थवादिता की हैं माया,—
जो समझे कि मनुज की कृतियाँ
हैं बस कामुकता की छाया —
जो समझे कि मनुज है केवल
निपट आधिभौतिक सुखवादी,—
उनने सम्प्रदायवादों में
मानव की सुबुद्धि उलझा दी !

आज क्रान्ति का शंख बज रहा !
क्यों न संकुचितता जन त्यागें ?
क्यों न आज मत-मतान्तरों के
लघु विचार जन मन से भागें ?
इस मानव समाज का अभिनव
सृजन-भार ले आये जो जन,—
उनके नयनों में क्यों छाये
मतवादों का दुर्दम तम घन ?

क्रान्ति वरण करने वाले सब
क्यो न बढें मिल-जुलकर आगे ?
क्यो न आज मानव हृदयो मे
अनिगिता नूतन लौ जागे ?

हा, आवश्यक है विप्लव के
लिए तत्त्व-सिद्धान्त-समुच्चय,
पर, वह ऐसा क्यो हो जिसका
शताब्दियाँ न कर सकी निणय ?
जड चेतन की, आत्म-तत्त्व की,
ऊहापोह करे क्यो कोई ?
इनके चिन्तन म मानव ने
युग युग की दिन-राते खोयी !
जन-जागृति का भार पडा है
आज क्रान्तिकारी के सिर पर,
कठिन, दुरूह समस्याओ का
तब वह क्यो देखे फिर-फिरकर ?

आस्तिक जन भी तो होते है
अति प्रलयकर विप्लवकारी,
औ, जडवादी भी होते ह
अति विकराल क्रान्ति ध्वज धारी,
तब फिर, क्यो आपस का झगडा ?
क्यो आपस की खेंचातानी !
सामर्थ्यो का दुरुपयोग क्यो ?
तब क्यो यह इतनी मनमानी ?

आज कह रहा हूँ मैं, सुन लो,
अहो क्रान्तिकारी मेरे जन,–
मिट्टी मे मिल जाओगे तुम
यदि न किये परिवर्तित निज मन।

आज तुम्हारे ऊपर कितना
है महान् दायित्व, निहारो।
तुम्हे विनाश और सिरजन का
करना है यह काज, विचारो।
इन चालीस कोटि मुरदो म
प्राण फूंकने तुम आये हो,
नवल जागरण और सगठन
का सन्देश तुम्ही लाये हो,
अपनी एक कतार वना लो
दृढ निश्चयी, बढो तुम आगे,
ऐसे बढो कि तुम्हे देखकर
यह शताब्दियो का भय भागे।

क्या जीवन ? क्या मौत, बहादुर।
धूप छाह क्या ? क्या दिन-रातें।
क्या प्रकाश औ' अन्धकार यह ?
दुख सुख की अब क्या ये बातें।
तात्कालिक असफलता क्या है ?
है यह तो बस आनी-जानी।
लखो दूर पर, क्रान्ति सफल्ता
विहँस रही है चिर कल्याणी।

ये लाखो देहात तुम्हारे,
अरे करोडो थे तव जन-गण,
जोह रहे है पथ तुम्हारा,
और कर रहे हैं आवाहन।

शोषण की लपलपा रही है
यह जिह्वा शोणित की प्यासी,
रक्तलुब्ध किटकिटा रही हैं
उसकी डाढें सत्यानासी,
शोषण-मुख म तडप रहे हैं
अरे तुम्हारे कोटि-कोटि जन,
दो स देश! बने शत-शत जन,
उनका एक-एक शोणित -कण!
कहो आज जागो, हे जागो,
जागो हे सोये प्रलयकर,
जागो मेरे भूतनाथ जन,
जागो हे मेरे शिव शकर!!

जागो, एक कतार बना लो,
जीभ खीच लो इस शोषण की,
तोडो डाढे, करो इति श्री
तुम मिलकर निज उच्छोषण की,
करो सृजन अभिनव जगती का
नव नव सामाजिक सहृति का,
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का,

विजित करो निज वाह्य परिस्थिति
विजित करो अन्तस्तल अपना,
ऐसे जागो, मेरे मानव,
फिर न आ सके दुख का सपना !

जागो, ओ सब मेरे मानव,
जागो मेरे सोने वालो,
जागो, दु:स्वप्नो के भय से
तुम निज नयन भिगोने वालो,
जागो, ओ अपने अतीत का
उज्ज्वल गौरव खोने वालो,
जागो, निज आकाक्षाओ के
नित शत-शत शव ढोने वालो !
जागो, मेरे मानव, जिनके
हाथ - पाव हैं सूखे - सूखे,
जागो नर-ककाल करोडो,
जागो, मेरे नगे - भूखे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ मार्च १९४४

■

विद्रोही

हम ज्योति पुज दुर्दम, प्रचण्ड,
हम क्रान्ति-वज्र के घन प्रहार,
हम विप्लव-रण चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम गरज उठे कर घोर नाद,
हम कडक उठे, हम कडक उठे,
अम्बर मे छायी ध्वनि-ज्वाला,
हम भडक उठे, हम भडक उठे !
हम वज्रपाणि हम कुलिशहृदय,
हम दृढ निश्चय, हम अचल, अटल
हम महाकाल के व्याल रूप,
हम शेपनाग के अतुल गरल !
हम दुर्गा के भीपण नाहर,
हम सिंह गर्जना के प्रसार
हम जनक प्रलय रण चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हमने गति देकर चलित किया
इन गतिविहीन ब्रह्माण्डो को,
हमने ही तो है सृजित किया
रज के इन वर्त्तुल भाण्डो को,

हमने नव सृजन-प्रेरणा से
छिटकाये तारे अम्बर मे,
हम ही विनाश भर आये हैं
इस निखिल विश्व-आडम्बर मे,
हम स्रष्टा हैं, प्रलयकर हम,
हम सतत क्रान्ति की प्रखर धार—
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हमने अपने मन मे की 'हाँ !'
औ' प्रकृति नर्त्तकी नाच उठी !
हमने अपने मन मे की 'ना !'
औ' महा प्रलय की आच उठी !
जग डग-मग-डग-मग होता है
अपने इन भृकुटि विलासो से,
सिरजन, विनाश, होने लगते
इन दायी-बायी श्वासो से,
हम चिर विजयी, कर सका कौन
हठ ठान हमारा प्रतीकार ?
हम विप्लव-रण चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

अपने शोणित से ऊषा को
हम दे आये कुकुम - सुहाग,
आदर्शों के उद्दीपन से
हमने रवि को दी अमित आग,

माटी भी उन्नत - ग्रीव हुई
जब नव चेतनता उठी जाग,
जीवन - रँग फैला जब हमने
खेली प्राणो की रक्त फाग,
हो चला हमारे इगित पर
जग मे नव जीवन का प्रसार,
हम जनक प्रलय रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

हो गयी सृजित सगीत कला,
हमने जो छेडी नवल तान
उन्मुक्त हो गये भाव - विहग
जो भरी एक हमने उडान,
हमने समुद्र - मन्थन करके
भर दिये जगत् मे अतुल रत्न,
ससृति को चेरी कर लाये
अनवरत हमारे ये प्रयत्न।
सस्कृति उभरी, लालित्य जगा,
सुन पडी सभ्यता की पुकार,
जब विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
बढ चले माग पर दुर्निवार।

हम 'अग्ने। नय सुपथा राये ' का
अनल - मन्त्र वह जाग उठे,
हम मोह, लोभ, भय, त्रास, छोह
सब त्याग उठे, सब त्याग उठे,

हम आज देखते है जगती,
यह जगती, यह अपनी जगती,–
यह भूमि हमारी विनिर्मिता,
शोपिता, परायी - सी लगती।
रवि - निर्माताओ के भू पर,
बोलो, यह कैसा अन्धकार?
क्या निद्रित थे हम अति कोही,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

क्या अन्धकार? हाँ अन्धकार।
याँ अन्धकार!! वाँ अन्धकार!!
है आज सभी दिशि अन्धकार,
हैं सभी दिशा के बन्द द्वार,
ज्योतिष्पुजो के हम स्रष्टा,
हम अनल - मन्त्र के छन्द - कार,
इस दुदम तम को क्यो न दले?
हम सूयकार, हम चन्द्र - कार।
आओ, हम सब मिलकर नभ से
ले आये रवि - शशि को उतार!!!
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

चेतन ने जब विद्रोह किया,
तब जडता मे जीवन आया,
जीवन ने जब विद्रोह किया
तब चमक उठी कचन - काया,

माटी भी उन्नत - ग्रीव हुई
जब नव चेतनता उठी जाग,
जीवन - रँग फैला जब हमने
खेली प्राणो की रक्त फाग,
हो चला हमारे इंगित पर
जग मे नव जीवन का प्रसार,
हम जनक प्रलय रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

हो गयी सृजित संगीत कला,
हमने जो छेडी नवल तान
उन्मुक्त हो गये भाव - विहग
जो भरी एक हमने उडान,
हमने समुद्र - मन्थन करके
भर दिये जगत् मे अतुल रत्न,
समृति को चेरी कर लाये
अनवरत हमारे ये प्रयत्न।
संस्कृति उभरी, लालित्य जगा,
सुन पडी सभ्यता की पुकार,
जब विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
बढ चले मार्ग पर दुर्निवार।

हम 'अग्ने। नय सुपथा राये ' का
अनल - मन्त्र कह जाग उठे,
हम मोह, लोभ, भय, त्रास, दाह
सब त्याग उठे, मद त्याग उठे,

हम आज देखते है जगती,
यह जगती, यह अपनी जगती,–
यह भूमि हमारी विनिर्मिता,
शोपिता, परायी - सी लगती !

रवि - निर्माताओ के भू पर,
बोलो, यह कैसा अन्धकार ?
क्या निद्रित थे हम अति कोही,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

क्या अन्धकार ? हाँ अन्धकार !
याँ अन्धकार !! वाँ अन्धकार !!
है आज सभी दिशि अन्धकार,
है सभी दिशा के बन्द द्वार,

ज्योतिष्पुजो के हम स्रष्टा,
हम अनल - मन्त्र के छन्द - कार,
इस दुदम तम को क्या न दले ?
हम सूयकार, हम चन्द्र - कार !

आओ, हम सब मिलकर नभ से
ले आये रवि - शशि को उतार !!!
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

चेतन ने जब विद्रोह किया,
तब जडता मे जीवन आया,
जीवन ने जब विद्रोह किया
तब चमक उठी कचन - काया,

यह जो विकास, उत्क्रमण, प्रगति,
प्रकटी जीवन के हिय - तल में,--
वह है केवल विद्रोह छटा
जो खिल उठती है पल-पल में।
तब, बोलो, हम क्यों सहन करें
दुर्दान्त तिमिर का अनाचार?
हम विप्लव - रण - चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

हम खण्ड-खण्ड कर चुके गर्व
अतुलित मदमत्त करोड़ों का,
है इतिहासों को याद हमारा
भीम प्रहार हथौड़ों का।
आ चुके अभी तक कई - कई
घनघोर सूरमा बड़े - बड़े,
जा लखो, हमारे प्रांगण में
उनके हैं बस कुछ ढूह खड़े।
है इतिहासों को भी दूभर
उनके साम्राज्यों का विचार,
उनके आगे टिक सका कौन,
जो है विद्रोही दुर्निवार।

हमने संस्कृति का सृजन किया,
दुष्कृतियों को विध्वस्त किया,
कुविचारों के चढ़ते रवि को
इक ठोकर देकर अस्त किया।

हम काल - मेघ बन मँडराये,
हम अशनि - कुलिश बन-बन गरजे,
सुन - सुन घनघोर निनाद भीम
अत्याचारी जन - गण लरजे,
अब आज, निराशा - तिमिर देख,
लरजेंगे क्या हम क्रान्तिकार ?
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

सोचो तो कितना अहोभाग्य,—
आ पड़ा हमी पर क्रान्ति - भार !
इस अटल ऐतिहासिकता पर,
हम क्यो न आज होवें निसार ?
यह क्रान्ति-काल, सक्रांति - काल,
यह सन्धि - काल युग-घड़ियो का,
हाँ ! हमी करेंगे गठबन्धन,
युग - जजीरो की कड़ियो का !
हम क्यो उदास ? हो क्यो निराश ?
जब सम्मुख है पुरुषार्थ - सार ?
हम विप्लव रण चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम घर से निकले है गढने
नव चन्द्र, सूर्य, नव नव अम्बर,
नव वसुन्धरा, नव जन समाज
नव राज-काज, नव काल, प्रहर !

दिक्-काल नये, दिक्-पाल नये,
सब ग्वाल नये, सब बाल नये,
हम मिरजेंगे ब्रज भूमि नयी,
गोपिया नयी, गोपाल नये ॥

क्यो आज अलस भावना जगे,
जब आये हम हिय धैय धार ?
हम विप्लव - रण चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

मानव को नयी सुगति देने,
मानवता को उन्नत करने
हम आये हैं नर के हिय मे,
नारायणता की द्युति भरने,

यह अति पुनीत, यह गुणातीत,
शुम कम हमारे सम्मुख है,
तव नीच निराशा यह कैसो ?
कैसा सम्भ्रम ? अव क्या दुख है।

तिल - तिल करके यदि प्राण जायँ
तब भी क्यो हो हिय म विकार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

यह काल, लौह लेखनी लिये,
लिखता जाता है युग पुराण,
हम सब की कृति विष्कृतिया का
उसको रहता है खूब ध्यान,

इस ध्रुव इतिहास-सुलेखक को
कैसे धोका दें हम, भाई ?
इससे बचने का, अपने को
कैसे मौका दें, हम भाई ?
मौकेबाजी न चलेगी याँ,
यह खाला का घर नही, यार,
है महाकाल निर्दय लेखक,
यह है विद्रोही दुर्निवार।

यह काल, लेखनी डुबो रहा
अमरो को शुभ शोणित-मसि मे,
औ' उधर चढ रहा है पानी
उन निर्मम वधिको की असि मे।
क्यो सोच, कब कुण्ठित होगी
निर्दय, असि की यह प्रखर धार ?
बचने की क्यो हो आतुरता ?
क्या टूटे यह बलि की कतार ?
यदि हम डूबें इस मृत्यु-घाट,
तो पहुँचेगे उस अमर पार।
क्या भय ? क्या शोक विपाद हमे ?
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

हम रहे न भय के दास कभी
हम नही मरण के चरण-दास,
हमको क्यो विचलित करे आज
यह हेय प्राण अपहरण - प्रास ?

माना कि लग रहा है ऐसा,
मानो प्रकाश है बहुत दूर,
तो क्या इस दुश्चिन्ता ही से
होगा तम का गढ चूर-चूर ?

हम क्यो न करें विश्वास कि यह
टिक नही सकेगा तम अपार ?
हम महा प्राण, हम इक उठान
हम विद्रोही, हम दुर्निवार।

अपने ये सब बीहड जगल,
अपने ये सब ऊँचे पहाड,—
इक दिन निश्चय हिल डोलेंगे,
सिहो की-सी करके दहाड।

उस दिन हम विस्मित देखेंगे
यह निविड तिमिर होते विलीन,
उस दिन हम सस्मित देखेंगे
हम हैं अदीन, हम शक्ति-पीन॥

उस दिन दुःस्वप्नो की स्मृति सा
होगा वधिको का भीम भार
उस दिवस कहेगा जग हमसे,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार।

हम क्यो न करें विश्वास कि ये
नगे-भूखे भी तडपेंगे ?
घूएँ के छितरे बादल भी,
कडकेंगे, हाँ ये कडकेंगे।

हम विषपायी जनम के

जम कर होंगे ये भी सयुत,
ये भी बिजलियाँ गिरायेंगे,
अपने नीचे की धरती का
ये भी सन्ताप सिरायेंगे,
ये भी तो इक दिन समझेंगे
अपने भूले सब स्वाधिकार,
उस दिन ये सब कह उट्ठेंगे
हम विद्रोही, हम दुर्निवार!

हम कहते हैं भीषण स्वर से
मत सोच करो, मत सोच करो,
लख वर्तमान नैराश्य अगम,
अपने हिय को मत पोच करो,
तुम बहुदर्शी, तुम क्रान्ति-पथी,
तुम जागरूक, तुम गुडाकेश,
तुमको कर सका कभी विचलित
क्या गेह-मोह ? क्या शोक क्लेश ?
देखो है तुमने क्षणिक जीत,
अविचल सह जाओ क्षणिक हार!
तुम विप्लव - रण-चण्डिका-जनक,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार!!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१२ अप्रैल १९४३

■

सुनो, सुनो ओ सोने वालो !

मुनो, मुनो ओ गोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर –
जिनमे आज तरगित है यह
अपना अति विस्तृत अम्बर।
स्वय प्रलय - वीणा अपने ही
आप अनाहत गूँज उठी,
और तन गयी महाकाल की
लय - उद्भव - कारी भृकुटी,
आज वायु की प्रति तरंग मे
अमित स्वरो की भीर जुटी,
अब भी क्या न स्वर भरित होगे
सुप्त तुम्हारे श्रवण - कुहर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो
जागृति के ये भैरव स्वर।

वीणा बजी, स्वरावलि उभरी,
दशो दिशाएँ नाच उठी,
अम्बर से पृथिवी तक सहसा
विप्लव-स्वर की आच उठी,
सभी जातियाँ इस प्रकाश मे
अपनी भावी बाच उठी,
तुम कैसे हो जो कि आज भी
नही रहे हो रच सिहर ?
सुनो सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर।

खेत और खलिहान तुम्हारे,
ये पहाड, जगल, उपवन,—
ये नदियाँ, ये ताल सरोवर,
गाते है विप्लव - गायन !
उत्तर मे गा रहा हिमाचल,
दक्षिण मे वह सिन्धु गहन,
सभी गा रहे हैं लो आया
यह लोहित जागरण - प्रहर !
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

गगा गाती कल - कल ध्वनि मे
भावो के कल की बातें,
यमुना गाती है कल-कल कर
कि अब गयी कल को रातें,
साबरमती गरज कर बोली
अब कैसी निशि की घातें !
दिन आया, अपना दिन आया,
यो गाती है लहर - लहर,
सुनो - सुनो, ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

उत्तर से दक्खिन, पूरब से
पच्छिम तक तुम एक, अरे,
भेद-भाव से परे एक ही
रही तुम्हारी टेक, अरे,
एक देश है, एक प्राण तुम,
तुम हो नही अनेक, अरे !

खोलो निज लोचन, देखो यह
खिलो एकता ज्योति प्रखर,
सुनो, सुनो ओ सोने वाला,
जागृति के ये भैरव स्वर।

इस क्षण भी यदि तुम न उठ सके
तो इतिहास कहेगा क्या ?
सोचो तो, यह भाग्य तुम्हारा,
चिर उपहास सहेगा, क्या ?
यह अनुकूल पवन का झोका
फिर भी कभी बहेगा क्या ?
अपने हाथो क्यो खोदो हो
तुम अपनी ही आज कजर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के यह भैरव स्वर।

शतियो से नदिया इस भू की
गरज रही ह क्रोध - भरो।
शतियो से सागर की लहरें
गरज रही प्रतिशोध - भरी।
यह वृद्धा पृथिवी माता भी
गरज रही है, गोद - भरी।
बस, तुम ही भूले हो अपनी
विकट गजना प्रलयकर,
गरजो, सोने वालो, गाओ,
जागृति के ये भैरव स्वर।

हम निपपाया ननस क

छोडो निद्रा, लो अँगडाई,
आज शृखलाएँ तोडो,
आज मुक्ति की होड - दौड मे
आओ तुम भी तो दौडो,
समता के तारे की गति से
अपनी रथ - गति तुम जोडो,
तोडो इस शोषण की दाढें,
अब सम्मुख है विकट समर,
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर!

केन्द्रीय कारागार, बरेला
२९ जुलाई १९४३

■

जूठे पत्ते

क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे?
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखो मे खारे फव्वारे?
देखे है? फिर भी कहते हो कि तुम नही हो विप्लवकारी?
तब तो तुम हिजडे हो, या हो महा भयकर अत्याचारी!

अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यो न लगा दूँ आज आग इस दुनिया-भर को?
यह भी सोचा क्यो न टेटुआ घोटा जाय स्वय जगपति का?
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

जगपति कहाँ ? अरे, सदियो से वह तो हुआ राख की ढेरी,
वरना समता सस्थापन मे लग जाती क्या इतनी देरी ?
छोड आसरा अलख शक्ति का, रे नर, स्वय जगत्पति तू है,
तू यदि जूठे पत्ते चाटे, तो तुझ पर लानत है, थू है ।

कैसा बना रूप यह तेरा, घृणित, पतित, बीभत्स, भयकर ।
नही याद क्या तुझको, तू है चिर सुन्दर, नवीन प्रलयकर ?
भिक्षा पात्र फेक हाथो से, तेरे स्नायु बडे बलशाली,
अभी उठेगा प्रलय नीद से, तनिक बजा तू अपनी ताली ।

ओ भिखमगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिरदोहित,
तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का, जाग, अरे निद्रा-सम्मोहित,
प्राणो को तडपाने वाली हुकारो से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारो मे अपना ज्वलित फलीता धर दे ।

भूखा देख तुझे गर उमडे आसू नयनो मे जग जन के,—
तो तू कह दे नही चाहिए हमको रोनेवाले जनखे,
तेरी भूख, असस्कृति तेरी, यदि न उभाड सकें क्रोधानल,—
तो फिर, समझूँगा कि हो गयी सारी दुनिया कायर निबल ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३१ जुलाई १९३७, अधरात्रि

■

हम विषपायी जनम क

गहन तमिस्रा की परिखा

हाँ ! हाँ !! जग मे खुदी हुई है गहन तमिस्रा की परिखा,
फिर भी यह गभीर तम-गह्वर पार करेगी ज्योति-शिखा !

आज दानवी मद गरजा है गह्वर तिमिर आवृत होकर,
फूला नही समाता है वह इस तम मे निज को खोकर,
ध्वान्त-दुर्ग मे आज हो रहा आसुर भावो का गजन,
वहाँ हो रहा है क्षण-क्षण मे पैशाचिकता का सजन,
अन्त हो गया है मानो अब मानवता की सद्गति का,
दनुजो ने जग मे खोदी है गहन तमिस्रा की परिखा !

तैयारियाँ हो रही हैं ये चिर प्रकाश दफनाने को,
आज कोशिशे हैं जग-भर की दीपावली बुझाने को,
उन्मत्ता राक्षसी भावना मँडराती फुफकार रही,
चले जा रहे हैं बुझ - बुझकर, अयुत दीप उस पार कही !
सूना हुआ सिंहासन क्या निखिलेश विभा - पति का ?
खुदी हुई है जग मे कैसी घोर तमिस्रा की परिखा ?

आज निशाचर खूब मस्त हैं, बडे मगन हैं वे मन मे,
समझे हैं कि रहेगा तम नित नभ, जल, थल, वन, उपवन मे !
चिर प्रकाश के घन - प्रहार को भूल गये हैं ये तमचर,
इनने सोचा है कि रहेगा बस तम ही तम जम-जम कर !
ऐसा सोचें क्यो न ये कि जब दिशि दिशि है तम की परिखा ?
इन्हे क्या पता कि है चिरंतन मानव-मन की ज्योति-शिखा ?

मानव, अरे ज्योति - मरक्षक, ओ वैश्वानर के जेता,
ओ प्रकाश के दीप्त विधायक, ओ अरुणाकर, दृढ चेता,
जाग - जाग, तम मय दानवता आज तुझे ललकार रही,
लख, उसके नासा - रन्ध्रो से, घृणा - गरल की धार बही,
स्ववश कर सकेगी क्या तुझको यह अश्लील अनागरिका ?
दिखला दे इसको, कि चिरन्तन है मानव की दीप - शिखा।

ये दानवता के मदमाते सवनाश की सोच रहे,
सत्य, न्याय, करुणा, सहृदयता, सब का गला दबोच रहे,
मत हिय हार, अरे ओ मेरे मानव, तू ललकार इन्हे।
अपने मस्तक तेज - पुज से कर दे क्षण मे क्षार इन्हे,
गर्व खव कर दे इस तम का, आ, तू अपनी ज्योति दिखा,
हा। जग भी कह उठे कि सन्तत है मानव की दीप शिखा।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२२ अगस्त १९४४

■

ओ तुम अविचल वीर।

मेरे साथी, ओ तुम मेरे सह-सैनिक नित धीर,—
वाणो की वर्षा मे भी तुम अडिग, अचल, ओ वीर,—
ताल ठोककर किया निमन्त्रित रण मे तुमने काल।
कब विचलित कर सकी तुम्हे यह कारा की प्राचीर ?

आज करे क्यो तुमको विचलित, यह विचार सघप ?
सघर्षों मे ही काटे हैं तुमने जीवन-वर्ष,
हम विपथगा जनम के

उलटी-सीधी तो बहती ही है जीवन मे वायु,
इसकी क्यो हो चिन्ता, यदि है निश्चल तव आदश ?

जीवन चँदुवे मे है अगणित नव रगो का मेल,
उसमे रग-बिरगे बूटे, रग-बिरगी बेल,
क्यो चाहो कि बने इक-रग यह बहु-रग वितान ?
सदा रहेगा जीवन का तो रग-बिरगा खेल।

जीवन तो प्रपूण होता है बनकर नाना रूप,
'एकोऽह, बहुस्याम !!' यही है जीवन-मन्त्र अनूप।
द्वैत रूप धारण करता है जब चेतन अद्वैत,–
तब तो आयेगी ही सम्मुख कुछ छाया, कुछ धूप।

अपने, अन्य साथियो के, लख निज से भिन्न विचार,–
क्यो अकुलाते हो ? होते ही क्यो विह्वल तुम, यार ?
जीवन का समुद्र-मन्थन तो होगा ही दिन-रैन,
उससे कभी गरल निकलेगा, कभी अमी-रस धार !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२५ अप्रैल १९४४

■

कमला नेहरू की स्मृति मे

देवि, इतने ही दिनो का क्या यहा आवास था यह ?
कौन जल्दी थी ? अभी तो शेष कुछ मधुमास था यह।

तोडकर उस शृखला को जो पडी थी मृदुल पग मे ?
राजहसिनि, उड चली इतनी सुवह अज्ञेय मग मे ?
हो गये सम्पूण क्या तव काज सब इस अनित जग मे ?
चिर महा अभिनिष्क्रमण का कौन-सा उल्लास था वह ?

आत्म - आहुति के ज्वलित ये खेल तुमने खूब खेले,
ह त । शुचि आदश के हित कौन दुख तुमने न झेले ?
लो, तुम्हारे स्वप्न द्रष्टा प्राण प्रिय अब हैं अकेले,
सुमुखि, इतने ही दिनो का क्या तुम्हे अवकाश था यह ?

देवि, क्या उस पार गूँजी कान्ह की मुरली सलौनी ?
या कि क्रीडौत्सुक्य मिस खेली जगत् से दृग मिचौनी ?
आज अनहोनी हुई ऐसी, कभी जो थी न होनी,
और कुछ दिन तो रहोगी तुम, हमे विश्वास था यह ।

कौन थी तुम एक कोमल कल्पना सी, निठुर जग मे ?
कौन थी तुम सुमन-पँखुरी-सी, विषम इस नियम मन मे ?
कौन थी तुम भक्ति-सी, नित नेह के हिय चिर-विलग मे ?
कौन थी ? किस देश की थी ? तव विचित्र निवास था वह ।

निराशा-सिकता - कुपथ मे अरुम - रेखा सी सुअकित,—
वायु झम्पन मे धवल-से हिम शिखर-सी तुम अशकित,—
निपट अँधियारे गगन मे ज्योति-रेखा-सी अकम्पित,—
आज, प्राणायाम का क्या आखिरी नि श्वास था यह ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ माच १९३६

■

हम विषपायी जनम के

मन्द ज्योति

प्रिय, धीमी पड रही आज मेरे प्रदीप की बाती,
शायद लुट जाये यह मेरी मुसाफिरी की थाती !

पथ सुनसान, कँटीला, टेढा, पथरीला, अज्ञात,
मजिल लम्बी, भ्रमित पथिक, मग मे छायी चिर रात,

शिथिल गात, हो रहे अनेको विकट घात-प्रतिघात,
किससे कहे मुसाफिर अपने मन की आकुल बात ?

कुसमय मे लप झप करने लग गयी ज्योति अकुलाती,
प्रिय, धीमी पड रही आज मेरे प्रदीप की बाती !

तुम प्रकाशपति, तुम दिन-मणि-पति सतत-सनातन ज्योतिपते !
सशय - दाहद अनल प्रवाहक, हे जगपावक अग्निमते !
निज प्रचण्ड किरणागुलियो से उकसा दो मेरी बाती,
फिर से इसे बना दो प्रिय तुम अग्नि-अरुण धुन मदमाती ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरली
२६ जनवरी १९३३

■

यह है विप्लव का पथ, भाई

यह है विप्लव का पथ, भाई,
इस मारग मे तुम्हे मिलेगी कई नयी कलियाँ मुरझायी
यह है विप्लव का पथ भा।

हम विषपायी जनम क

इस मारग मे पडे हुए हैं सुख की आकाक्षाओ के शव,
इस मारग मे वैयक्तिक सब मनुहारें करती रोदन-रव,
इस मारग मे सहयात्री हैं शोणित-स्वेद-सिक्त सब अनुभव,
इस मारग मे फैल रही हैं चिर महाभिनिष्क्रमण - निकाई,
यह है विप्लव का पथ, भाई ।

नव यौवन के सरस मनोरथ, मधु निशि के मदमाते सपने,
निपट पराये-से हैं ये अब, जो थे जीवन-सगी अपने,
हम भी कुछ खो गये लगा जब विप्लव-रव से अन्तर कँपने,
आया वह क्षण, जब नवयुग की लगी क्रान्ति से स्नेह सगाई,
हम आये विप्लव पथ, भाई ।

झाझे बजी मृदगे गूँजी, घण्टे घनक उठे घन - घन - घन,
शख बजे, नक्कारे गरजे, अम्बर म भर गया तुमुल स्वन,
जब स्वयवरा क्रान्ति पधारी करते निज वरमाला अर्पण,—
उस क्षण इस युग के नयनो मे प्रलयकरी लालिमा छायी ।
यो फैला विप्लव रँग, भाई ।

जब इस युग का हुआ क्रान्ति के ज्वालामय पट से गठ-बन्धन
तब दिग्वधुएँ नाच उठी सब, हुआ धूलि कण-कण मे स्पन्दन,
नाचा महत् कम जन-रजन, शोषण-भजन, भीति निकन्दन,
चालित हुए हमारे पग भी, हमने भी लकुटिया उठायी,
हम आये विप्लव पथ, भाई ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ जून १९४३

■

मेरे अतीत की ज्योति लहर

जागो मेरे सोये सपनो, बन-ठन उठ आओ निखर - निखर,
लहरो मेरे अम्बर मे, ओ मेरे अतीत की ज्योति लहर।

ओ, मेरे उज्ज्वल विगत काल,
ओ मेरे बल - विक्रम - निधान,–
ओ, विश्व - विजन - हुंकार भरे
मेरे प्रचण्ड जग - मग विहान,–
ओ तुम, जो करते हो मेरा
आनन्त्य - प्रहर से गठ - बन्धन,–
जिसके कारण नित्यता अमर
करती है मेरा अभिवन्दन,
ओ मेरे वही व्यतीत, विगत,
भर दो तुम मेरा अन्तरतर,
लहराओ मेरे मानस मे
मेरे अतीत की ज्योति लहर।

है रमा हुआ जो विगत काल
इस भारत के रज-कण-कण मे,–
लहराता है जो नित मेरे
जन-गण के शोणित नतन मे,–
जिसकी महिमा के साखी है
मेरे पहाड, मेरे जगल,–
मेरी नदियाँ जिसकी गाथा
गाती रहती है कल कल-कल,

हो यहीं विगत ज्योतिर्मय क्षण,
क्या यों आज तिमिरमय निपट ?
जागो मेरे मोद मनाओ,
बोलो आओ तुम निखर निखर ।

ऐतिहासिक ये सब मेरे,
ये मेरे वैभव के प्रतीक,
दिखलाते हैं सारे जग को
मेरे अतीत की प्रगति-लीक,
वह लीक पड़ चुकी है जिस पर
अनगिनत युगों की धूल धमित,
वह लीक, देख करके जिसको
इतिहास हो रहा अमित भ्रमित,
देखो, वह अपनी ज्योति-लीक !
यों गरज रहे मेरे खँडहर,
वाले, लहराओ मानस में
अपने अतीत की ज्योति-लहर !

ये मेरे टूटे विजय स्तम्भ,
ये मेरे सब उजडे खँडहर,
ये खण्डित प्रस्तर-प्रतिमाएँ,
ये शिलालेख, ये स्तूप अमर,
ये गुहा अजन्ता के वासी,
अब तक है जिनकी कान्ति अजर,
ये सब गरजे हैं क्रोध भरे,
अम्बर भी कम्पित है थर थर,

हम विषपायी जनम के

ये बोले, ओ मानव चेतो,
अब क्या चिन्ता ? अब कैसा डर ?
लहराओ अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति लहर !

तुम कौन ? अरे क्या भूल गये ?
भूले क्या तुम अपना स्वरूप ?
तुम मध्य - एशिया से जाकर
पूछो निज गत गौरव अनूप !
तुम काराकोरम से पूछो,
क्या उसे याद हैं वे ध्रुव - पग ?
जिनने उसके उन्नत शिर पर
आंका मानव संस्कृति का मग ?
तुम जाग उठो, ओ अमृत पुत्र
निज हिय मे नव उमग भर-भर,
लहराओ अपने मानस मे
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

तुम अपने सुविगत की गाथा
पूछो बाली से, लका से,
तुम हिन्द महाणव से पूछो,
हो क्यो आक्रान्त कुशका से ?
प्राचीन चीन से तुम पूछो
अपने गत गौरव की गरिमा,
ह्यूए-थसग औ' फाहियान
गा गये तुम्हारी वह महिमा !

अपने इतिहास पुरातन का
तुम स्मरण करो यह स्वण प्रहर,
लहराओ अपने अम्बर मे
अपने अतीत की ज्योति - लहर।

ओ भारत के जन, तुम भूले
क्या वे उज्ज्वल मगलमय क्षण ?
जब प्रथम यज्ञ की ज्वाला से
जगमगा उठे थे रज - कण - कण।
थे तुम्हीं कि जिनने पूछा था
'कस्मै देवाय ?' चकित होकर।
थे तुम्ही कि जिनने गाये थे,
'सोऽहं' के स्वर निज को खोकर।
बोलो तो, है किसका अतीत
इतना उज्ज्वल, इतना हिय - हर ?
लहरी थी तव अम्बर मे ही
चिर चिन्मयता की ज्योति - लहर।

वेदो के महामन्त्र द्रष्टा
गुजित है जिनका अमर नाद,
वे गूढ तत्त्वदर्शी योगी,
सिद्धेश कपिल, गौतम, कणाद,
वे महावीर, वे शुद्ध बुद्ध,
मानवता के वे सब त्राता,
उनकी सब की प्यारी जननी
है यही वृद्ध भारत माता।

हम विषपायी जनम के

है यही तुम्हारी माँ, यह लख
क्या तुम उठते हो नहीं सिहर ?
लहराओ अपने अम्बर मे
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

वे व्यासदेव, वे वाल्मीकि,
वे भारवि, वे भवभूति करुण,
धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह,
वे कालिदास नित तरुण अरुण,
वेताल भट्ट, वे घटकर्पर,
ज्योतिष आचार्य वराह मिहिर,
वे नागार्जुन, भास्कराचार्य,
जिनने मेटा अज्ञान-तिमिर,
वे मध्व, और वे रामानुज,
वे वल्लभ, वे दिग्गज शंकर,
अब भी जग के नीलाम्बर मे
लहराती जिनकी ज्योति - लहर !

मानव ने इस भू पर खोले
सबसे पहले निज हिय - लोचन,
औ' इसी नभ तले तो उसने
सन्देश दिया भव - भय - मोचन,
सबसे पहले इस भू पर ही
चमकी किरणें ज्ञानोदय की,
ये भवति - न भवति - व्यथाएँ सब
मिट गयी मनुज के संशय की,

बोलो, कब मेघाच्छन्न हुआ
अति प्रखर तुम्हारा वह दिनकर?
लहराती है जग मे उसको
सच्चिदानन्द मय ज्योति - लहर।

हो तुम्ही आदि भैरव गायक,
हो तुम्ही भैरवी की उठान,
गूँजे थे तव अम्बर मे ही
उन प्रथम द्विजो के अरुण गान,
तव नभ मे ही तो डोला था
वह सब प्रथम जागरण - पवन,
हा, तुम्ही कर चुके हो सबसे
पहले वह अनहृद - नाद श्रवण,
अब भी तव नभ मे होती है
जागृति के पखो की फर - फर।
लहराती है तव अम्बर मे,
अब भी अतीत की ज्योति - लहर,

पाकर तव प्रथमासव - प्रसाद
है विश्व आज भी मतवाला,
आनन्द जगत् म जो है, वह
है वह मधु, जो तुमने ढाला।
मत भूलो कि तुम प्रणेता हो
जग मे ऐसे आदर्शो के,
जिनको न क्षुण्ण कर पाये हैं
आघात अयुत सघर्षो के।

आकाश तुम्हारा यह विशाल
शतियों कांपा है हहर-हहर,
पर, रही अकम्पित सदा काल
तव प्रखर ज्ञान की ज्योति-लहर।

तुमने देखे कितने उद्भव,
कितने लय, कितने ही विप्लव
इतिहास-प्रभंजन तुमको कब
कर सके विडोलित औ' विक्लव।
तुम तूफानों से खेले हो,
तुम महाक्रान्तियों के स्रष्टा।
तव भ्रू विलास में नाश-सृजन,
आदर्श अलख के तुम द्रष्टा।
विस्तृत भू-मण्डल भर में तव
सांस्कृतिक ध्वजा है रही फहर।
है लहर रही नभ-मण्डल में
तव शुभ अतीत की ज्योति-लहर।

शतियों ने ली अँगड़ाई तो
तुम बोले एक निमेष हुआ,
जब युग बदले तो तुम बोले
लो इक घटिका का शेष हुआ।
मन्वन्तर की गणना से भी
कब शेष हुआ तव दिवस मान?
कब थके तुम्हारे पग अहो?
कब टूटा तव कल्पना-यान?

तुम आदि रहित, तुम अन्त हीन
तुम चिर अकाल, तुम प्रलयकर,
तव अम्बर मे है लहर रही
सन्तत अतीत की ज्योति लहर।

पाहुन बन तव गृह आये है
ये महाकाल, ये महाकाश,
इन विकट अतिथियो को तुमने
कब किया निराश्रित औ' निराश ?
आकाश तुम्हारा गोपद है,
है काल तुम्हारा एक चरण।
युग-युग के ये परिवर्त्तन तो
हैं केवल तव नि श्वास-सरण ॥
नैराश्य कहाँ ? औदास्य कहा ?
है यहा कहा वह तिमिर गहर ?
है लहर रही तव अम्बर मे
सन्तत अतीत की ज्योति-लहर।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ दिसम्बर १९४३

■

ओ तुम मेरे प्यारे जवान।

ओ तुम मेरे प्यारे जवान
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान।

हम त्रिपपाया जनम क

आशाओ के तुम हो प्रकेत,
सघर्षों के तुम चिर - निकेत,
तुम महानाश के अग्रदूत,
नित निर्माणो के तुम निधान,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम महाविकट सहार रूप,
तुम सृजन कुशल नव-नव अनूप,
तुम सदा असुन्दर के वैरी,
चिर सुन्दर के तुम यशोगान,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम रुद्र - रूप, तुम प्रलयकर,
तुम मदन - दहनकारी शकर,
तुम दृढ-प्रतिज्ञ, तुम अडिग धीर,
तुम चिर अधिज्य धन्वा महान्,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम काल - प्रभजन परम प्रबल,
तुम जीवन - मलयानिल निर्मल,
तुम पुण्य कर्म-रति अति निरलस,
मधु स्वप्नो के तुम सुरस खान,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

आदर्श - पुज तुम अति प्रचण्ड,
तुम मूर्तिमन्त दृढ न्याय-दण्ड,
तुम साम्य सन्तुलन-भाव अडिग,
तुम नवल कल्पना की उडान,
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम क्रुद्ध गभीर विरोध - नाद,
तुमको भोपण लोकापवाद—
कब चलित कर सका, बोलो तो ?
तब पग मे आयी कब थकान ?
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान ।

सर्वापण की उमग हिय भर,
तुम सिर ले चले हथेली पर,
दुन्दुभी स्वग की गूँज उठी,
नभ मे छायी बलिदान - तान,
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान ।

तव बलिदानो की देख लडी,
शिवि की गाथा भी मन्द पडी,
तव प्राणदान के निकट पडा—
फीका दधीचि का अस्थि दान,
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान ।

लखकर तव कमठता अथकित,
है कमयोग भी स्वय चकित,
लख तुम्हे अलिप्त, अनग-भाव—
है स्वय प्रणत तव सन्निधान,
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान ।

सकुचित स्वाथ की, यश, धन की
लौकिकता की, या जीवन की,—
यह चाह कभी व्यापी न तुम्हे,
तुम सदा अनिगित, सावधान,
तुम मेरे गौरव मूर्तिमान ।

हम विषपायी जनम के

जब मेरे नभ मे जाये घन,
अवरुद्ध हुई जब ज्योति-किरण,
तब बनकर विकट प्रभजन तुम
चमकाने आये भासमान,
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान!

अपनी धुन मे वन वन डोले,
रण मे जूझे तुम बिन बोले,
तव बलि-वेदी की ज्वाला से,
हो गया विनिर्मित नव-विहान,
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ फरवरी १९४५

अरे तुम हो काल के भी काल

कौन कहता है कि तुमको खा सकेगा काल?
अरे? तुम हो काल के भी काल अति विकराल?
काल का तव धनुष, दिक् की है धनुष की डोर,
धनु-विकम्पन मे सिहरती सृजन नाश-हिलोर!
तुम प्रबल दिक्-काल-धनु-धारी सुधन्वा वीर,
तुम चलाते हो सदा चिर चेतना के तीर!

क्या बिगाड़ेगा तुम्हारा, यह क्षणिक आतंक ?
क्या समझते हो कि होगे नष्ट तुम अकलंक ?
यह निपट आतंक भी है भीति-ओत - प्रोत !
और तुम ? तुम हो चिरन्तन अभयता के स्रोत !!
एक क्षण को भी न सोचो कि तुम होगे नष्ट,
तुम अनश्वर हो ! तुम्हारा भाग्य है सुस्पष्ट !

चिर विजय दासी तुम्हारी, तुम जयी उद्बुद्ध,
क्यों बनो हतआश तुम, लख मार्ग निज अवरुद्ध ?
फूँक से तुमने उड़ायी भूधरों की पाँत,
और तुमने खींच फेंके काल के भी दाँत,
क्या करेगा यह बिचारा तनिक-सा अवरोध ?
जानता है जग तुम्हारा है भयंकर क्रोध !

जब करोगे क्रोध तुम, तब आयेगा भूडोल,
काँप उट्ठेंगे सभी भूगोल और खगोल,
नाश की लपटें उठेंगी गगन - मण्डल बीच,
भस्म होंगी ये असामाजिक प्रथाएँ नीच !
औ' पधारेगा सृजन कर अग्नि से सुस्नान,
मत बनो गत आश ! तुम हो चिर अनन्त, महान् !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ फरवरी १९४४

■

ये आये ! ये आये !!

ये आये, ये आये, भम्मक ये आये, ये आये !
लाज गरजते, घघर करते ये नभ मे मँडराये,
भस्मक ये आये, ये आये !!

अरे, कौन कहता है इनको वायुयान नभचारी ?
किसने कहा हुई है मानव-क्रीडा गगन-विहारी ?
हरण-मरण के पख लगाये भीषण मृत्यु पधारी !
आज, जगत् मे त्राहि-त्राहि के करुण, भीत स्वर छाये !!
भस्मक ये आये, ये आये !!

पवन-यान हैं अन्तरिक्ष मे, हैं शतघ्निया नीचे,
नर क्या करे ? श्रवण निज मूँदे ? या निज लोचन मीचे ?
इस प्रज्वलित जनोद्यम-रथ को कैसे कोई खीचे ?
सर्वनाश ने आज चतुर्दिक् अगारे वरसाये,
भस्मक ये आये, ये आये !!

क्या मानव की प्रगति-कथा की इति का अब यह अथ है ?
क्या उसके लीलान्त-काल का यह उपहास अकथ है ?
लगता हिय हारा-सा मानव, उसका तन सश्लथ है !
उसने अपने हाथो अपनी इति के साज सजाये !
भम्मक ये आये, ये आये !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई १९४३

ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्या हमें अधिकार ? ऐसा क्या हमें अधिकार ?
कि हम दरसाते रहें निज अचिर हृदय-विकार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्यों जगत् को हम सुनावें विकृत अपनी तान ?
क्यों सदा गाते रहें हम दुख दरद के गान ?
क्यों न जागे आज हममें मानवी अभिमान ?
हम करें चित्रित दिवस निशि क्यों हृदय-अविचार ?
ऐसा क्यों हमें अधिकार ?

आज मानवता हुई है विकट विपदा-ग्रस्त,
आज मानव हो रहा है भीति से सन्त्रस्त,
आज संस्कृति सूर्य, देखो, हो रहा है अस्त,
क्यों करें ऐसे समय हम दैन्य का विस्तार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

आज, आओ, हम करें भय-हरण रण-हुंकार,
गूँज उट्ठे आज चहुँ दिशि जागरण-हुंकार,
जग सुने अब सुप्त काली नाग की फुंकार,
आज जग देखे कि हम हैं शक्ति के आगार,
हम हैं चिर विजय-आधार ।

केन्द्रीय कारागार बरेली
१८ जून १९४३

क्या परवश, डग-मग पग मानव ?

यह परवश, डग-मग-पग मानव,
लादे चला जा रहा सिर पर, अपनी गत सस्मृतियों के शव,
यह परवश, डग-मग-पग मानव।

स्मृतियों का यह बोझ अपरिमित, यह जजर तन, यह दुबल मन,
उस पर, यह पथ-चलन निरन्तर,
फिर यह काल गणन-श्रम क्षण क्षण,
मार्ग-चलन यह, काल कलन यह, ये चिर देश काल के बन्धन,
ऐसे नियति-वृत्त मे विजडित, मन है भ्रमित, वचन हैं नीरव,
है परवश, डग मग-पग मानव।

कहाँ-कहाँ की सुध बुध आकर तन, मन, प्राण शिथिल कर जाती,
तममय, विस्मृत काल-कक्ष मे वह चुपके दीपक धर जाती,
भर जाती है जीवन-घर मे आत्म समय मदिरा मदमाती,
यो जीवन मे हो जाता है कम निरति का पूण पराभव,
यह परवश, डग-मग-पग मानव।

मिला कर्म का बोझ मनुज को, फिर, स्मरणो का बोझ मिला यह,
दो-दो भार कहाँ तक ढोवे यह दुबल तन मानव अहरह ?
स्मरण इधर, है उधर कर्म-रण, दोनो आज हुए है दुर्वह,
अरी नियति, तू ने मानव के हिय म क्यो सुलगाया यह दव ?
है परवश, डग-मग-पग मानव।

जो ग्रीवा, अग्रिम-दशन हित, अग्रिम-अभिमुख थी बेचारी,
वह मुड गयी आज पीछे को बरबस, परवश-सी, हिय-हारी।

हाँ, यह मानव ही दोषी है, यह उसकी ही है लाचारी,
अरे, अन्यथा क्यों बन जाता उसका यह लघु जीवन रौरव ?
है परवश, डग-मग पग मानव !

आकुल दृग् मीलित हैं, फिर भी वे गत पन्थ निहार रहे हैं,
आज घटित घटनाओं पर वे अपना सब कुछ वार रहे हैं,
गत का यह अभिषेक हो रहा, दृग् उष्णोदक ढार रहे हैं,
भावी के विचार सोये हैं, जगा आज विगत का वैभव,
है स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

आज याद आयी मानव को अपनी सुन्दर बिटिया रानी,
वह हिय की लघु कणिका जिसकी प्यारी है हर-हर नादानी,
मानव देख रहा — लेटी है वह विवर्ण, रुग्णा, कल्याणी !
ऐसे क्षण, बोलो, वह कैसे सुने क्रान्ति का गर्जन भैरव ?
यह स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

मानव देख रहा है अपने प्राणों की पुतली के लोचन,
मानव देख रहा है अपनी कमलाक्षी का वारि - विमोचन !
और, हो रहा है मानव के हिय का स्फुरण और संकोचन,
ऐसे क्षण, वह कैसे सोचे क्या कर्तव्य, कर्म ? क्या विप्लव ?
है स्मृति वश, डग मग-पग मानव !

पर, मानव ने लखी विवशता, उसने देखे बन्धन अपने,
और लगा वह दाल पीसने, उसके लगे होंठ भी कँपने,
मानव की आशा के आगे लहराये भावी के सपने !
और, किटकिटाकर वह दौड़ा करने नाश, सृजन नित नव-नव !!
धीर चरण, रण-रत, यह मानव !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जून १९४३

मेरे साथी अज्ञात नाम

मेरे साथी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

तुम एक ध्यान, तुम एक ज्ञान,
तुम एक आन, तुम एक बान,
तुम इक उफान, तुम इक उडान,
तुम गति-निधान, तुम चिर प्रगाण,
तुम इस निरन्त यात्रा-पथ के
कटिवद्ध चिरन्तन सहयात्री,
तुम रथ-विहीन, तुम नि सम्बल,
तुम नि साधन, तुम करपात्री,
तुम दीप्त दृष्टि, तुम नव विसृष्टि,
जग का करने भय-भार-हरण,–
आये थे तुम नव रँग-राते,
मुद-मद-माते, चिर नग्न चरण
अपने को करने स्वय हवन
आये थे तुम अज्ञात नाम,
तुम नाचे यज्ञ-हुताशन मे,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

मिट गया तुम्हारा मूर्त्त रूप,
कुछ भी न रहे तव चिह्न शेप,
तुम तो इतने निस्पृह निकले,
छोडा न रच भी नाम-लेश,
अपना सब कुछ तुम होम चले,
यश, कीर्त्ति, नाम सब, हुए लुप्त,

पर, चमके तुम जग-नयनों में
जागृति-द्युति-कण बन अरे गुप्त !
देखो, कृतज्ञ इतिहास आज
लाया है ये संस्मरण-फूल,
कर रहा समुद वह संशोधित
अपने विवरण की क्षणिक भूल।
मानवता का यह प्रगति-चक्र
तुम बिन कब घूमा एक याम ?
मेरे साथी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

थे तुम्हीं न, जिनने सर्व प्रथम
विद्रोहों का सन्देश सुना ?
थे तुम्हीं न, जिनने जीवन में
कण्टकित मार्ग का क्लेश चुना ?
थे तुम्हीं बढ़े लेने उत्सुक
इस महा निष्क्रमण का प्रसाद,
तुमको न चलित कर सका कभी
विद्वानों का व्यवहार-वाद,
पथ की कण्टक-कीणता अमित,
बोलो, तुमको कब डरा सकी ?
मग की बीहड़-सी अनन्तता
बोलो, तुमको कब हरा सकी ?
थरथर, उकताकर, कातर हो,
तुम कब चिल्लाये, 'अरे राम !'
तुम तो बढ़ते ही गये, वीर,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

पगडण्डी को तुम बना गये
पाहन की गहरी अमिट रेख,
कितनो ही ने चलना सीखा
तुमको यो चलते देख - देख।
तुमने खोजी विश्रान्ति कहा?
तुमको तो बस धुन रही एक,
तुम कभी थके यदि, तो, पथ पर
रह गये लकुटिया रच टेक।
देखो न दुपहरी औ' निशीथ,
तुमने कब देखी धूप - छाव?
अवकाश मिला कब तुम्हे कि तुम
लखते छाले, जो पडे पाव?
दिन - रात चले, हर घडी चले,
तुम सुबह चले औ' चले शाम,
चलते ही चलते लुढक पडे
पथ पर तुम, ओ अज्ञात नाम।

यह पथ अनन्त, यह पथ दुर्गम,
जिसका न कही है ओर - छोर,
यह पथ, विकराल काल - अर्णव
घहराता जिसकी उभय ओर!
यह पथ, जिस पर मँडराती हैं
घनघोर मरण - घडिया अथोर!
यह पथ, जिसके उस छोर कही
है लक्ष्य मनोहर, चित्त चोर,
ऐसे इस पथ के कण - कण म
सीचा तुमने निज रक्त, स्वेद।

तुम बढ़े, मिटाने मानव के
मन का युग - युग का भेद - खेद,
तात्कालिक फल की आशा से
कब चलित हुए तुम पूण काम ?
थे नि स्पृह कर्म उपासक तुम,
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० मई १९४३

■

नरक के कीडे

कुछ लोग नरक के कीडे है, वे कायर हैं, दुर्बल मन है,
जो नारी पर विप वमन करें, ऐसे भी इस जग मे जन है।

जो नारी को चचल कहकर हर घडी कोमते रहते हैं,–
जो नारी की कामुकता की गाथा ही अह निशि कहते हैं,–
वे हैं पाखण्डी कामुक, जिनको स्त्री ने ठुकराया है,
जिनके पापो से नारी ने अपने को कभी बचाया है।
वे ही अव बनकर कलाकार करते नारी पर फन-फन हैं,
वे लोग नरक के कीडे है, वे कायर है, दुबल मन है।

जो नारी मे कामुकता ही देखें वे भी क्या मानव है ?
वे तो है बस चाण्डाल अधम, वे तो बस पूरे दानव हैं।
उनको नारी ने दी ठोकर,इससे चिढ है उनके मन मे,
औ चले लगाने कालिख वे नारी के चरित सुहावन मे।

ये पण्ढ समझते हैं कि हमी कर रहे कला का प्रणयन हैं,
जो नारी पर विष-वमन करे, धिक् है ! ऐसे भी जग-जन हैं !

ये पामर भूल गये हैं क्या, ये भी नारी के जाये हैं ?
अपने शरीर-मन-प्राण सभी इनने नारी से पाये हैं !
नारी के बिन तो थे ये सब कुछ मूत्र कीट का गुच्छ, अहो !
नर बन निकले, तो नारी पर करते प्रहार ये तुच्छ, अहो !!
ये हैं कृतघ्न, ये हैं कायर, ये निरे बुद्धि के वामन है,
ये लोग नरक के कीडे है, दुर्बल मन है, दुर्बल तन हैं !

नारी ने ठुकराया, तो अब, ये गढते एक कहानी हैं,
जिसमे निज को ये दिखलाते सयमी और विज्ञानी ह !
जो कभी भाग्य मे नही बदा, उसको ही ये दिखलाते हैं,
ये घोघे, निज कल्पित तप से नारी का हिय पिघलाते हैं !
फिर उसको गाली देते हैं, यो समझाते अपना मन हैं,
ये लोग नरक के कीडे हैं, ये कायर है, दुर्बल तन हैं !

असफल, कलुषित वासना भ्रष्ट,बन गयी ग्रन्थि इनके मन की,
ये लगे कोसने नारी को, सुध भूले ये माँ के स्तन की !
प्रत्यक्ष रूप म नारी को कर सके न कभी पराजित ये,
तो कलम कुल्हाडे से उसको करते है खण्ड-खण्ड नित ये ?
निज माताओ का यो ही क्या ये पामर करते तर्पण हैं ?
ये पण्ढ, नरक के कीडे हैं, ये कायर हैं दुर्बल मन हैं !

ऐ बौनो, नारी को देखो, वह पत्नी है, वह माता है।
वह हिय की कणिका बेटी है, वह जग की भाग्य विधाता है॥
वह महाशक्ति का मूर्त रूप, वह परम भक्ति कल्याणमयी,
वह सृजन-ब्राह्म क्षण की पावन सुन्दर ऊषा मुसकानमयी,
ओ मार्ग भ्रष्ट तुम कलाकार, क्या बन्द तुम्हारे लोचन हैं?
क्यों हृदय तुम्हारे कलुषित है? क्यों दूषित तव अभिव्यंजन हैं?

कहते हो नारी चंचल है? पर तुम क्या हो? कुछ बोलो तो?
अपने ही पल्डे पर, आओ, अपने मन को कुछ तौलो तो?
यों ललित कलाश्रय लेकर तुम, क्यों फैलाते अविचार, अरे?
इस पावन देव धुनी में तुम क्यों छोड़ो गन्दी धार, अरे?
हैं नहीं, अरे, यह ललित कला, यह तो मल मूत्र विवेचन है
यह खूब समझ लो तुम-जैसे मानवता के वैरी जन हैं॥

मानवता को मत दो धोखा अपने को तुम मत धोखा दो।
तुम अपने मौन-पराजय को यों भुलने का मत मौका दो।
नारी है चिर प्रेरणामयी, नारी है पावन स्नेह रूप,
इस पूर्ण पुरातन मिरजन में नारी ही है नित नव, अनूप।
जिन ने जग को रस-दान दिया, वे नारी के लोचन-कण हैं
जो कायर नारी को कोसें वे पामर हैं, दुर्बल मन हैं।

केन्द्रीय कारागार बरेली
१७ दिसम्बर १९४३

चिन्ता ?

अपनी और परायो की सब चिन्ताओ का भाग लिये,
चला जा रहा है यह मानव मन मे एक बुखार लिये,
आज, तीसरे पहर, उठी है चौथे की अतुलित चिन्ता,
आये हैं असफलित मनोरथ जीवन - भर की हार लिये ।

माया मिली न जन - वैभव की, मिले न राम लोक-सुख के,
आ पहुँचा अपराह्ण काल यह, फटे न दल बादल दुख के,
अर्घ्य दे रहा है अस्तगत रवि को यह मानव प्राणी,
आज मुडे हैं पश्चिम दिशि को दृग् इस प्राची-अभिमुख के ।

देख रहा है मानव अपना जीवन-क्रम नि सार निरा,
देख रहा है वह अपना नभ अन्धकार से घिरा घिरा,
देख रहा है निज कर्मो का, वह, मुरझाया - सा पौधा,
अनुभव करता है वह, जैसे, उसका मन है गिरा गिरा ।

हुआ तीसरा पहर, और अब सन्ध्या भी आने को है,
खेत और खलिहानो की यह ढली धूप जाने को है,
कही घोसला नही बनाया, सोच रहा है यो पछी,—
पच्छिम के सागर मे सूरज जब कि डूब जाने का है ।

साझ-बसेरा कहा करोगे ? पूछ रहा है यो सशय,
नैशयाम कैसे काटोगे ? पूछ रहा यो हिय का भय,
दाने की क्या आशा है ? या पूछा दूरदर्शिता ने,
और, कहा पाओगे पानी ? बोला यो स्वभाग्य निदय ।

इन प्रश्नो को सुनकर, मानव एक निमिष को खिन्न हुआ,
किन्तु दूसरे ही क्षण उसका सब भय सशय छिन्न हुआ,

सैनिक, बोल !

सैनिक, बोल, रगो मे तेरी,
शोणित है या ठण्डा पानी ?
बतला, तेरे जीवन मे है
लुज बुढौती या कि जवानी ?

यदि तेरी नस-नस मे बहती
वेगवती शोणित की धारा, –
राख हुआ है नही अभी यदि,
तेरे यौवन का अगारा,–

तो क्यो झाक रही है तेरे
नयनो से यह निपट निराशा ?
तू क्यो है उदास निज मन मे ?
क्यो मुरझी है तेरी आशा ?

निकला था तू जब कि जूझने
धारण कर सैनिक का बाना,–
जब कि बज उठा था रण-धौसा,
जब गूँजा था युद्ध-तराना,–

तब क्या तुझसे कहा गया था
कि है सुमन ही तेरे मग मे ?
क्या तुझको यह ज्ञात नही था
कि हैं शूल अगणित मारग मे ?

क्या निद्रा, भोजन, भय, मैथुन, यही भाव है मानव का ?
क्या न शुद्ध मानव स्वभाव है पशुओं से कुछ भिन्न हुआ ?

क्यों निराश हो मानव-प्राणी ? जीवन तो है यज्ञ सदा
स्वाहा ! स्वाहा ! की ध्वनि से जो झिझके, वे हैं अज्ञ सदा,
कहो, बढ़ी मानवता आगे कब बिन जन - बलिदानों के ?
अरे, स्वकर्म-फलों की आशा करना भी है इक विपदा !

सामूहिकता का सुख, वैभव, सामूहिक कल्याण परम,–
इनको तो हैं नित्य अभीप्सित वैयक्तिक बलिदान चरम !
इस साधना कठोर, घोर, में बीता है जिसका जीवन,–
क्यों, चौथेपन में भी, उसके, कहो अटपटे पड़ें कदम ?

जीवन है यदि एक खेल, तो क्यों न शान से मस्त खेलें ?
अपने हिस्से में जो आये, हँस हँस उसे न क्या ले लें !
अगर तुम्हारे हिस्से में है आन पड़ी यह सैनिकता–
तो, चिन्ताएँ आज तुम्हारे पथ में तुमको क्यों ठेलें ?

होता है परिगणित युगों में जन-समाज अस्तित्व जहाँ,–
शत-शत कल्पों तक फैला है सामूहिक व्यक्तित्व जहाँ–
वहाँ एक जीवन की चिन्ता तुमको क्यों हो, बोलो तो ?
कहो ? निभाओगे क्या यों ही तुम अपना दायित्व यहाँ ?

रैन बसेरा नहीं मिले यदि, तो पथ में ही पड़ रहना,
बिना वस्त्र, यदि ठण्ढ लगे तो यों ही, यार, अकड़ रहना!
सुरत देखकर लोग कहेंगे लो, यह तो था वह यात्री !
पर, जीते जी कातर होकर, तुम मत दीन वचन कहना !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ अप्रैल १९४४

■

सैनिक, बोल !

सैनिक, बोल, रगों में तेरी,
शोणित है या ठण्डा पानी ?
बतला, तेरे जीवन में है
रुग्ण बुढ़ौती या कि जवानी ?

> यदि तेरी नस-नस में बहती
> वेगवती शोणित की धारा, —
> राख हुआ है नहीं अभी यदि,
> तेरे यौवन का अंगारा,—

तो क्यों झाँक रही है तेरे
नयनों से यह निपट निराशा ?
तू क्या है उदास निज मन में ?
क्या मुरझी है तेरी आशा ?

> निकला था तू जब कि जूझने
> धारण कर सैनिक का बाना,—
> जब कि बज उठा था रण-धौंसा,
> जब गूंजा था युद्ध-तराना,—

तब क्या तुमसे कहा गया था
कि हैं सुमन ही तेरे मग में ?
क्या तुझको यह ज्ञात नहीं था
कि हैं शूल अगणित मारग में ?

फिर, यदि आज घुमे हैं घाटे
तो तू क्यों अकुलाये मन मे ?
समय - वृक्ष पर ही ओ सैनिक,
तू सम्मिलित हुआ है रण मे।

है तेरा रण पुण्य - प्रणोदक,
तेरा रण जन - मगलकारी,
तेरा जीवन नित्य निवेदित,
तेरे कदम अभय - सचारी,

देख रही है यह मानवता
आतुरता से तेरी गति - विधि,
क्षण - क्षण तुझे निहार रहे हैं,
ये सब बूढे भूधर, वारिधि,

तेरा ही मुँह देख रहे हैं
धरती के सब पाहन, जगल,
उझक निहार रहे हैं तुझको
सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र खमण्डल।

प्रगति - प्रेरणा चिन्तातुर - सी
देख रही है तेरे पग - डग,
और विकास निहार रहा है
तेरा यह ऊँचा - नीचा मग,

अरे, हुई है तुझमे केन्द्रित,
इस विसृष्टि की सब आशाएँ,
तुझमे ही तो मूर्त हुई ह
ऊर्ध्व - गमन की अभिलाषाएँ,

तू ही है प्रतीक, ओ सैनिक,
जन-विकास - नोदना - व्यथा का,
तू ही पुंजीभृत रूप है
सिरजन की इतिहास-कथा का।

•

दुर्निवार युग - धर्म विकट ने
जब अपना सन्देश सुनाया,—
तब तू ही तो था जो उत्सुक
बढकर था सुनने को आया ?

बोला था युग - धर्म कि सुन लो,
पथ मे अगारे बरसेगे।
तब तू बोला था कि "अरे हम,
उस बरसा मे भी सरसेंगे"।

तब क्यो दिखलाई दे तेरे
मुख पर आज त्रास की छाया ?
भावी - दर्शन - शील - दृगो मे
तेरे क्यो नैराश्य समाया ?

तू ने खोले अपने लोचन
और अँधेरा डर कर भागा,
तू गरजा जय - जय - ध्वनि करके,
औ' प्रभात सोते से जागा,

तू ने तौली अपनी बाहे
औ' कायरता थर - थर कापी,
तू ने अपने एक चरण मे
बाधाओ की सीमा नापी,

तू है चिर अवरोध - विजेता,
तू मानव - कल्याण - विधायक,
तू ही है जन गण उन्नायक,
तू भैरव - छन्दों का गायक।

अवरोधों के क्षणिक रूप का
क्या तुझको कुछ पता नहीं है ?
बाधाओं का तुंग शैल भी
अति अलघ्य क्या हुआ कहीं है ?
तेरे चरणों की ठोकर से
मिले धूल में शैल अनेकों,
तू क्यों निज बल - विक्रम भूला ?
तू क्यों भूला है अपने को ?

पथ के अमित धूलि - कण साक्षी
हैं तेरे पर्वत - मर्दन के।
औ' तेरे पद - तल साक्षी ले
क्षुर-धारा पर तव नर्तन के॥

अवरोधों के अग्नि - शैल जो
तेरे सम्मुख आज खड़े हैं,—
ये प्रज्वलित प्रखर अंगारे
जो तव पथ में आन पड़े हैं,—

ये आये हैं तुझे बनाने
एक बार फिर अग्नि परीक्षित,
ये आये हैं करने तुझको
फिर से जीवन रण में दीक्षित,

कर उल्लघित और विमर्दित
ये पवत, ये आग - अँगारे,
क्या न आज तू गरज - गरज कर
निज आग्नेय मन्त्र उच्चारे ?

क्या न सुना तू ने अन्तर की
चिदाकाश वाणी का गजन ?
क्या न सुना तू ने अब तक भी
वह गभीर, भय - हारी तर्जन ?
सुन, रे, सुन वह मन्द महा ध्वनि
तुझे दे रही आज निमन्त्रण,
गूँजा है स देश कि "सैनिक
तोड !! अरे हा, तोड नियन्त्रण !!
बन उन्मुक्त, अबाध, अनिगित,
सोच न सुख - दुख, अरे चला चल,
जीवन-रस मे घुले मिले हैं
मधुर अमिय औ' तीव्र हलाहल !"

के द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई १९४४

■

ओ मज़दूर किसान, उठो

उठो, उठो ओ नगो भूखो
ओ मजदूर किमान, उठो,
इम गतिमय मानव - समूह के
ओ प्रचण्ड अभिमान, उठो।

तू है चिर अवरोध - विजेता,
तू मानव - कल्याण - विधायक,
तू ही है जन गण उन्नायक,
तू भैरव - छन्दो का गायक।

अवरोधो के क्षणिक रूप का
क्या तुझको कुछ पता नही है ?
बाधाओ का तुग शैल भी
अति अलघ्य क्या हुआ कही है ?
तेरे चरणो की ठोकर से
मिले धूल मे शैल अनेको,
तू क्यो निज बल - विक्रम भूला ?
तू क्यो भूला है अपने को ?

पथ के अमित धूलि - कण साक्षी
है तेरे पवत - मदन के।
औ' तेरे पद - तल साक्षी ले
क्षुर-धारा पर तव नतन के ॥

अवरोधो के अग्नि - शैल जो
तेरे सम्मुख आज खडे है,–
ये प्रज्वलित प्रखर अगारे
जो तव पथ मे आन पडे है,–

ये आये है तुझे बनाने
एक बार फिर अग्नि-परीक्षित,
ये आये है करने तुझको
फिर से जीवन-रण म दीक्षित,

हम विषपायी जनम के

कर उल्लंघित और विमर्दित
ये पर्वत, ये आग - अँगारे,
क्यों न आज तू गरज - गरज कर
निज आग्नेय मन्त्र उच्चारे ?

क्या न सुना तू ने अन्तर की
चिदाकाश वाणी का गर्जन ?
क्या न सुना तू ने अब तक भी
वह गंभीर, भय - हारी तर्जन ?
सुन, रे, सुन वह मन्द्र महा ध्वनि
तुझे दे रही आज निमन्त्रण,
गूँजा है सन्देश कि "सैनिक
तोड़ !! अरे हाँ, तोड़ नियन्त्रण !!
बन उन्मुक्त, अबाध, अनिगित,
सोच न सुख - दुख, अरे चला चल,
जीवन-रस में घुले मिले हैं
मधुर अमिय औ' तीव्र हलाहल !"

केंद्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई १९४४

■

ओ मज़दूर किसान, उठो

उठो, उठो ओ नंगो भूखो
ओ मज़दूर किसान, उठो,
इस गतिमय मानव - समूह के
ओ प्रचण्ड अभिमान, उठो।

आज मुक्ति के अरमानो ने
मिलकर यो ललकारा है
ओ सब सोने वालो, जागो,
गूँज रहा नक्कारा है।
कैसी रात ? कहाँ के सपने
यह नव प्रात पधारा है।
ऐसे हँसते - से प्रभात का
तुम करने सम्मान, उठो,
उठो, उठो ओ नगो भूखो,
ओ मजदूर किसान, उठो,

ले प्राणो के फूल करो मे,
हिय मे अमित उमग भरे,-
कन्धो पर ले विजय-पताका,
नयनो मे रण-रग भरे,-
नवल प्रात के स्वागत को तुम
चलो वीर निश्शक, अरे,
क्या भय ? क्या डर ? आज झिझक क्या ?
ओ मानस सतान उठो।
उठो, उठो ओ नगो भूखो,
ओ मजदूर किसान, उठो।

शतियो के आदर्श तुम्हारे
मूल रूप धर आये है,
नव समाज के नवल सृजन का
नया सँदेसा लाये हैं,
दिशि दिशि मे समता-स्थापन के
ये अभिनव स्वर छाये है,

महाक्रान्ति के नव विधान हित
तुम करने बलिदान उठो,
उठो, उठो ओ नगो भूखो,
ओ मजदूर, किसान, उठो।

अब न आ सके रात भयकर
ऐसा कुछ गति - चक्र चले,
फिर न अँधेरा छाये जग मे
चाल न कोई वक्र चले,
चमके स्वतन्त्रता का सूरज,
परवशता का अभ्र टले,
शोषण के शासन की इति हो,
तुम ऐसा प्रण ठान, उठो,
उठो, उठो ओ नगो भूखो
ओ मजदूर किसान, उठो।

सभी ओर तव भुज-बल अकित,
पृथिवी देखो, हल देखो,
निखिल विश्व के यन्त्र तन्त्र मे
तुम अपना कौशल देखो,
भू-मण्डल के सिरजन मे तुम
अपनी चहल-पहल देखो,
ज्योति जगाते, भीति भगाते,
ओ तुम शक्ति-निधान, उठो,
उठो, उठो ओ नगो भूखो,
ओ मजदूर किसान, उठो।

तुमने पीकर गरल, जगत को –
मधुरामृत का दान दिया,
शीतल हुआ जगत, जब तुमने
प्रलय-अग्नि का पान किया।
मरण-वरण कर तुमने मन को
नव जीवन, नव प्राण, दिया,
बहुत पिया विष, अमृत पियो अब,
त्यागी वीर महान्, उठो,
उठो, उठो ओ नंगा भूखा,
ओ मजदूर किसान, उठो।

सुलगा दो निज अन्तर्ज्वाला,
विकट लपट लम्बी धधके,
होवे भस्म दासता, शोषण,
ऐसी यह होली भभके।
हो जाओ तुम मुक्त, कि विहँस
ये सब तारागण नभ के,
दुर्निवार तुम, सदा मुक्त, तुम,
करो विजय के गान, उठो,
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मजदूर किसान, उठो।

किसका साहस है कि रख सके
तुमको यों चिर बन्धन में ?
स्वयं मुक्ति ही नाच रही है
सदा तुम्हारे स्पन्दन में।

तुममे विप्लव अन्तर्हित है,
जैसे ज्वाला चन्दन मे,
टेर रहा है तुम्हे विश्व यह
ओ जग के बलवान, उठो,
उठो, उठो ओ नगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२६ जुलाई १९४३

□

अरी धधक उठ

निगड - बद्ध तन तप तप्त हो,
जटिल शृखलाएँ ये टूटें,
असम्भावनाओ की दृढता के
रह - रह करके छक्के छूटें,

सिंह - द्वार मरण - जीवन का
आज मुक्त हो जाये, सजनी
आज उगा दे सूर्य नया तू
हो अब शेष अमा की रजनी।

कर दे भस्म शृखलाओ की
ये मन कडिया न्यारी - न्यारी।
अरी, धधक उठ, धक - धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

हम विषपायी जनम के

गतानुगति को, परिपाटी की
मूढ प्रथाएँ घुसी हुई ये–
धम-वेलि की पत्ती पत्ती
बना रही है छुई-मुई ये,–

आग, लपक कर इन्हे खींच ले
तू अपनी गोदी म, रानी,
आ, झकझोर मूढता को तू
कर भस्मावशेप, कल्याणी,

तू मत देख, धडकने दे री,
इस हिय की धुकधुकी बिचारी।
खूब धधक उठ, धक-धक कर
तू महानाश की भट्ठी प्यारी।

जडता बनी धम का भूपण,
शठता आचार्या बन बैठी,
भूत दया का रूप धरे यह
निपट नपुसकता है ऐठी,

सामाजिक औदास्य – भावना
बनी भाग्य का फेर निराला,
निरुत्साह, दौर्बल्य, भीति का
पडा हुआ है उर पर पाला

कर दे नष्ट आज सदियो का
सचित यह कुभाव अविचारी।
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

हिय के खण्ड, नेह पय-पालित
अपने वत्सो को, माताएँ —
जीवित भेट चढा देने को
बढ-बढ कर अर्पित कर जाये।

भर जाये विस्मृत प्रागण के
कोने-कोने मे वैरागी —
जिनकी अॅखो मे मस्ती है
होठो पर स्मिति-रेखा जागी,

सिर पर कफन बाँध आ जायें
आहुति देने विकट प्रहारी।
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज सुलग ऐसी की कही भी
लौ का ओर न छोर रहे री,
उदधि सलिल — सी लहरें-लपटें
पुजीभूत कृशानु वहे, री

हँस-हँस कर तू, अरी हसन्ती,
अन्त अनन्त सृष्टि का कर दे,
तू माता की वत्सलता की
विमल वृष्टि मे लपटें भर दे,

बस कठोरता और ज्वलन का
तव आदेश • रहे भयहारी।
अरी धधक उठ धक-धक कर तू —
महानाश की भट्ठी प्यारी।

शत शत सुख की अभिलाषाएँ
छिन मे क्षार-क्षार हो जायें,
सहस हृदय की दुर्बलताएँ
एक निमिष भर मे खो जायें,

लक्ष-लक्ष लोचन मे चमके
प्राणार्पण की निमम ज्वाला,
कोटि-कोटि कण्ठो से निकले
सवनाश का घोप निराला,

झटक झूम झकझोर भस्म कर
तू निसग की तुग अटारी,
अरी, वधक उठ धक - धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज सृष्टि सहार-भार यह
तव हिय हार बना, मतवाली
तेरी इन कराल दाढो मे
मत्यु खेलती है विकराली,

दहन-समस्या की रेखाएँ
है तव भाल-देश पर अकित
रक्ताकाक्षा से तेरी यह
जिह्वा, कुछ लपकी, कुछ शकित,

मेरी हृदय शिला पर कर ले
पैनी अपनी लपट कटारी,
अरी धवक उठ, धक धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आशा और मुक्ति व्याकुलता
फिर अब निखर उठे कुन्दन-सी,
लगन लगे आदर्श चरण मे
वह झुक जाये अभिवन्दन-सी,

क्रन्दन, रण हुकार भयकर
दिशि-दिशि, भरता जाये ऐसे—
ज्वालामुखी शैलमाला मे
घन-विस्फोट भरा हो जैसे,

एक-एक चिनगी बन जाये
अभिनव जीवन की सचारी,
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

मान और मर्यादा छूटी,
बिखर गयी गरिमा क्षण-भर मे,
रण - हुकार - कारिणी क्षमता
लुप्त हो गयी है अम्बर मे,

गिरि-गह्वर मे वन - उपवन मे
अथवा किसी शून्य प्रान्तर मे—
डोल रहे हैं कुछ दीवाने
ले आशा-प्रदीप निज कर मे,

कब से खोज रहे हैं तुमको
सर्वनाश की ओ चिनगारी,
अरी, धधक उठ धक धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज, सव्यसाची का खाण्डव
विपिन-दहन फिर से दिखला दे,
अग्नि-कुमारो को तू फिर से
तनिक वह्नि-क्रीडा सिखला दे,

दिखला दे कि मरण जीवन है
रण प्रागण भगवद् गीता है,
सिखला दे कि अनन्त शान्ति यह
केवल तुझमे परिणीता है,

तेरी अनुगामिनी बनो है
नव प्रभात ऊषा सुकुमारी,
क्यो झिझके, री, धधक धधक, तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

जल, थल, शून्याकाश अग्नि का
कुण्ड बने विकराल भयंकर,
वर्तुल महा व्योम कक्षा यह
बने उसी की परिधि निरन्तर,

महानाश निज भाल नेत्र फिर
खोलें आग लगे प्रलयंकर,
भवभस्मिनी लपटें उट्ठें
धधकें मानव का अभ्यन्तर,

कम अक्षमता औ' कायरता
सब जल जावें सारी-सारी।
अरी, धधक उठ धक धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

चट-चट करती, धू-धू करती,
हा-हा हू-हूकार मचा दे,
अपने शोलों के फूलों से
मेरा आँगन आन रचा दे,
अरी, नचा दे अपनी लपटें
इधर-उधर सब ओर निराली,
काली की जिह्वा-सी लपके
लप-लप करती लौ मतवाली,
धुआ उठे, पाखण्ड जल उठे
हिम धधके, देखे त्रिपुरारी,
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

अम्बर से अगारे बरसें,
जलद धुआँ बनकर मँडरायें,
वज्रघोष से सुप्त रोष को
भौहें विकराली चढ जाये,
अन्तर का विद्रोह फट पडे
खल-भल कर ज्वलन्त भू-गर-सा,
रिक्त गगन बन जाय उलट कर
चण्डी के खाली खप्पर-सा,
भर दे, हाँ खप्पर भर दे तू,
अपनी ज्वालाओं से, आ, री,
आज धधक उठ धक धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

■

गड़गड़ाहट गगन-भर में

यह कड़क, यह गड़गड़ाहट, भर गयी है गगन-भर में,
आज गरजा है भयानक नाश भीषण, विकट स्वर में।

मृत्यु अति विकराल, दुर्दम,
गगन में मँडरा रही है,
ज्वाल - जिह्वा लपलपाती
मेदिनी पर आ रही है,
चर-अचर को भूनती, वह
सब निगलती जा रही है,
कर रही हुंकार बैठी वह शतघ्नी के उदर में,
और उसका विकट गर्जन भर गया है गगन-भर में।

जनपदों के व्यक्तियों का
है नहीं केवल मरण यह,
है सहस्रों अब्दियों के
संचितों का अपहरण यह,
सभ्यता ने सजाया
विभवों का उपकरण यह
काँप रही है ध्रुव धरित्री प्रलय के दुर्धर प्रहर में,
आज गरजा है भयानक नाश भीषण, विकट स्वर में,

क्या विनाश निकट है यह ?
कौन क्रूर प्रश्न है यह ?
क्या किसी [illegible] गुजरा का
आगमन [illegible] ?

आज तो मानव भ्रमित है,
लुप्त ज्ञान, अचेत है यह।
प्रेत सा मँडरा रहा है गगन, जल, थल की डगर मे,
आज गरजा है भयानक नाश भीषण विकट स्वर मे।

नाश की चिन्ता किसे है,
यदि बढे जन रच आगे ?
प्रलय की चिन्ता, कहो, क्या,
यदि उसी से सृजन जागे
किन्तु क्या कुछ बढ सकेंगे
हम द्विपद मानव अभागे ?
प्रगति-रथ की वाग होगी क्या किसी के कुशल कर मे ?
आज तो यह नाश भीषण गरजता है विकट स्वर मे।

ज्वाल मे सुस्नात है यह,
अग्नि - पारावार है यह।
सुकृत का, औ' विकृत का,
सत् - असत् का सहार है यह।
हो रहा क्या जग-जनो का
उपनयन - सस्कार है यह ?
द्विज बनाने की क्रिया क्या हो रही है इस अमर मे ?
अन्यथा, क्या आज गरजा नाश भीषण, विकट स्वर मे ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ जुलाई १९४३

■

दग्ध हो रहे हैं मेरे जन

हाय ! इन्ही आखो से देखे
ज्वाला मे लिपटे मानव-तन
होते भस्मीभूत विलोके
मैंने अपने ही सब जन - गण ।

आज चतुर्दिक् धधक रही है
अति विकराल भूख की होली
और बनी जन - गण की आखें
फैली, फटी भीख की झोली !

देखो, छाती पर पत्थर रख,
वह समूह नर - ककालो का ।
देखो, झुण्ड आ रहा है वह
भूखे, नगे कगालो का !

यूँ तो वह जा नही रहा है,
वह तो रच लडखडाता है,
सामाजिकता के पिजडे, म
पछी तनिक फडफडाता है ।

आज सुन रहा हूँ मैं भीषण
प्राण-हरण का घण्टा घन घन !
देख रहा हूँ विकट भाव की
ज्वाला मे लिपटे मानव-तन !

सड़े भात के लिए श्वान को
औ' मानव को लड़ते देखा,
पति - पत्नी को इक रोटी के
हेतु नितान्त झगड़ते देखा,

मानव ने कुत्ते को मारा,
कुत्ते ने मानव को काटा,
पत्नी ने पति को नोचा औ'
पति ने एक जमाया चाँटा।

मैंने भूखे शिशु को भूखी
माँ के स्तन चिचोड़ते देखा,
मैंने भूखे शिशु की भूखी
माँ को प्राण तोड़ते देखा।

सुन लो उस शव की छाती से
चिपटे भूखे शिशु का क्रन्दन।
देखो, विकट भूख - ज्वाला में
दग्ध हो रहे हैं मानव - तन।

देखो, भूख-भरी वे आँखें,
देखो प्यास - भरे वे लोचन,
सास - भरे, उच्छ्वास भरे वे,
दुस्सह त्रास भरे वे लोचन।

याचनाथ फैली वह हड्डी,
देखो, इसे हाथ कहते हैं।
पथ पर रख के ढेर निहारो,
इसको बन्धु - घात कहते हैं।

हम, जो हैं भर - पेट खा रहे,
अरे वही उत्तरदायी हैं,
हम जो मौज कर रहे हैं नित
वे ही तो शोणित - पायी हैं।
हमी पातकी हैं कि आज यों
तिल तिल कर मरते हैं निज जन,
हमी पातकी हैं कि भूख की
ज्वाला मे जलते हैं जन-गण

हम पत्थर हैं, या कायर हैं
जो यह सर्वनाश लखकर भी—
रच न सके नव सामाजिक क्रम,
ये इतने कटु फल चखकर भी।
क्या यह बात असम्भव थी कुछ
कि सब सूत्र अपने कर होते?
अपना घर अपना ही होता
यदि हम कुछ कम कायर होते।
तब देखते कि क्षुधा सिंहनी
इस घर मे कैसे मँडराती?
तब यह शस्य-श्यामला पृथिवी
कंचन क्यों न उगलती जाती?
किसे दोष दें? हाय! बने हैं
चिर अभिशाप-ग्रस्त अपने मन।
इसीलिए, इस भूख - चिता मे
दग्ध हो रहे हैं निज जन-गण।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३१ अगस्त १९४३

■

स्मरण-दीप

विप्रलम्भ शृगार के सर्वतोमुखी चित्रों
का अकन

पधारो अमराई में आज

पधारो, बैठ रहो इस अमराई की सघन कुज मे आज,
मेरी अमराई मे आज।
यहाँ आने मे लगती है निदाघ की दोपहरी को लाज,
दहकती दोपहरी को लाज।

लू चलती है हहर-हहर कर
आग बरसती है पृथिवी पर,
जल रहे हैं पल-क्षण, तुम यहाँ बिता लो कुछ घडियाँ बिन काज,
पधारो, बैठ रहो इस अमराई की सघन कुज मे आज।

अति सूनी है यह अमराई,
यहा अमित नीरवता छायी,
कि केवल कोयल गाती है पचम मे अपने स्वर को साज,
सुघड, इस समय पधारो गज-गति से तुम अमराई मे आज।

देखो अमियाँ गदरायी है
मन मे सिहरन उठ आयी है,
गुदगुदी अन्तर की कहती है तुमसे आओ, हे रस-राज।
पधारो सहज, सलज मुसकाते मेरी अमराई मे आज।

५ विण्डसर प्लेस, नयी दिल्ली
१६ मई १९५८

मेरे स्मरण-दीप की बाती

तुम बिन तिल तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती,
देखो तो अब धार बनी है मेरी दृग् बूँदो की पाती।

इधर स्नेह-निधि ने जल-धारे बन कर बहने की हठ ठानी,
उधर जगा दी है तव रति ने स्मरण-दीप वर्तिका पुरानी,
मेरा स्नेह तैल बन जलता, औ,' बहता बन पानी - पानी,
यो नित शतधा क्षय होकर भी बढी सनेह तैल की बाती।
तुम बिन तिल तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती।

सघन मोह तिमिरावृत, विस्तृत, निपट शून्य है जीवन पथ मम
आज बनी उसकी पगडण्डी व्यथा शूल सकुल अति दुर्गम,
अतिशय सूना अति एकाकी है मेरी यात्रा का यह क्रम,
तिस पर मुझे मिली सम्बल मे यह लप झप बाती अकुलाती।
कैसे पन्थ क्रमित होगा यह, जब कि बने मेरे दिन राती ?

तुम जा बैठे ज्योति महल मे दीप टिमटिमाता सा देकर
तम भजन कर न सकूँगा, पिय, केवल लघु-स्मति-दीपक लेकर,
अन्धकार है तुम बिन मन मे, तुम बिन लकुटि शून्य मेरे कर,
तमा हुई है और घनी, प्रिय, लख लघु दीप शिखा बलखाती,
तुम बिन तिल तिल कर जलती है मेरे स्मरण दीप की बाती।

वन कर हूक अचूक रमे हो, प्रियतम, तुम मेरे जीवन मे,
ना जाने किस दूर देश से, झाँकी हो मन-वातायन मे!
ओ मेरे निर्मोही, आओ मेरे इस सूने सावन मे,
भूल गये क्या? नभ-धाराएँ तुम बिन मुझको नही सुहाती,
अह-निशि तिल कर जलती है मेर स्मरण दीप की बाती।

तुम क्या गये कि इस जीवन की सत्य प्रेरणा लुप्त हुई है,
तुम क्या गये कि इस जीवन की मधुर भावना सुप्त हुई है,
तुम क्या गये कि मेरी कविता आज बन गयी छुई-मुई है,
तुम क्या गये कि इस जीवन मे रहा न कोई सहज सँगाती,
तुम बिन तिल तिल कर जलती है, मेरे स्मरण दीप की बाती!

अपनी पत्थर की आखो से मैने सब कुछ देखा है, प्रिय,
महाप्रयाण-यान पर उन्मन तुमको चढते देखा है, प्रिय,
हैं कितनी कठोर ये आँखें इसका क्या कुछ लेखा है, प्रिय?
तुम्हे अग्नि-अपण करके भी फटी नही यह निष्ठुर छाती।
तुम बिन तिल-तिल कर जलती है मेरे स्मरण-दीप की बाती!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जुलाई १९४६

घन-गर्जन क्षण

और नही यदि कुछ दे सकते इस घन-गजन के क्षण मे
तो विस्मरण-हलाहल ही दो इस माटी के भाजन में,
सुन लो, घन तजन करते हैं,
अम्बर से रस-कण झरते हैं,
साजन, आज अऋतु के घन भी
हिय मे स्मर-फुहियाँ भरते हैं,
दो, मीराँ का विप-प्याला ही इस असमय के सावन मे,—
यदि कुछ और नही दे सकते तुम घन-गजन के क्षण मे।

कुलिश-कडाके से नभ भरती दामिनि पैठ गयी मन मे,
रोम-रोम रम रही बीजुरी, टीस उठी है सब तन मे,
अम्बर मे छाया अँधियारा,
अन्तर का स्मृति दीप विचारा,—
चिन्ता-वात प्रताडित, इगित,—
लप झप करता है हिय हारा।
आकर इसे बुझा ही दो, अब छाये तम हिय-आगन मे
क्यो बिन काज टिमटिमाये यह, इस घन गजन के क्षण मे।

अमर मनोरथ तरु सिहरे, जब घहरे घन गगनागन मे,
नाच उठे कल्पना मोर भी मेरे सूने निजन मे,
घन विमान पर चढ-चढ आयी—
मेरी सम्मृतिया दुखदायी,

ना जानें किस किस गत युग की
सुध बुध ये अपने सँग लायी।
अब तो मम निस्तार निहित है केवल आत्म-विसर्जन मे,
प्रिय, दे दो अब अमित हलाहल इस माटी के भाजन मे।

सोचा था अमृतत्व हँसेगा मेरी रज के कण-कण मे,
समझा था रस-रास रचेगा मम सूने वृन्दावन में,
पर, तुम बोले कहाँ अमीरस?
तेरा भाग्य सदा का नीरस।
घन गरजें या फुहिया बरसें,
तेरा नही चलेगा कुछ बस।
सच कहते हो, सजन, रिक्तता ही है मेरे भाजन में
तुम क्यो देने लगे अमीरस इस घन-गर्जन के क्षण में?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
९ अप्रैल १९४३

■

विहँस उठो प्रियतम तुम

मेरे सन्ध्या-नभ में विहँस उठो, प्रियतम, तुम,
अमिता स्मिति छिटका दो, मेरे निगमागम, तुम।

शान्त हुई दिन की वह सनन-सनन शीत पवन,
घुमड रहे हिय-नभ मे मम सन्चित मौन स्तवन,
नूपुर की रुन झुन से भर दो मम-शून्य-श्रवण,
आओ, इस सन्ध्या मे पग धरते थम थम तुम,
मेरे इस तम पथ मे विहँस उठो प्रियतम, तुम।

आकर इस सन्ध्या को कर दो सिन्दूर - दान,
मम अचल - ओट दीप बन विहँसो, अहो प्राण,
ग्रहण करो आकर मम सन्ध्या - वन्दन, सुजान,
हरण करो युग युग का मेरा यह हिय-तम तुम,
मेरे सन्ध्या-पथ मे विहँस उठो, प्रियतम तुम !

दिन तो छोटा निकला, बीत गया वह यों ही,
वह कैसे बीता ? बस, बीता है ज्यो-त्यो ही,
पर अब कुछ चेत हुआ, सन्ध्या आयी ज्यो ही,
करोगे न निशि-निवाह् क्या मेरे सक्षम, तुम ?
आओ इस सन्ध्या मे मुसकाते, प्रियतम, तुम !

देखो, वह एकाकी सूना अश्वत्थ विटप —
शान्त हुआ, जो दिन मे हहराता था कँप-कँप,
हूँ मै भी वैसा ही जैसा वह `जड पादप,
मुझे सुगति दान करो, ओ मेरे अनुपम, तुम,
अमिता स्मिति छिटकाओ, मम मग मे, प्रियतम, तुम !

खग-कलरव नि स्वन है, नीरव है तरु ममर,
व्योम मौन, वायु शान्त, थकित सरित, सर, निझर,
बैठ चली गो-धूली, मूक हो रहे मम स्वर,
ऐसे क्षण मुरली मे फूँको स्वर पचम तुम,
मेरे नीरव हिय मे स्वर भर दो, प्रियतम, तुम !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ नवम्बर १९४३, रात्रि

■

फिर वही

एक सूनी सी दिशा से सुन पडा कुछ ललित मृदु स्वर,
थी किसी की कण्ठ-ध्वनि वह, था किसी का गान मनहर ।
कण्ठ स्वर के सग ही कुछ मीड-मय झकार आयी,
गान गगा मे मुदित मन वीण-यमुना धार धायी
कुछ सुपरिचित - सा लगा वह कण्ठ गायन-भारवाही,
थी किसी कर की सुपरिचित अँगुलियो मे वीण थर-थर ।
सुन पडा कुछ हिय-हरण स्वर ।

मुड गयी ग्रीवा उधर को, खिच गये लोचन विचारे,
किन्तु उस सूनी दिशा को देख हारे दृग हमारे,
विफल अन्वेपण - उदधि मे तैर उट्ठे नयन-तारे,
शून्य में दृग - किरण बिखरी झर उठे अरमान झर-झर ।
सुन पडा जब हिय - हरण स्वर ।

ओ अनिश्चित सी दिशा मे उद्गता तू गान-धारा,—
क्यो समायी है श्रवण मे ? विकल है यह हिय विचारा,
सुप्त-स्मृतियो का जगा यह आज फिर ससार सारा,
देखना, क्या बीतती है अब हमारे प्राण, मन, पर,
सुन पडा है जब मृदुल स्वर ।

हम कभी का ले चुके थे छन्द स्वर-सन्यास मन मे,
हम विरागी बन चुके थे, मल चुके थे भस्म तन मे,
किन्तु गायन - धार, तू ने धो दिया वैराग्य क्षण मे,
हो गये फिर से वही हम एक मजनूँ घूम - फिरकर,
सुन पडा जब हिय - हरण स्वर ।

■

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज।

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज, न जाने कब का!
वचन तुम्हारा भंग हुआ है, न जाने कब का!

सान्ध्य-मिलन के आश्वासन पर काटी, घड़ियाँ दिन की,
बड़े चाव से हमने जोही बाट साझ के दिन की।
दिन की मेघ-विलास-वेदना, किसी तरह सह डाली,
इसी भरोसे कि तुम साँझ को आओगे वनमाली।
सन्ध्या हुई, अँधेरा गहरा हुआ, मेघ मँडराये,
गहन तमिस्रा ने आकर झींगुर नूपुर झनकाये।
अब भी आ जाओ, देखो तो, कितनी सुन्दर वेला,
अन्धकार लोकोपचार को, ढाँक चला अलबेला।
पथ पंकिल है, किन्तु शून्य है, नहीं जगज्जन मेले
अँधियाले में खड़ा हुआ है, मम मन-सदन अके

ऐसे समय पधारो साजन, छोड़ भरम सब का!
देखो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का!

शून्य भवन में सजग सँजोयी, मैंने दीपक
इधर मेघमाला ने ढँक ली है अम्बर क
लुप्त हो गयी अन्धकार में, नभ की
निविड़ तिमिर में पड़ी हुई हैं, जग-मग य
किन्तु तुम्हें संकेत-दान हित, मेरा घर
आओगे तो तुम देखोगे, प्रहरी यहाँ
क्यों न आज तुम लिये लकुटिया, बीच
क्यों न चरण-प्रक्षालन हित मम दृग-झारी

पन्थ पक मय सही, किन्तु मत आने मे अलसाओ,
जरा देर को तो आकर, मम शून्य सदन हुलसाओ।
यदि आ जाओ तो मिट जाये, खटका अब - तब का।
प्रिय, लो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२९ जून १९३९

■

ओ मेरे मधुराधर

चिटकी ये बेले की कलियाँ, ओ मधुराधर,
छिटकी हो मानो तव मन्द-मन्द स्मिति मनहर।

मुकुलित हो गया अमित जीवन-उल्लास-हास,
वृन्तो पर थिरक उठा, नव चेतन का विलास,
पाँखुरियो मे स्पन्दित नवल जागरण-विकास,
अलिगण की गुन-गुन मे गूँजे है नव नव स्वर,
ओ मेरे मधुराधर।

करता नाच उठा मधु समीर,
करतो आयी है विहग भीर
[illegible] उमड़ा है गगन चीर,
[illegible]र म बाल अरुण-किरण-लहर,
ओ मेरे मधुराधर।

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज।

प्रिय, लो, डूब चुका है सूरज, न जाने कब का।
वचन तुम्हारा भग हुआ है, न जाने कब का।
सान्ध्य मिलन के आश्वासन पर काटी, घड़ियाँ दिन की,
बड़े चाव से हमने जोही बाट साझ के दिन की।
दिन की मेघ विलास-वेदना, किसी तरह सह डाली,
इसी भरोसे कि तुम साँझ को आओगे वनमाली।
सन्ध्या हुई, अँधेरा गहरा हुआ, मेघ मँडराये,
गहन तमिस्रा ने आकर झींगुर नूपुर झनकाये।
अब भी आ जाओ, देखो तो, कितनी सुदर वेला,
अन्धकार लोकोपचार को, ढाँक चला अलबेला।
पथ पंकिल है, किन्तु शून्य है, नही जगज्जन मेला,
अँधियाले मे खड़ा हुआ है, मम मन-सदन अकेला।

ऐसे समय पधारो साजन, छोड भरम सब का।
देखो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का।
शून्य भवन मे सजग सँजोयी, मैने दीपक बाती,
इधर मेघमाला ने ढँक ली है अम्बर की छाती।
लुप्त हो गयी अन्धकार मे, नभ की दीपावलियाँ,
निविड तिमिर मे पडी हुई है, जग-मग की गलियाँ।
किन्तु तुम्हे सकेत दान-हित, मेरा घर जगमग है,
आओगे तो तुम देखोगे, प्रहरी यहाँ सजग है।
क्यो न आज तुम लिये लकुटिया, कीच गँथने आओ,
क्यो न चरण प्रक्षालन हित मम दृग-झारी ढुल्काओ।

पन्थ पङ्क मय सही, किन्तु मत आने में अलसाओ,
ज़रा देर को तो आकर, मम शून्य सदन हुलसाओ।
यदि आ जाओ तो मिट जाये, खटका अब - तब का!
प्रिय, लो डूब चुका है सूरज, न जाने कब का!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२९ जून १९३९

■

ओ मेरे मधुराधर

चिटकी ये बेले की कलियाँ, ओ मधुराधर,
छिटकी हो मानो तव मन्द-मन्द स्मिति मनहर।

मुकुलित हो गया अमित जीवन-उल्लास-हास,
वृन्तों पर थिरक उठा, नव चेतन का विलास,
पाँखुरियों में स्पन्दित नवल जागरण-विकास,
अलिगण की गुन-गुन में गूँज है नव नव स्वर,
ओ मेरे मधुराधर।

सर-सर-सर-सर करता नाच उठा मधु समीर,
फर-फर फर फर करती आयी है विहग-भीर
जीवन का जय-निनाद उमडा है गगन चीर,
लहर उठी नभ सर में बाल अरुण किरण लहर,
ओ मेरे मधुराधर।

जग में है ज्योति-हास, जड में चेतन प्रकाश,
तृण तृण मे सुरस-रास, चिन्मय है महाकाश,
तव हिय क्यो हो उदास ? मानव क्यो हो निराश ?
उपल-हृदय मे भी तो लहर रहा निर्झर,
ओ मेरे मधुराधर।

निरख-निरख कलियो की मादक मुसकान अमल—
बलि जाऊँ! आयी है तव स्मिति की स्मृति विह्वल!
मन मन-सर मे विकसित है तव युग नयन-कमल,
परिमल मिस आयी तव तन-सुवास सिहर-सिहर!
ओ मेरे मधुराधर।

केंद्रीय कारागार, बरेली
१ मई १९४४

■

उमँगे सावन के धाराधर*

रिमझिम-रिमझिम, झरर-झरर झर
उमँगे सावन के धाराधर

ये घन, श्याम, श्वेत, धूमिल-से,
ज्योति किरण बिम्बित झिल मिल-से,
नवरस पीन, अदीन, गगनचर,
उमँगे सावन के धाराधर।

हिय मे सौदामिनी दुराये
लरज गरजते ये घिर आये,
कम्पित करते थल-थल थर-थर
उमँगे सावन के धाराधर।

अठखेलियाँ गगन मे करते,
प्रतिपल नव आकृतियाँ धरते,
ये बिगडे, क्षण-क्षण बन-बनकर,
उमँगे सावन के धाराधर।

नीर भरे ये, आग भरे ये,
हिये विज्जु-अनुराग भरे ये,
ये शिव-शकर ये प्रलयकर,
उमगे सावन के धाराधर।

द्रुम-शाखाओ पर, पर्णो पर,
गिरि-शृगो पर, गिरि-चरणो पर,
ढरकाते निज जीवन निर्झर,
उमँगे सावन के धाराधर।

उमड चली नदियाँ आतुर-सी,
हरी हुई मेदिनी निठुर-सी,
जड मे लहरा जीवन हिय-हर,
उमँगे सावन के धाराधर।

भीर लगी नभ के आगन मे,
पीर जगी मेरे तन-मन मे,
वही बयार-उसाँस हहर हर,
उमँगे सावन के धाराधर!

मेरे प्रिय, मेरे मन भावन,
तुम बिन है सूना यह सावन,
सूनी निशा, शून्य मम वासर,
उमँगे सावन के धाराधर!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ अगस्त १९४४

■

केन्द्र-बिन्दु

मेरी मनुहार, मेरा प्यार, मेरी नेह-रार,
मेरे ये स्वर सिंगार, मेरे स्वप्निल विचार
सब के तुम्ही हो केन्द्र, तुम तक ही जाती है
उठ-उठकर मेरी गीतावलि की पुकार,
मेरे नयनाभिराम, मेरी दृग-पुतरी मे
रहती है अंकित तुम्हारी झाँकी छविसार,
गुंजन किया ही करते है मम श्रवणो मे
तव मंजु अंगुलि झंकृत मेरे तार तार।

सिहरे तुम्हारे गात, मेरी स्मृति मे सुजान,
आकर यों कहती है रस-भीनी-सी बयार,
कज-लोचनो मे छाये आँसुओ के मुक्ता-कण,
यों कहते है ये सब ओम बिन्दु बार-बार,
अम्बर से कहते है गरज घनेरे घन,
हुआ है असह्य, तुम्हे अमित विछोह-भार,
मेरे हिय मे है आज कितनी घनी-सी पीडा,
इसको क्या जाने मेरा यह अज्ञ कारागार !

फिर भी कभी तो यह बरखा पधारेगी औ'
फिर भी कभी तो होगी षड् ऋतुओ की रार,
कभी विछोह का निशान्त यह होगा, प्राण,
कभी तो अवश्य होगा इस तम का सहार,
कम्पित करो से तब तुम्हारी बलाये लेगी,
तब छवि-रत यह मेरी हिय-मनुहार,
उस दिन आरती उतारेगा तुम्हारी, प्रिय,
ध्यान-मग्न, चरण स्मरण लग्न मेरा प्यार !

आज तो सँदेसा लेके आया है कठोर कम,
कहता है, तोडो निज वीणा, अहो वीण कार !
मत हो, प्रमादी, मत बनो आज रसवादी,
बनो जन गण-वादी, अविवादी अविकार !
जीवन की सगिनियाँ रग-रेलियाँ है, किन्तु,
आज ऐतिहासिकता आयी है तुम्हारे द्वार,
विप्लवी क्षणो मे, बन्धु, कैसी यह हिय हार ?
कैसी मनुहार ? कैसी स्नेह-रार ? क्या दुलार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ अगस्त १९४४

■

क्या बतलायें रोने वाले ?

क्यो ढरके है दृग से जल-कण, बतलाओ, ओ रोने वाले ?
किसकी सुध आयी है, बोलो, ओ निज वदन भिगोने वाले ?

क्या बतलाये अपने हिय की, तुमको, अजी पूछने वाले ?
कैसे दिखलाये हम तुमको अपने अन्तस्तल के छाले ?
दृग मे अनी सतत यदि खटके, तो न बहे क्यो नयन-पनाले ?
परिभाषा क्या दे निज दुख की अपना सब कुछ खोने वाले ?
क्यो ढरके है दृग से जल कण, क्या बतलायें रोने वाले ?

वे कुजें, जिनके किसलय-दल धीरे-से सर करते थे,
कुछ रहस्य-रस की बातो से निभृत वीथियो को भरते थे,
वे कुजें, जिनमे अलसाये सुमन विहँसकर नित झरते थे,
उन सबके सस्मरण अतिथि बन, आये हैं बिन बोले-चाले
लोचन कण क्यो ढरक रहे हैं, क्या बतलायें रोने वाले ?

जिन कुजो की घन छाया मे छुप रहती थी प्रखर दुपहरी,
जहा झुरमुटो मे रहती थी मीलित-नयना निद्रा गहरी,
जिनके नभ मे बहती थी नित प्रेम-गगन गगा की लहरी
गत की इन मादक स्मृतियो को कोई, कैसे, कहो, सँभाले ?
क्यो ढरके हैं दृग से जल कण, क्या बतलायें रोने वाले ?

उन्ही सघन कुजो मे हमको प्रियतम ने रसदान दिया था,
उन्ही सघन कुजो मे उनने हमको अपना मान लिया था,
अब वे ही उजडी हैं, जिनमे हमने मधुरस पान किया था,
किमि रोकें ? आ ही जाती हैं स्मृतियाँ अँधियाले-उजियाले ।
लोचन-कण क्यो ढरक रहे हैं, क्या बतलायें रोने वाले !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जून, १९४४

स्मरण विहगम

मेरी स्मृति के वातायन की धूल-भरी, धूमिल दिहलो पर –
आकुल - से औचक बैठे है कई स्मरण के खग-गण आकर,
विस्मति के किवाड-मम स्मृति के वातायन मे लगे हुए है,
की थी बन्द खिडकियाँ मैने निज स्मर-विहगो से अकुलाकर।

किन्तु चोच खटखटा रहे हैं खिडकी पर ये पछा पाहुन,
और, कर उठा है धीरे मे यह मेरा मन गुन गुन गुन-गुन
अब तो अवश खुल रही है यह स्मति की खिडकी धीरे-धीरे,
और दिखाई दिया दूर पर विस्मृत नभ-मण्डल करुणारुण।

स्वागत करूँ,कहो,किन-किन का ? इतने अतिथि स्मरण-द्विज आये
अपने कलख मे ना जाने कितना विगत काल भर लाये,
है अटपटा मनुज जीवन, जो है नूतन भी, किन्तु पुरातन,
लहर रहे है मेरे सम्मुख सभी सूत्र उलझे-उलझाये।

है अनुताप-वेदना मन मे, निष्फलता की व्यथा भरी है,
विगत काल-नभ से अपूर्ति की सुधि धीरे धीरे उतरी है,
देख रहा हूँ मैं खिडकी से निज जीवन की सूनी अटवी,
जिसकी पगडण्डी पर मेरी गत पग-रेखाएँ उभरी है।

सयत कमठता का मन मे अति अभाव यह खटक रहा है,
खोये हुए अवसरो मे यह मन अब फिर से भटक रहा है,
हहर रहा है चहुँ दिशि सतत चिर अतृप्ति का गहर महार्णव,
निष्फल प्रयत्न - तीर पर बैठा अपना मस्तक पटक रहा है।

स्मृति-नभ मे झिलमिला उठी गत आशाओ की तारावलियाँ,
श्वेत कृष्ण धूमिल किरणो से हुई झुटपुटी जीवन - गलिया,
कुछ मादक, मनहर परिमल - सा आन लगा नासा मे, मानो —
महकी हो रजनीगन्धा की बरसो की मुरझायी कलिया।

मै क्या कहूँ कि जन मन क्या ? वह बन्दर है ? या कि मदारी ?
लिये डुगडुगी नचा रहा है वह निज को ही वारी - वारी,
वह अपने ही आप बना है बन्दर और कलन्दर दोनो,
भरी अनेक अचरजो से है उसकी अपनी स्मरण - पिटारी ?

अपनी क्या, अन्यो की सुधि व्याकुल कर देती है तन-मन,
वे सब अपने मीत अनेको, — जिनको निगल गये हैं गत क्षण
बन आये है स्मरण रूप। वे जीवन बना गये है सूना,
सस्मरणो मे आ - आकर वे और बढाते हैं सूनापन।

सोच रहा हूँ कैसा होता यदि सग होते सब साथी गत ?
सोच रहा हूँ क्यो न हुआ मै धीर चरण, कर्मठ, नित सयत ?
मुझे बावला कर देती है मेरे स्मरणो की यह उलझन।
और, शोक मे भर जाता है मेरा मानस विगत स्मरण - रत।

केन्द्रीय कारागार, बरली
९ मई १९४४

ज्वाल-पौन-हाहाकार

मरुस्थल का कराल ज्वाल पौन-हाहाकार
मँडराया करता है हिय के अम्बर मे,
प्राणो की पहेली कैसे बूझूँ, कहो, प्राण ? जब
ज्वालाएँ लगी हैं मेरे सारे तन-भर मे !
लगता है मानो भस्मीभूत होगा मेरा विश्व
धधक-धधककर एक क्षण भर मे,
परिवर्तित होगा क्या मेरा कल्पना का जग
राख के बुझे से एक लघु कण-भर मे ?

नैनो को उठा के मैने गगन विलोका और
दृष्टि दौडा डाली मैने सब चराचर मे,
रुद्रताप का अमाप शाप मिला मुझे और,
अग्नि तप्त धूलि मिली डगर डगर मे,
वीचि का विलास कैसा ? कहाँ का तरग रास ?
भरी हैं आकण्ठ आग मेरे मन-सर मे !
मेरी दसो अँगुलियाँ बनी हैं लुकाठो और,
ज्वलित हुई है मरे दोनो दग्ध कर मे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३ मई १९४४

द्विधा लोप

प्रकटी है शत शत आशाएँ मेरे एक-एक स्पन्दन म,
तडपी शत शत अभिलापाएँ हिय के एक एक कम्पन म,
धूलि-धूसरित मुझे देखकर जग कहता है मुझे विरागी,
किन्तु अमित अनुराग भरा है मेरे शोणित के कण-कण मे।

वालो कब नीरसता आयी, मेरे रसमय अभिव्यजन म?
अति विराग भी हुआ रसीला बँधकर मेरे रस बन्धन म।
ऊपर से सूखा-सूखा हूँ, पर, अतर मे है रस-धारा,
नही हुआ प्राचीन अभी, हूँ नित्य नवीन रसिक रजन मे।

मुझको लखकर निपट अकेला मत समझो मै हूँ एकाकी,
मेरे हिये विराज रही है मेरे पीतम की छवि वाकी।
तुम मत हठ ठानो, ओ जग जन, मम पिय के दशन करने वा
कहता हूँ बौरा जाओगे जब निरखोगे उनकी झाकी।

मैं हूँ दो, पर, ऐसा दो हूँ जो कि एक से भिन्न नही है,
मेरे इस मिद्धान्त कथन मे गणित शास्त्र का चिह्न नही है।
एक-एक का योग गणित मे हो जाता है दुविधा वाला,
पर मेरे इस सरस योग मे क्या दुविधा का नाम कही है?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२ मई १९४८

यात्रा पथे

यदि तुम कभी करो यात्रा म अनुभव रच थकान,
तो, तुम अपने अनुगामी पर टिक रहना, हे प्राण,
यही साध है मेरी, मुझको और नही कुछ चाह,
बस, मेरा सेवक के नाते, करो निबाह, सुजान।

तव नूपुर, किंकिणि-सिंजन सम हैं मम अपण गान,
है गुजरित तुम्हारे मग मे जिनकी मकरुण तान,
ये तव अनुचर गीत, बने है पन्थ पुर सर आज,
बिखराते जाते है पथ मे स्वर-प्रसून स्मयमान।

कितनी लम्बी यात्रा होगी मुझे न इसका भान,
मुझको तो रखना है सतत तव सुविधा का ध्यान,
पथ के कण्टक चुनते रहना, है यह मेरा काय,
और चापना चरण तुम्हारे जब हो दिन अवसान।

मुझे नही है तव सह-यात्री होने का अभिमान,
मैंने तो पाया है अनुचर होने का वरदान,
मिले तुम्हे कोई सगी, ता कर लेना स्वीकार,
मै तो सतत रहूँगा ही तव अनुचर, ह रसखान।

कभी कभी पीछे मुडकर तुम छिटकाना मुसकान,
इतने ही से चमक उठेगा मम जीवन सुन-सान।
यदि ऐसा हो, कि मै पन्थ मे लुढक पडूँ निष्प्राण,
तो तुम यह अकुलाना, रख यो, मेरा अन्त निदान।

केन्द्रीय कारागार, बरली
८ अप्रल १९४४

तुम मेरी आँखों की पुतली

तुम तो मेरी आखो की पुतली
तुम मेरे हिय का चिर कम्पन,
मम चेतनता का तुम स्पन्दन
तुम इन प्राणो का मदिर व्यजन,
तुम मम जीवन की अमर साध,
मेरे सपनो का मूत्त रूप,
मम आराधना केन्द्र तुम हो,
तुम मेरी ममता चिर अनूप,
तुम अपरिमेय, तुम अनुपमेय,
तुम मम निशि के शशि भासमान,
तुम मम ऊषा की अरुण छटा,
मेरे विहान की मधुर तान!

मेरे वियोग की वह निशीथ,
जिसका अम्बर था अनवलम्ब,
जिसमे लहराया तिमिर रूप–
घन विप्रलम्भ का उपालम्भ,
शशि किरणो से, तारागण से,
था शू य गगन मेरा नितान्त,
कब सोचा था कि कभी होगा
मेरे विछोह का भी निशान्त?
नभ मे ऊषा मुसकायेगी,
छिटकेगा जीवन मे विहान,
कब सोचा था, तुम गाओगे–
इस नवल मिलन के मदिर गान?

तुम आये हँस - मुसकाते - से,
मेरे रहस्य, मेरे उदार,
हरते अपने पद - जावक - से
मेरी निशि का घन अन्धकार,

मेरी प्राची हुलसी - विलसी,
मेरे अन्तर मे उठा ज्वार,
आसुओ और अरमानो मे
मच गयी रार, वह चली धार,

मेरे जीवन का वह निशान्त,
भर गया हृदय मे इक उफान,
आकण्ठ भरा है कलश आज,
हे मेरे प्रियतम सुरसखान।

मेरी पूजा के भाव विहग
गा उठे ललित स्वागत-गायन
जब मधुर-मधुर, धीमे धीमे,
तुम आये मनहर, करुणायन,

गूँजो विभास को स्वर लहरो
चरणाभरणो की रुन-झुन से,
मम मन-गगनागन मगन हुआ
स-रे-ग-म-प-ध नि-स की गुनगुन से,

तव चरणापण हो गये गान,
तव चरणापण हो गये प्राण,
तव चरणार्पण मम निरत ध्यान,
चरणापण मेरा दिवस मान।

खिल उठा आज मेरा शतदल,
उन्मुक्त हुए मेरे अलिगण,
लहराया मधुर मधुर परिमल,
गुन गुन गुन गुन गूँजा गुंजन,

पद नख का कोमल किरण-जाल
छाया मेरे गगनांगन में,
वे ललित-ललित-लघु-लाल-लाल
पद-चिह्न अँके मम प्रांगण में,

मम नयन, उनींदे, नमित, अरुण,
विस्फारित ही रह गये, प्राण,
वे निर्निमेष, वे करुण-करुण,
जिनमें छाये तुम, हे सुजान।

क्या कहूँ कि मैं क्या हुआ आज ?
कृतकृत्य कहूँ ? चिर धन्य कहूँ ?
जब तुम आये, मम हृदय राज,
तब निज को क्यों न अनन्य कहूँ ?

मेरे सुहाग का सूर्य उदित,
छायी सिंदूर की यह लाली,
मेरे सनेह का शशि, प्रमुदित
मेरी निशि दिशि-दिशि उजियाली,

मेरे चन्दा, मेरे सूरज,
यों ही चमका करना निशि-दिन,
मेरे रहस्य, मेरे अचरज,
जीवन होगा दूभर तुम बिन !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१२ सितम्बर १९४२

■

रोको, हे, रोको

रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम,
दे दो कुछ देर, नैंक, अपने मन को विराम।

तुम तो हो नीलकण्ठ, विकट हलाहल-धारी,
तब क्या है यह वृश्चिक-दशावलि बेचारी?
दुजन की बान नीच, यह उसकी लाचारी।
इससे तुम क्यों विचलित होते हो, हे अकाम?
रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम।

उन्नत होकर बनते मनोवेग प्रबल शक्ति,
सयम ही से खिलती हिय की रागानुरक्ति,
तुम्हें नहीं देती है शोभा यह त्वेष भक्ति,
तुमने तो रक्खा है अपना चिर धीर नाम,
रोको, हे, रोको, निज क्रोध-अनल एक याम।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३१ मार्च १९४३

■

आकाक्षा का शव

मै अपनी आकाक्षा का शव
कन्धे पर डाले घूम रहा,
मै इस दिक् काल हिंडोले मे
ऊपर-नीचे झुक झूम रहा।
है नही शम्भु व्यामोह मुझे
मै नही पिनाकी प्रलयकर,
वे हैं अकाल, मैं कालवद्ध,
मै मानव हूँ, वे शिवशकर,
वे सती देह ले घूमे थे,
मम काधे आकाक्षा का शव!
मेरी, उनकी क्या समता हो ?
देवाधिदेव वे, मै मानव !!

मै बोला अरी नियति तू दे
पूणता, या कि दे अगारे,
अध बिच मे मानव को रखकर
तू पीस-पीसकर क्यो मारे ?
म हूँ मानवता का प्रतीक,
मेरी दुदशा निहार, अरी,
जीवन नलिका है निरी रिक्त,
बाहर से लगती भरी-भरी
है नही स्कन्ध पर उत्तरीय,
लिपटा है शव आकाक्षा का,
मै मानव विभ्रम डोल रहा,
लादे बोझा निज वाछा का,

मेरी असफल आकाक्षा यह
असमय मर गयी बिना बोले
पड गयी गाठ मेरे हिय मे,
उसको कोई कैसे खोले ?
मै रह - रह टेर लगाता हूँ
शव जीवित कर दो, रे कोई !
मैं कहता फिरता हूँ देखो,
देखो, मेरी सुषमा सोयी !
मै अमिय खोजने निकला हूँ,
मै नाप चुका जल, थल, अम्बर,
इक बिन्दु सुधा यदि मिल जाती
तो यह शव उठता सिहर-सिहर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अगस्त १९४३

■

अगारों की झड़ियाँ

तुम मेरे लोचन - जल - कण म छलक रह हो स्मरण बने,
झलक रहे हो हिय - दपण मे तुम मेर मन - हरण बने,
तुम मेरे शोणित नतन मे थिरक रहे हो निशि - वासर,
अरे, तुम्ही तो गूँज रहे हो मम गीतो के चरण बने !

तुम्ही छा रहे हो, मेरे प्रिय, मेरे मानस - अम्बर मे,
आये हो तुम मधुर राग बन मम वीणा के पजर म
तव कोमल मगल गायन से रजित है मम गगनागन
मुझको तुम्ही बुला लाये हो अपने लग्न - स्वयवर मे !

सच मानो, क्षण - भर को भी तो तव विस्मरण असम्भव है।
जीवन क्षण मे तुम न रहो, प्रिय, वोलो, यह क्या सम्भव है ?
अहो, तुम्ही ने आन वहाया मम मरथल मे रस - निझर,
जीवन में जो कुछ प्रसाद है, वह सब तव मधु - मादव है।

मेरे रस भीने मधुराधिप, मुसकाते आ जाओ तो।
मेरी इस सूनो कारा के आँगन मे छा जाओ तो।
कठिन शृखलाएँ गायेंगी झन - झन - झन स्वागत - गायन
एक वार सपने मे ही तुम विहँस छटा दिखलाओ तो।

पर, अव नही गूँथने का मैं अपने आँसू की लड़िया,
आज नही गाने का, मैं, प्रिय, करुण गीत की गत कड़ियाँ,
आज आग उगलेगे मेरी इस झकृत वीणा के स्वर।
मेरे नभ से खूब लगेंगी अव अगारो की झड़िया।

केद्रीय कारागार, बरेली
१३ नवम्बर १९४३, रात्रि

■

विस्मरण खेल

तुम कहती हो कि मै भुला दूँ वे प्यारे-प्यारे दो लोचन ?
वे लोचन जिनसे होता है मेरा जीवन ग्रहण-विमोचन ?
तुम कहती हो कि मैं भुला दूँ उन भुज-लतिकाओ का कपण ?
जिनके स्पश मात्र से मेरे राम रोम का होता हृपण ?

मुझमे खेला नही जायगा यह विस्मरण-खेल, ओ मृदुले।
पर, न खलूँगा तुम्हे, समझ लो ओ निरुपमे, अरी मम अतुले।

मैं तुमसे कुछ नहीं माँगता, तुम मम आराधना भुला दो,
मेरी श्वासोच्छ्वास-उष्णता भरी हुई याचना भुला दो,
डाल विस्मरण के पलने में उस संस्कृति को रच भुला दो,
विस्मृति के विहाग के स्वर में लोरी गाकर उसे सुला दो,

क्षमा करो, यदि कभी जँचा हूँ मैं तुमको अल्पज्ञ भिखारी,
मैं याचक सा दीख पड़ूँ, यद्यपि मैं दानी, व्रतधारी !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२९ अप्रल १९४८

ओ हिरनी की आँखों वाली !

उस दिन चला आ रहा था मैं, अपने ढोर किये जंगल से,
डूब चला था सूरज, मुझको तपा नचाकर अपने बल से,
उड़े जा रहे थे सब कौवे, तोते, करने रैन बसेरा
चह-चह करता चला जा रहा था इक दिशि चिड़ियों का घेरा,
आसमान में फैल चुकी थी सुघड़ साँझ किरनों की लाली
उसी समय दिखलाई दी तू, ओ हिरनी की आँखों वाली ?

लट्ठ धरे अपने काँधे पर औ' हँकारता अपनी गायें,
बढ़ा आ रहा था, लेकिन तू देख रही थी ये लीलाएँ,
मैंने देखा, खड़ी मेंड़ पर, खुरपी लिये हाथ में, कोई —
द्वापर की राधा रानी-सी, चिते रही है खोयी-खोयी,
देख रही थी क्या तू गायें, धौली, धूमर, काजर काली ?
या ग्वाले को देख रही थी, ओ हिरनी की आँखों वाली !

खुरपी हाथ, डहडहे लोचन, वह मटमैला चीर हरा-सा,
कुछ गम्भीर और कुछ चचल, वह मुखमण्डल पीर भरा-सा,
यह कौमार्य-स्वरूप सलौना, आया आँखो के आगे जब,
तब खिचाव इक हुआ हृदय मे औ' लोचन भर आये डब-डब
चित्र जड गया हिय-चौखट मे चित्राधार नही अब खाली,
समा गयी तू मन, प्राणो मे, ओ हिरनी की आँखो वाली !

दिन मे गायो की कजरारो भोली आँखे देख-देख कर,
याद कर लिया करता हूँ मै, सुन्दर तेरी आँखे मनहर,
तू जाती है खेत निराने, मैं जाता हूँ ढोर चराने,
दिन-भर गाया करता हूँ मै तेरे ही गुन-गान तराने,
देखा करता हूँ चिडियो की जोडी बैठी डाली डाली,
पर, मै तो हूँ निपट अकेला, ओ हिरनी की आखो वाली !

बादल उमडे, बिजली तडपे, घन-गरजन से जियरा लरजे,
घूर लोग खाम कर जब-तब, लोक लाज भी रह-रह गरजे,
तू खेतो मे, मै जगल मे, फिर भी कैसा अजब तमाशा !
लोगो ने ना जाने कैसे पढ ली है नैनो की भाषा ?
तू ने छुपके देखा, मैने भी निगाह चुपके-से डाली,
फिर भी फैल गयी सब बाते, ओ हिरनी की आखो वाली !

श्री गणेश कुटीर कानपुर
१८ अगस्त १९४०

■

कितनी दूर पधारे हो

प्रियतम, तुम मे पूर्ण हुई थी मेरी टोह उमाँस भरी,
किन्तु आज वह फिर उमडी है अति अकुलायी, प्यास भरी,
ओ मेरे मधुमय रमदानी, आओ, मेरी टेर सुनो,
देखो, मूने मे आयी है अमित वेदना त्रास भरी।

यह कैसी है आँख - मिचौनी ? है यह कैसा खेल, कहो ?
कहाँ छिपे हो मेरे जीवन ? अजी, गये किस गैल, कहो ?
जाने को थे तो क्यो इतना नेह दिया इस याचक को ?
अब दृग-जल बन गया प्यार वह जो तुम गये उडेल, अहो।

'कहाँ, कहाँ हो ? अहो, कहाँ हो ?'–ये मेरे स्वर अकुलाये,–
ये मेरे चीत्कार भरे स्वर, प्रियतम, क्या तुमको भाये ?
इसी लिए क्या मुझे बिलखता छोड गये हो, ओ पछी ?
अरे गगन - वाणी मे कह दो मत बिलखो, लो, हम आये।

आज निरथक-सी लगती है मुझको मम जीवन - यात्रा,
और हुई है भारभूत-सी यह मेरी श्लथ तन - यात्रा,
क्यो न भेज दो उस दूती को, तुम हो जिसके सग गये ?
भेजो वही मरण - दूती जो लघु कर दे जीवन - यात्रा।

तुम बिन इतनी गहन वेदना होगी, इसका भान न था,
मेरे पास व्यथा - गहराई - सूचक कोई मान न था,
तुम पकडाकर चिर बिछोह का मानदण्ड जब चले गये,–
तब वह बात हृदय ने जानी, जिसका मुझको ज्ञान न था।

प्राण, आज फिर आया है शाश्वत द्रोह-भार सिर पर,
और उमड़ आयी है करुणा दशों दिशाओं से घिर कर,
तुम समर्थ हो, यदि चाहो तो पर-पार कहानी को-
कह कानों में, कर सकते हो व्यथा दूर, ओ मम हिय-हर।

मैं तो आज करुण स्मृतियों का टीस भरा इक पुंज बना-
मोह-मुग्ध-सा विचर रहा हूँ, देख रहा हूँ तव सपना,
आ तुम मेरे अन्तरवासी, कितनी दूर पधारे हो?
थक जाओगे, लौटो, कोमल, मत छोड़ो यह गृह अपना!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जून १९४५

■

वे क्षण

तव मद अलसित-सी आँखों की स्मृति ही शेष रहेगी मन में
एक यही अवलम्ब रहेगा, प्रियतम, इस सूने जीवन में!
वे क्षण, जिनको छू पाता हूँ केवल स्मृतियों की पाँखों से,-
वे क्षण, जो कि हुए हैं ओझल, मेरी इन गीली आँखों से,-
वे क्षण, जिनमें अन्वेषण की पूर्ण इति-श्री अन्तर्हित थी,-
वे क्षण, जिनमें युग-युग की उत्कण्ठा एकत्र अमित थी,-
वे क्षण, आज बने हैं केवल हूलित रोम-रोम मम तन में,
वे क्षण, अब केवल रहे हैं इस जीवन के विगत स्मरण में!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१९ जनवरी १९४२

■

हम परित्याग के आदी हैं

जिसको तन-मन से प्यार किया, जिसका दिन-रात दुलार किया,
जिस पर सवस्व निसार किया, जिस पर प्राणो को वार दिया,
जिसकी इक मादक चितवन मे देखे लाखो सपने हमने,
जिसके चरणो मे झुकने को सुध - बुध खोयी हिय - सयम ने,

जब अपना वही हृदय ईश्वर जीवन भर अपना रह न सका,
तब किससे नेह लगायें अब, जब प्राण पके औ' हृदय थका ?

हमने अपना मुरझाया-सा जो पुष्प पास था, चढा दिया,
उनने कुछ सोच-विचार किया, वे झिझके, पर, फिर उठा लिया,
नत लोचन हमने विनती की यह नीरस सुमन विचारा है,
मुरझाया भी है, पर, मालिक, इसमे क्या दोष हमारा है ?

हम लिये अजली मे इसको ये ढूँढ रहे तुमको निशि - दिन,
बरसो पर बरसे बीत गयी, दिन बीत गये अब तक तुम बिन !

नन्हा - सा यह सुकुमार कुसुम, नन्ही - सी इसकी पखडियाँ,
क्या बतलाये इसने अब तक देखी कैसी - कैसी घडियाँ ?
कितनी बरसातें झेली हैं, इसने झेले कितने पतझर
कितनी गर्मी, कितनी सर्दी है बीत चुकी इसके हिय पर !

जब यह पहले ही पहल खिला उस दिन ही यदि तुम मिल जाते
तो इसे न यो कुम्हलाया - सा, यो मुरझाया - सा तुम पाते !

तुमने ध्यान स्थित-से होकर कर ली स्वीकृत वह भेंट दीन,
तुमने न ज़रा भी यह सोचा वह भी मुरझायी, गन्धहीन,
पर, इक दिन, जब कोई तुमको नूतन प्रसून देने आया,
तो तुम हमसे कह उठे सुनो यह पुष्प हमारे मन भाया,

ले लो, मालिक, यह सद्य सुमन, तुम कुछ मत सोच विचार करो,
हम परित्याग के आदी हैं, तुम जिसको चाहो प्यार करो।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
९ मार्च १९४२

■

लो, यह नाता टूट रहा है

लो, यह नाता टूट रहा है,
जिस पर हमको बहुत गर्व था, यह पीतम भी रूठ रहा है,
लो, यह नाता टूट रहा है।

ऐसा कुछ लगता है, मानो मन में एक अभाव हुआ है,
रस की जगह अगम जीवन में मानो विष का घाव हुआ है,
हम भावुक हैं, पर हममें भी मानो कपट दुराव हुआ है,
मानो उपेक्षा के झुरमुट में, कोई हिय-मान छूट गया है,
यह नाता भी टूट रहा है!

हम निज अभिशापों की गाथा कब तक 'न-इति, न-इति' कह गावें ?
हम अपने को निपट अभागे, असफल जन, कब तक कहलावें ?
आगे कभी मिलेंगे अपने ! यों कह कब तक मन बहलावें ?
अब तक तो सह लिया बहुत कुछ, पर, अब धीरज छूट रहा है !
जब यह नाता टूट रहा है।

पर, क्यों छूटे अपना धीरज ? क्यों नैराश्य हृदय में छाये ?
सन्तत हो बनते रहते हैं अपने हिय - कण निपट पराये !
भूल हमारी ही है जो हम अस्थिरता पर रीझ लुभाये !
उन पुराण पुरखा ने जग को चिर चचल क्या झूठ कहा है !
लो, यह नाता टूट रहा है !

जग मुँह मोडे, तो मुँह मोडे ! क्या चिन्ता ? हम चिर एकाकी !
किन्तु प्रार्थना है ! न रच भी टूटे धारा हिय-करुणा की !
जितनी लगे ठेस, उतनी ही हो निझरित चाह सेवा की !
हमें निहार वह उठ जग-जन इनका नेह अटट रहा है।
यद्यपि नाता टूट रहा है !

आज पसार अधेड करो से अपने फटे वस्त्र का अचल—
और उठा कर धीरे-धीरे व्यथा भार से दबे दृगचल,—
भीख मागते हैं हम वर दो चिर करुणा का, अहो अचचल
जग देखे कि आज सूखे म इक नव अकुर फूट रहा है !
यद्यपि नाता टट रहा है !

केन्द्रीय कारागार, बरली
८ अक्टूबर १९४३, विजय दशमी

■

प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी

प्रिय, मै आज भरी झारी-सी,
ललक - ढुलूँगी श्री चरणो मे निज तन-मन वारी-सी,
साजन, आज भरी झारी सी !

अर्पित करने कचन - काया,
मै आयी हूँ लख तम - छाया,
प्राणापण मे नही सुहाती,
जग उजियाले की वह माया,
आज अँधेरे मे खिल डोली हिय कलिका न्यारी सी,
प्रिय, मै आज भरी झारी-सी !

यह तम का परदा रहने दो,
मेरा 'अह' यहा बहने दो,
इस अँधियारे मे ही मुझको,
आत्म-विसजन सुख सहने दो,
ओ मेरे प्रकाश, आओ ओढे चादर कारी सी,
प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी !

मत पूछो मम ग्राम कहा है,
पता नही निज धाम कहा है,
अपनापन तो लुप्त हो रहा,
मेरा निज का नाम कहा है ?
अब तो तुम हो, और तमिस्रा है यह अँधियारी-सी,
प्रिय, मैं आज भरो झारो-सी !

चली आ रही हूँ ध्रुव-पग धर,
बरबस खिचती-सी निज मग पर,
तारा चन्द्र रहित मम अम्बर,
दिशा-शून्य मम पन्थ विघ्न हर,
आज सभी दिक्शूल बने हैं सुमन कली प्यारी-सी,
प्रिय, मै आज भरी झारी सी !

तुम शायद सोचो हो मन मे,
कौन बला आयी तम घन मे,
क्यो यो सोचो हो तुम प्यारे,
हूक उठाकर इस जीवन म ?
मेरी और तुम्हारी तो है युग-युग की यारी-सी,
प्रिय, मै आज भरी झारी-सी !

भूल गये क्या मुझको, साजन ?
मै हूँ वे एकनित रज-कण—
जिनको तुमने स्वकर परस से,
कभी किया था झन झन उन्मन,
आज वही माटी की पुतली आयी हिय-हारी-सी,
प्रिय, मै आज भरी झारी सी ?

चित्रकार श्री असितकुमार हाल्दार के आवास पर
१५ सितम्बर १९३८, रात्रि ८ ३६

■

तुम हँसते से प्राण

थोडी आख लगी कि पधारे तुम हँसते से प्राण,
औ' निहारने लगे वैठकर मुझको, तुम रसखान।
हुआ बावला-सा मन मेरा लख तुमको निकटस्थ,
किन्तु तुम्हे जो देखा तो तुम लगे शान्त औ' स्वस्थ,
मैं आकुल कह उठा कि मुझको कर लो अगीकार,
पर, सपने मे भी तुमने, बस, नाही की, सुकुमार।

डोली मजुल ग्रीवा, मुख से निकले 'ना-ना' शब्द,
सुन वह नही-नही मेरा हिय हुआ एक क्षण स्तब्ध,
फिर सोचा प्रिय क्या देते हैं मुझे निषेध प्रसाद ?
क्या यो मुझे अतीन्द्रियता का देते है सवाद ?
यदि यह तव इच्छा है तो फिर यही सही, सरकार,
अच्छा है हलका हो जाये मेरा मेन्द्रिय भार।

पर, मै हूँ पृथिवी का प्राणी, मे धरती का पूत,
मेरा आराधन, पूजन तो है मृत्तिका प्रसूत,
मेरा निपट मेदिनी-रिंगण, कैसे उडे अकास ?
कैसे टूटें बधन ? कैसे हो मम नवल विकास ?
मै थल चारी, कहो करूँ मै कैसे गगन-विहार ?
तुम्ही कहो, सेंद्रियता कैसे त्यागूँ, प्राणाधार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ अगस्त १९८४

■

कौन-सा यह राग जागा ?

कौन-सी यह प्रीति जागी ? कौन-सा यह राग जागा ?
कौन-से ये स्मरण जागे ? कौन उलटा भाग जागा ?

कौन कहता है कि बाहर से लहर पै आ गये स्वर ?
करुण मेरे गीत ही हैं भर रहे पाताल अम्बर,
पर मुझे ये लग रहे हैं अजनबी-से किन्तु मनहर,
हाय, अपने को निगाना कर रहा हूँ मैं अभागा,
कौन-सा यह राग जागा ?

हलचलों के बीच भी वाणी रहे मेरी अकम्पित,—
और विप्लव भी न कर पाये सुघडमय गीत, खण्डित,—
साध भी यह, किन्तु देखा कण्ठ है आक्रोश-मण्डित,
और मैं बस रो रहा हूँ हिचकियों के राग गा गा,
कौन-सा यह राग जागा ?

■

आराईयाँ

देख हम रग राग गाते हैं
औ, परेशानियाँ उठाते है,
रोज कहते हो बस ज़रा ठहरते
हम अभी एक छिन मे आते हैं ।

कब से यह दीप टिमटिमाता है
क्या कभी ध्यान इसका आता है?
हुए चालीस वरस से ऊपर
तेल अब खत्म हुआ जाता है ।

प्राण तडपे कि वेदना जागी,
कैसे हो मन विशुद्ध वैरागी
रगा मेजी का खेल जब हो तो
क्यो न सब सृष्टि बने अनुरागी ?

हमने चाहा कि बाँध ले मन को,
तुमने सोचा कि मृत्तिका कन को—
इतनी जुरअत कि बने स्पन्दन हीन
और दे थाम इस रुधिर-रन को ?

हमने कब गव किया सयम का ?
जोग-वैराग का? नियम यम का?
हम मे यह ताब क्हा है, पीतम,
जो कि हम दम भरें परिश्रम का?

आज भी हूक उठ ही आती है,
औ' तबीयत य' लूट ही जाती है,
कुछ हुए हैं अजीब बाँके नवीने
उनकी उम्मीद कब बर आती है ?

लखनऊ प्रवास
१५ अगस्त १९३९

मृत्तिका की गुड़ियों के गीत

मैंने हाय, गाये औ' सुनाये नव स्वर भर,
प्राण-मन-हर मृत्तिका की गुड़ियों के गीत,
ढरकाये उनके चरणों में अजस्र अश्रु,
समझा उन्हीं को मैंने एक निष्ठ निज मीत,

किन्तु विधि वाम बोले करके विद्रूप हास्य
मेटोगे कैसे अपनी भाग्य-रेखा विपरीत ?
हार है तुम्हारी चिर संगिनी, अरे नवनी,
कैसी मनुहार ? कैसा प्यार ? अरे, कैसी जीत ?

जिनको दिया था मैंने स्नेहोदक अर्घ्य शुद्ध,
जिनको प्रदान किये मैंने निज भक्ति फूल,
जिनमें डुलाता रहा प्राणों के चँवर सदा,
जिनकी पगों के नित चुनता रहा मैं शूल,

जिनको उदास देख जग सुनसान-सा लगा,
जिनको प्रसन्न देख सुध-बुध गया भूल,
आज देखता हूँ, वे ही हो रहे बिराने, अरे,
किसी भाग्यशाली के हुए हैं वे ही अनुकूल !

उनने कहा था अजी बात कुछ यूँ ही-सी है,
किन्तु मैंने देखा वे हैं गहरे-से पानी मे,
उनकी कृपा थी जो वे शान्ति मुझे देते रहे,
किन्तु फुसलाता कैसे मन अभिमानी मै ?

तैल-मय हो गये कपोल के सभी ये तिल
पड कर वेदना की चूँ-चरर घानी मे
लूटा था शायद मैने उनका सरस नेह,
किन्तु कैसे करता ही रहता मनमानी मै ?

आज पूछता हूँ ओ जी अलख, विराजे क्यो हो,
अमिट विधान के ये जीवन - वितान तान ?
चिर अनुराग का मुझे क्यो अभिशाप दिया ?
और, उनको क्यो दिया निपट विराग दान ?

मुझको अनन्य स्नेह-भाव क्यो प्रदान किया ?
उनको बनाया क्यो यो चचल चपल प्राण ?
तुम तो कहोगे, यह लीला है तुम्हारी, किन्तु,
लीला है नही, है यह तव प्राण-हर बान।

अब कहाँ जाऊँ ? कुछ तुम्ही तो बता दो, अरे,
जाऊँ कहाँ अब इस तीसरे पहर मे ?
ऐसा लगता है मानो जीवन कटा है यूँ ही
गलियो मे, कचो मे औ' सँकरी डगर मे।

यदि क्षण-भर कही रच भी चरण रुके,
पगडण्डी बोल उठी कर्कश से स्वर में।
रुकना मना है, तुझे, चलता जा रे नवीन,
आश्रय नही है तेरे लिए जग भर मे।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
११ जनवरी १९४२

कवि जी।

कवि जी, तुम क्यो गुमसुम हो ? क्या
मुरझी है तव हिय - कलिका ?
कवि जी बोले आज हृदय मे
जाग उठी है उत्कलिका।

क्या समझे ? उत्कलिका। भाई,
हा उत्कलिका जागी है !!
औ' बिब्बोक भाव जागा है,
हृदय कुतुक - अनुरागी है।

हमसे नम न करो दयाकर।
यो तुम शर्म न पाओगे,
हम रल्लक - आवृत बैठे हैं,
क्या तुम नग नहाओगे ?

भाई क्या न निभाओगे तुम
हमसे अपना साप्तपदीन ?
आज, हमारे अन्तरतर मे
जागी, परिस्पन्द - रति पीन।

क्या समझे ? आहा, भाई, क्या
तुम्हे न रच शब्द का ज्ञान ?
परिस्पन्द है स्रग्गुम्फन - विधि।
क्या समझे ? न मिटा अज्ञान ?

हाँ, तो आज हमारे हिय म
परिस्पन्द - रति जाग उठी,
और हमारी हिय - अभिलाषा
वरगु - प्रिया - रस पाग उठी !

वह मृगधरा प्रिया की प्रतिमा !
वह मुप्रभ्रष्टक उनका लोल।
सुन्दर उनका ललित ललामक !
मनहर वैकक्षिक - कल्लोल !

वह घनसार यक्ष कदममय
भाविल उनकी अग - श्री,
इन सबकी स्मृति जाग उठे तो
कैसे धारे हम हिय ही ?

भाई, अक्षर - चचु, क्या न तुम
समझे हिय की गहन - व्यथा ?
तो हम फिर कैसे समझावे
तुमको अपनी प्रेम - कथा !

देखो यह उपबह हमारा !
लखो हमारा यह उपधान।
लखो हमारे नयन - समुद्गक,
लखो क्लिन्न पल्यक - विधान !!

किसी समय हम थे उररीकृत !
हा हम ये सगीण, विदित !
और, हमारी प्रिया हमारे
द्वारा थी ईलित, ईडित !!

क्या समझे ? भाई बस समझो
कि हैं आज हम अत्युत्सृष्ट !
अहो समुज्झित, धूत, विधुत हम !
निपट उच्छ्‌वसित और अहृष्ट !!

क्या समझे ? कुछ बोलो भाई,
क्या तुम हो पूरे चौंगा ?
इतना समझाया, पर तुम तो
निकले बस पूरे पौंगा !

देखो, आज - विरह - नद मे है
पड़ा हुआ जीवन - डौंगा !
करो हमारी मदद जरा तुम,
तुम हो जदपि शुद्ध घौंघा !

घौंघा डौंगा, पौंगा, चौंगा,
इनकी तुक भी खूब मिलो,
मानो, हम कवीश के हिय मे
कविता की काकली खिली !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१२ जनवरी १९४४

दुई का सोच

मैने कहा तनिक झुक आओ और इधर इस बार,
अति कम्पित इस वक्षस्थल पर सिर रख लो, सरकार,
खडे खडे, यो बने हुए बुत क्यो देखो हो, प्रान ?
मेरे जीवन मे छिटका दो मन्द-मन्द मुसकान !

ठुमुक पधारे हो आँगन मे अजब रूप धर आज,
भर-भर लाये हो नयनो मे स्वप्न, जागरण, लाज,
सघन मेघ सम केश-पाश मे चपला से, साकार,—
झूम झूम कर खूब कर रहे हैं ताटक विहार।

बोलो, मालिक, क्यो न बलायें लूँ आकर नजदीक ?
वे बोल कि चटपटी इतनी नही जरा भी ठीक,
अब तो जरा होश मे आओ प्रेम नही सयोग,
फिर, इतनी आतुरता ? यह तो नही नेह के जोग !

नेह निभाना है तो सीखो आत्म-विस्मरण सार,
नेह निभाना है ता छोडो शारीरिक व्यापार,
अपने को खो देने ही मे है सनेह का तत्त्व,
ज्यो ही मिटी अहता त्यो ही मिटा विरह विलगत्व।

जब तक हस्ती की मस्ती मे शराबोर है स्नेह,
द्वैतभाव तब तक है, जब तक नही सनेह विदेह,
जब तक द्वैतभाव है तब तक है यह हा-हा-कार,
हा-हा कार जहाँ है वाँ फिर कैसा प्रेम - विचार ?

हममे तुममे आज भेद है, यह परदे का खेल,
परदा हटते ही हो जायेगा हम - तुम मे मेल,
कहाँ रहोगे 'तुम' जब होगा मोह - आवरण दूर ?
तब तो स्वय कहोगे 'सोऽह', चमक उठेगा नूर,

काल - उदधि मे आदि - प्रेरणा रूपी ढेला एक —
पडा, उसी से लहरायी हैं लहरें यहा अनेक,
यही लहर - भँवरें बल खाती बनी सृष्टि का जाल,
इसी जाल मे उलझ गया है जीवन का जजाल।

लहरें समझ रही है हम तो है सागर से भिन्न,
इसीलिए तो उमड रही हैं वे यो निशि-दिन खिन्न
हम कहते है एक रूप हो, देखो होकर शान्त,
मिलनोत्सुकता से होते हो तुम क्यो यो उद्भ्रान्त ?

जब तक है यह मिलन-लालसा, तब तक यह विछोह,
केवल उस छिन तक ही तडपन है,जिस छिन तक मोह,
उतर चुका जब अक्स हृदय मे तब फिर क्या सकोच ?
दुई मिटी, अरमा बर आये, मिटा विरह का सोच,

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२३ अक्तूबर १९३८ रात्रि १ ४०

मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया

इस जीवन मे क्या प्रात कभी भी आया ?
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

है नही याद कब ऊषा मुसकायी थी ?
क्या पता कि कब दृग मे अरुणा छायी थी ?
मैंने क्या आसावरी कभी गायी थी ?
अब तो जीवन मे है बिहाग - तम माया ?
मेरे अम्बर मे आज अँधेरा छाया !

जिनको समझा अपना, वे हुए पराये,
मेरे अर्पित मृदु सुमन न उनको भाये,
वे किसी अन्य के हृदय लगे, हुलसाये,
उसने हँस हँस औरो से नेह लगाया !
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

किसका कीजे विश्वास ? न किसका कीजे ?
वे अगर कहे 'हाँ' तो क्यो हिय न पसीजे ?
कहकर मुकरें तो क्यो न हृदय यह छीजे ?
मैंने उनकी 'हा' पर सवस्व लुटाया !
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

क्या जानूँ क्या अभिशाप लगा जीवन मे ?
यह कैसा पाप अमाप जगा जीवन मे ?
कर सका न मै कुछ जगह किसी के मन मे,
बारी-बारी सब ने मुझको ठुकराया !
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

कैसे समझूँ कुछ मेरा दोष नही है ?
पर, यह समझूँ तब भी तो तोष नही है।
दोषी पर होता इतना रोष कही है ?
इतना कि जाय वह यो सन्तत विलगाया !
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

यदि मै अपने को अपराधी भी पाऊँ,—
यदि मै निज सिर पर ही सब दोष उठाऊँ —
तो भी मै अपना मन कैसे समझाऊँ ?
अपराधी कभी न क्या साजन-मन भाया ?
मेरे अम्बर मे निपट अँधेरा छाया !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
८ अप्रैल १९४३

■

अब यह रोना-धोना क्या ?

क्या आशा-अभिलाषा, बन्दे ? अब यह रोना-धोना क्या ?
दृष्टि लग चुकी जब कि नियति की, तब जादू औ' टोना क्या ?
इतना तो हो चुका अभी तक, अरे और अब होना क्या ?
अपने ही को जब कि खो चुके तब आगे अब खोना क्या ?

नग नहाये ताल-तलैया, धोना और निचोना क्या ?
जब यों बे घर-बार हुए तब बाती-दीप सँजोना क्या ?
जब आकाश बन चुका चँदुवा, तब छप्पर में सोना क्या ?
जब संग्रह का विग्रह छूटा, तब अब स्वग खिलौना क्या ?

हलके होकर तुम निकले हो, फिर यह बोझा ढोना क्या ?
कथरी छोड़ी, कासा छोड़ा, गठरी और बिछौना क्या ?
तुमने कब दूकान लगायी ? तब ड्यौढा औ' पौना क्या ?
मस्त रहो, ओ रमते जोगी, लुटिया आज डुबौना क्या ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२९ मार्च १९४३

■

फिर आ गयी दिवाली

यह सूनी सी जीवन-यात्रा बनी व्यर्थ श्रमपूर्ण,
और प्रेरणा अलसायी है, है विचार भ्रमपूर्ण,
मेरे हिय में आज अमा है सघन निबिड तमपूर्ण,
नयनों में है अमित तमिस्रा, सकल मनोरथ चूर्ण,
ऐसे समय, अये, हिरनी की मदमय आखा वाली,
ओ मेरी अन्तरतर-वासिनि, फिर आ गयी दिवाली!

तुमने मूँदी आँखे अपनी, बुझे दीप युग मेरे,
उठ आये तम के दल बादल, दशो दिशाएँ घेरे,
प्राणो का यह कीर, कहो, किस ज्योति-किरण को टेरे?
अब क्या मम दिनमान? और क्या मेरे साझ-सवेरे?
छायी जीवन मे निशीथिनी अब तो काली-काली
ओ मेरी अन्तर-वासिनि! क्यो आयी आज दिवाली?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२५ अक्टूबर १९४६, दीपावली

■

गागर मे सागर

कैसे भर लूँ इस छोटी-सी अपनी गागर में सागर?
कैसे मैं नि सीम बनाऊँ अपनी यह सीमित गागर?
यदि मैं रहने को हूँ सीमित, तो निस्सीम चाह यह क्यों?
निद्रावृत रहने को हूँ, तो क्यो है मम स्वभाव जागर?

चिढा रही है मुझको मेरे विफल प्रयत्नों की पाँते,
और उलहने आज दे रही मुझको मेरी ही घातें।
अनुशय छोड गये हैं मेरे हिय में एक रेख गहरी,
फिर से उभर रही हैं हिय पर विगत दिनोंकी सब बातें।

इतने दिवस, महीने इतने, बिता दिये वासर इतने,
औ' प्रमाद, निद्रा-आलस में गँवा दिये अवसर इतने,
इतना समय बिता देने पर अब असीम की चाह जगी।
सोचो, नव प्रयोग करने को रहे शेष अब दिन कितने ?

क्यो अमाप होना चाहूँ मै ? क्यो असीम होना चाहूँ ?
निज अस्तित्व शृंखलाओ को अब मै क्यो खोना चाहूँ ?
बन्धन ही के द्वारा मुझको यह निजत्व आभास मिला।
क्यो अनन्तता युत असीम का बोझा मै ढोना चाहूँ ?

यदि मै हूँ असीम, तो मेरे बन्धन ही अनन्त होगे।
मेरे निशि-दिन अकुलाने से क्या ये अन्तवन्त होगे ?
बन्धन नही, कदाचित् हैं ये मम विकास-सोपान स्वयं।
जीवन क्षण कृत् लोप हुए जो, वे ही अब कृदन्त होगे।

यदि अनन्तता आने को है, तो वह बरबस आयेगी,
विमुख रहूँ, तब भी वह निज को मम सम्मुख प्रकटायेगी,
मै क्यो रोऊँ ? क्या अकुलाऊँ? क्यो पालू हिय मे चिन्ता ?
वर्तमान मै साधूँ। भावी निज को स्वयं निभायेगी।

केन्द्रीय कारागार बरेली
२१ जनवरी १९४४

■

कागज़ की नाव

हम भो अजब जन्तु है जग म चढ कागज की नाव,
प्रेम-समन्दर चले नांघने लगा प्राण के दाव,
पेशेवर मल्लाह हँस पडे यह बौडमपन देख,
पर हमने दे टीप, अलापी अपने मन की टेक।

दुनियादारो, तुम क्या समझो हम मस्तो का खेल ?
शास्त्र हमारा अलग जगत् से अलग हमारी गैल,
सरकण्डेकी डाड हमारी, औ' कागज की नाव,
लहर, भँवर का इस सागर मे हमे नही अटकाव।

इन उपकरणो को ही लेकर सदियो पहले यार,
जिन पगला ने किया सन्तरित यह रस पारावार,
हम भी उन ही के वशज है, फिर हम का क्या सोच ?
कैसी झिझक ? जुगुप्सा कैसी ? क्या भय ? क्या सकोच ?

तरल तरगित, पवन विकम्पित प्रेमाम्बुधि के बीच,
वे समान धर्मा अलबेले लीक गय हैं खीच,
अरे, आज भी दीख रहे हैं उनके वे नौ यान,
क्षीरोदधि मे राजहस की पातो से अम्लान।

हमने भी डाली सागर मे नौका जजर क्षीण,
गल जाये तो भी क्या चिन्ता ? होगे सागर लीन,
तिरती है तब तक तो उसम बैठे हम रस-खान,
हो नि शक रहगे गाते पुण्य प्रेम के गान!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३० सितम्बर १९३८

■

मैं निज भार वहन कर लूँगा

मैं दुर्बल मन, चला सौंपने अपनी पीडा तुम्हे, प्राणधन,
मै आतुर जन, लौटाने को चला विगत यौवन के लघु क्षण,
मैं सश्लथ तन, सुन जीवन के पछी के पखो की सन्-सन्, —
लगा तौलने अपने डैने करने को फिर से नभ - विचरण,
किन्तु मैं स्वय समझ रहा हूँ निरा व्यर्थ है यह उफान, प्रिय,
अब न हो सकेगी फिर सम्भव वह रति, वह गति, वह उडान, प्रिय।

कैसे, कहो, डाल सकता हूँ तुम पर मै निज भार, सुनयने ?
तुम मेरी सुकुमार कल्पना, तुम मेरी मनुहार, सुनयने,
मेरे गलित, पतित जीवन को वरण किया कब विहँस विजय ने ?
और मुझे कब किया विमोहित जगत् - हाट के क्रय - विक्रय ने ?
मैं निज भार वहन कर लूँगा, तुम चादनी बनो जीवन की।
बनी रहो तुम स्वरित कोकिला मेरे सूने जीवन - वन की।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२८ अप्रैल १९४८

▫

विनय

ये घण्टे घन-घन-घन गूँजें, आधी रात आ गयी, साजन,
अभी तलक भी नही सुनाई दी, सुकुमार तुम्हारी पाँजन,
कान लगे हैं दरवाज़े से भी आगे उस राज-मार्ग पर,
प्रति पगध्वनि पर उछल-उछल हम, रह रह जाते हैं आहें भर,

और सोचते है क्या हमसे चूक बन पडी है कुछ ऐसी,
जिससे है यह रोष, अन्यथा, यह उनकी विस्मृति है कैसी ?

सुन्दर, मदिर, सुलोचन साजन ! ओ हिय की निष्ठा के स्वामी !
आराधन के केन्द्र हमारे, ओ प्यारे मालिक ! गज गामी,
निपट हमारे सूनेपन को, ओ तुम मुखरित करने वाले !
चिर अतृप्ति-मय रिक्त हृदय को, ओ तुम सत्वर भरने वाले !
इतने युग की सतत हमारी, विकल प्रतीक्षा सफल बनाओ,
एक बार आँखो से हँसते अधरो से मुसकाते आओ।

किन्तु सोचते हैं हम मन मे क्या अधिकार कि तुम्हे बुलावें ?
एकाराधन कहाँ कि रीझें आप और अपने से आवें ?
व्यभिचारिणी हमारी निष्ठा, अविचारी है नेह हमारा,
पर, है तव उदारता का ही, हमको केवल एक सहारा,
पतित-पावनी बान तुम्हारी, तुम स्वभावत करमप हारी,
तभी पुकार उठी है तुमको, बरबस यह रसना बेचारी।

यदि तुम लखो हमारे अवगुण, तब तो चरण-पद्म भी दुर्लभ,
अपने बल तो न पा सकेंगे, हम तव चरण-रेणु भी, [illegible],
निष्ठा नही, न रच साधना, एकाग्रता नहीं [illegible],
सदाराधना नही कर सके, हम तव अनुचर [illegible] भी,
इस विकार-मय अन्याश्रय को, प्रियतम ! [illegible] निहारो,
हमे उठा कर आज पथ से, तुम [illegible] [illegible] [illegible]।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
४ अगस्त १९४०

गभीर भेद का भरम

मुल्ला अजान दे चुका, हुई नमाज भी खतम।
तथापि खुल नही सका, गभीर भेद का भरम,

सवेरे मे अभी तलक भटकते शाम हो गयी,
नही मिला रहस्य कुछ, किये सभी धरम करम,

य' साध दिल की दिल ही म रही कि कोई तो कभी--
यँ कहता चाहते हो क्या बताओ, ब्रूहि त्वम् वरम् !

नही समझ सके हैं हम कि मन्शा क्या है उनका जो--
रगो मे दौडता है यह रुधिर सदा गरम - गरम।

फिजूल चेतना है गर सचेत भी अचेतवत्
श्रमित - श्रमित हुआ करे बिला हया बिला शरम !

निकल के जगलो मे हम बसा चुके नगर-शहर,
मगर न तोष ही मिला न शान्ति ही मिली चरम।

हमी ने होलिया यहाँ लगा रखी हैं सब तरफ,
हमी तो कर रहे हैं ये सभी शहर - नगर भसम।

इसी तरह क्या हम कभी पहुँच सकेंगे उस तरफ
जहाँ से है करीबतर विवेक - ज्ञान - पद - परम ?

श्री गणेश कुटीर कानपुर
२७ अगस्त १९३९

■

वहुरगी

प्रियतम, मेरा मन बहुरगी अतिरगी मेरे सपने प्रिय,
रग-विरगी मेरी दुनिया, रग-राग मेरे अपने हिय,
इकरगी होने को चिन्तित मेरा बहुरगी चचल मन,
रँगो इसे निज अग-राग-रँग, मे हे मेरे मानी मन-धन !
मेरे अद्भुत, निज नयनो के तरुन-अरुण डोरो के रग मे—
आज नहा लेने दो, फैले यही मदिर रँग मम अँग-अँग मे !

काले मेघो को अस्तगत रवि भी रक दान दे जाता,
फिर तुम तो शिशु-रवि ही मेरे,—तेज पुज हो, भाग्य विधाता,
तनिक चला दो वह इकरगी अपनी तूली चपल करो से,
अथवा छू दो अग-अग मम अपने रजित मृदु अधरो से,
पुँछ जाये मम बहुरगीपन, मन सन्ध्या घन सा हो रजित,
और धडकते गहरे-हिय मे तव अनुराग-रग हो मचित ।

तुम हो कौन ? कहाँ के वासी ? क्या यह राग दिया तुम ही ने ?
देखो तो अब तो नम नस से उठते है स्वर भीने भीने,
ओ मादक मधवा के दानी, फिरता है मन आनी-धानी,
है वतुल गति-रत यह प्राणी, इसने नही सरल गति जानी,
चक्कर के गन्नाटे म पग, शाणित-रास-प्यास रत रग-रग,
क्यो न दिखाई दे फिर बोलो वहुरगी जग-जीवन का मग ।

लखनऊ प्रवासे
१५ अगस्त १९३९

■

प्यार बना मेरा अभिशाप

हैं मेरे तो पाप अमाप,
चिर सुन्दर वरदान प्यार का, उलट बना मेरा अभिशाप,
हैं तो मेरे पाप अमाप।

अरे किसी ने भी तो अपना समझ न पकड़ा मेरा हाथ,
कोई कभी हुआ यदि मेरा, उसने भी तो छोड़ा साथ,
क्या कोई होगा ऐसा भी जो जीवन भर रहे अनाथ ?
मैं हूँ, ओ जग, मैं हूँ ! कर तो तू मेरे अभाग्य की नाप ?
हैं मेरे तो पाप अमाप !

अब तक चिल्लाया मैं लो, यह सांझ हुई पर मिला न मीत,
पर अब तो जीवन सन्ध्या भी होने लगी व्यतीत अतीत,
उमड़ घुमड़ आ रहा निशा का कज्जल करने मुझे सभीत,
अब आयेगा कौन इधर को ? किसकी आयेगी पग-चाप ?
मेरे तो हैं पाप अमाप !

कहा तुम्हीं ने था न, प्राण-धन, कि तुम हुए मेरे हिय-राज ?
तब, अब क्या लग रही तुम्हें है मेरे कहलाने में लाज ?
माँग सिन्दूर भरे रोई क्या आजीवन बन्दी के काज ?
सच है, प्रिय, मेरे होकर तुम क्या नित करते रहो विलाप ?
मेरे तो हैं पाप अमाप !

आज सोचता हूँ, प्रिय, तुम बिन कैसे होगा जीवन पार ?
कैसे वहन कर सकेगा हिय यह इतना दूभर सम्भार ?
अच्छा हो, यदि सिमिट सान्त ही, यह अपार जीवन-विस्तार,
पर, प्रियतम, यह तो है केवल इक आकुल का विकल अलाप,
हैं मेरे तो पाप अमाप !

मुझे याद है जब तुमने इस वक्षस्थल पर शिर रख प्राण,
कहा था कि "तुम तो मेरे हो, ओ मम कुकुम के मम्मान ।"
उम दिन मुझे हुआ था अपनी जीवन-साथकता का भान,
उस दिन मैं अद्वैत हुआ था, अब, फिर लगी द्विधा की छाप !
हैं मेरे तो पाप अमाप !

भुला सका हूँ नही अब तलक वह क्षण, वह तन्मय मुसकान,
वह सन्ध्या, वह रात मनोहर, वह थकान, वह अमल विहान,
मनसर मे उठ ही आते हैं बुद्बुद, स्मरण शरण-रस सान,
हिय मे सदा भरा ही रहता है, प्रज्वलित छोह सन्ताप,
प्यार बना मेरा अभिशाप !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१८ मार्च १९४३

■

तुम हो गये पराये

तुम हो गये पराये, साजन, तुम हो गये पराये,
पाकर समाचार, आखो ने मुक्ता-कण बरसाये,
साजन तुम हो गये पराये !

जिसके अब हो गये, उसी के बने रहो मनमोहन,
होने दो मेरी श्वासों का आरोहण - अवरोहण,
जन्म - जन्म का अभ्यासी हूँ मैं आहे भरने का,
तुम न करो कुछ सोच तनिक इन आँखों के झरने का,
हहराने दो हिय यह मेरा यदि अब यह हहराये,
साजन, तुम हो गये पराये !

तुम कहते हो रहे कि अलि ने अधर पद्म कब चूमे ?
पर, उसके मृदु अधर तुम्हारे अधरों पर हैं झूमे,
आलिंगन वश तव भुज लतिका बनी माल अलबेली, —
किसी ग्रीव मे पड बन आयी मेरे लिए पहेली,
नहीं सुलझती यह प्रहेलिका कोटिक जतन कराये,
साजन, तुम हो गये पराये !

इक सम्भ्रम था, इक सपना था, इक झिलमिल आशा थी,
स्नेह भक्ति की मूर्तिमती जो मेरी परिभाषा थी,
मेरे मृदुल, खूब तुम मुझको आज होश मे लाये,
खूब मिटाये तुमने मेरे सपने बने - बनाये,
क्या दुराव ? मुझसे न दुरेगा यह नव नेह दुराये !
साजन, तुम हो गये पराये !

मन - चकोर कल्पना गगन मे ढूँढेगा अब किसको ?
अब क्या वह निज प्राण चन्द्रमा मानेगा जिस तिस को ?
अभिनव मेघ - खण्ड से घिर जब मेरा चन्दा हुलसे,
मन - चकोर तब किसे निहारे निज दृग स्नेहाकुल से ?
क्यों न तिमिर - सागर मे पछी डूबे औ' उतराये ?
साजन, अब हो गये पराये !

बिसर गयी क्षण - भर में ही, प्रिय, तुम्हे पुरानी बाते ?
तुम्हे खोजते काटी मैने अयुत युगो की रातें,
जब तुम मिले, लगा यो मानो जागे भाग अभागे,
मानो चिर अन्वेषण प्रतिफल आया मेरे आगे,
पर, मेरे अभिशाप घूम-फिरकर फिर मम घर आये।
साजन, तुम हो गये पराये।

रेल पथ फफूंद से कानपुर
३१ जनवरी १९४३

विचलित विश्वास

मनुजता मे आज विचलित हो रहा विश्वास मेरा,
आज तो मर-सा रहा है हृदय का उल्लास मेरा,
है चलित विश्वास मेरा।

एक निष्ठा डिग चुकी है आज तो मेरे सजन की,
भेट अस्वीकृत हुई है मम चिरन्तन हिय लगन की,
मैं पुरातन हो गया हूँ, मै न नित्य नवीन हूँ अब,
कौन दे निज नेह मुझको, दीन मैं तन छीन हूँ जब ?
आज मम मन वह उठा है व्यथ है उच्छ्‌वास तेरा।
चलित है विश्वास मेरा।

आस्था से शून्य हूँ, मैं आ गया हूँ निम्न स्तर पर,
मैं अमानव सा हुआ हूँ, काँप रहा है हृदय थर-थर,
बाँधकर मातंग मन जिस स्तम्भ पर, निर्भ्रान्ति था मैं,–
पा गया था एक आश्रय उस समय जब श्रान्त था मैं –
स्तम्भ वह निकला अथिर अवलम्ब का आभास मेरा,
चलित है विश्वास मेरा !

जब पराङ्मुख तुम हुए, तब, हृदय मे विश्वास भरकर,–
पूछ बैठा मैं कि क्या है ? तब, हँसे तुम श्वास भर-भर !
और मुझसे कह उठे लो, है न कुछ भी बात ऐसी–
जो कि तव अनुरक्ति कापे चपल कदली पात-जैसी,
क्यो भुलावे मे रखा था हृदय यो सायास मेरा ?
चलित है विश्वास मेरा !

प्राण जाने दो, भला क्या रोष, मेरा क्या उलहना ?
भाग्य म मेरे बदा है नित्य नूतन ताप सहना,
किन्तु इस तव सहज छल ने मसल डाला हृदय ऐसा,–
क अब मानव जाति के प्रति मन हुआ सर्प दग्ध जैसा,
आज तो भ्रम चक्र ही म हो रहा रस-रास मेरा,
है चलित विश्वास मेरा !

एक दिन निज लाचनो मे पूर्ण अर्पण भाव भर-भर,–
अलस, अस्फुट, सलज वाणी यत्नत एकत्र कर-कर,–
याद है ? तुमने कहा था ?–किन्तु रहने दो स्मरण वह,
हो रहा स्मृति-भार से है कठिन जीवन सन्तरण यह !
क्यो न हो स्मृति भ्रष्ट, जब है रिक्त हिय आवास मेरा ?
चलित है विश्वास मेरा !

आज कोई और आया है तुम्हे निज अर्घ्य देने,
और तुम भी तो बढे हो, हँस विहँस, वे सुमन लेने,
देखता हूँ यह तुम्हारा ग्रहण औ' यह दान उसका,
देखता हूँ दूर ही से यह उचित अभिमान उसका।
चिर जियो, यो कह रहा है आज चित्त उदास मेरा,
पर, चलित विश्वास मेरा!

प्रार्थना है एक मेरे प्रति न होना, प्रिय, करुण तुम,
और भर-भर मत बनाना मदिर लोचन द्वय अरुण तुम,
आज भी हैं बहुत प्यारे मुझे वे तव युगल लोचन,
आज भी,-यद्यपि हुए वे अन्य के रस रग-रोचन,
आज भी उन तारको स जटित आकाश मेरा,
पर, चलित विश्वास मेरा!

भाल मे मेरे लिखा है निपट सूनापन सनातन,
तब अजब क्या, जो हुआ तव हृदय मे यह अनमनापन?
बाधते निज ग्रीव मे क्यो तुम पुरातन अस्थि-माला?
ठीक था! तुम थे न दुर्गा, शक्ति, तुम हो मनुज-बाला!
अस्थि का ककाल मै, गज कर रहा उपहास मेरा,
चलित है विश्वास मेरा!

रेलपथ काशी से कानपुर
२६ जनवरी १९४२

सन्ध्या आरती

सखी, सँजोती हूँ जब दीपक,
तब होती गुदगुदी हिये मे,
बाँह झटक देते हैं वें जब,
भरती हूँ मै तैल दिये मे,

हटो दूर' जब कहती हूँ तो
और पास वे आ जाते है,
मुझे खीझती देख, हुलसते,
वे नयनो से मुसकाते है,

उस झुटपुटे समय मे साजन
प्यार-भरे आखो आते है,
तब वे मेरे मन मे आली,
एक गजब - सा ढा जाते है।

बाह थाम, गाडकर मेरे
लोचन मे अपने लोचन वे,-
कहते हैं देखो तो कितने
सुन्दर है अति नीरव क्षण ये,

तब मैं खोयी - खोयी-सी, सखी,
उन्हे देखती रह जाती हूँ
उनकी अपनी नेह - धार मे
मै बरबस ही बह जाती हूँ।

मै वे दो ही रह जाते है
उस कुछ - कुछ अँधियारे क्षण मे
सुनती हूँ उनकी छाती पर
सिर धर द्रुतगति हिय-धडकन मे।

करती हूँ मन्वाति सजन की
कर मे नेह - प्रदीप लिये मैं,
सखी, सँजोती हूँ जब दीपक
तब होती गुदगुदी हिये मे !

■

नयन-निमन्त्रण

नयन-निमन्त्रण हमने भेजा कि तुम इधर को आओ,
तुमने नयनो से कह भेजा आते हैं, तुम जाओ,
चले गये हमारे नभ-हृदय मे, लेकर बिथा पुरानी,
और देखते रहे बाट यह युग-युग की पहचानी,
पर, तुमको बिस्मृता हो गयी निज नयना की भाषा,
और रह गयी पथ निहारती मौन हमारी आशा !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३ जनवरी १९४२

■

मृत्यु-धाम

रहस्यपरक दार्शनिक गीत जिनमें
मृत्यु को काव्य का विषय
बनाया गया है

[संग्रह को कवि द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक 'सृजन साँझ' भी दिया गया है ।]

कसा है मृत्यु - धाम ?

क्या तुम कह सकते हो कैसा है मृत्यु-धाम ?
देखा है क्या तुमने वह गृह नयनाभिराम ?
कहा बना मृत्यु-धाम ?

विस्मृति की कुझटिका जहाँ गगन घेर - घेर,–
स्तम्भित कर देती है नयनो का हेर - फेर
श्रान्ति जहा आवाहन करती है टेर - टेर,
वही कही करती ह मृत्यु यूथिका विराम,
वहाँ बना मृत्यु - धाम !

चिर वातावरण सघन, गहन अन्धकार लीन,–
मँडराता रहता है जहाँ सतत उदासीन,
जीवन की ज्योति जहा होती है क्षीण, हीन,
कल्पना जहा सतर्क पग धरती थाम-थाम,
वहा बना मृत्यु-धाम।

प्राचीरें,–जो वेष्टित करती है मृत्यु-सदन,–
उपल जटित है, उनमे जडे अश्मकाल-वदन,
प्रागण मे होता है अन्तक घन घण्ट - नदन,
ऐसे गृह म निवास करती है मृत्यु-धाम,
ऐसा है मृत्यु-धाम।

लेकर ये अति कठोर निममता - रूप उपल,–
अदय विश्वकर्मा ने रचा मृत्यु-धाम अचल,
काले से अश्मो की काली प्राचीर प्रबल –
जिसके भीतर कृतान्त करता है हरण-काम,
ऐसा है मृत्यु-धाम।

कालानल उस गृह मे दीप धरा करता है,
कालानिल व्यजन डुला, उस गृह को भरता है,
काल-मेघ जल नित उस प्रागण मे झरता है,
काल-अनल-अनिल-सलिल—उस गृह के सर्वनाम,
ऐसा है मृत्यु-धाम।

नैनी जेल,
२४ अगस्त १९४१

कैसे निशि के सपने ?

उड धाये नीड - ओर विहग - वृन्द फर - फर कर,
चैं-चुक-चुक के सुचारु रव से नभ थर-थर कर।

घन-गन-सकुलित गगन कज्जल का पुज बना,
मानो नभ-थाली मे दृग अजन सघन सना,
अस्ताचल ओट हुआ दिन-मणि का रथ अपना
जग को मोहित करने आया निशि का सपना,
नभचारी नभ-पथ से लौट चले अपने घर
पखो से फर - फर कर।

साझ हुई, सनिकेतन को गृह की सुध आयी,
अनिकेतन के हिय मे निशि की चिन्ता छायी,

दिन-क्षण, विचरण ही में, बीत गये दुखदायी,
अब यह वन्ध्या सन्ध्या श्रान्ति-समस्या लायी,
पाये निशि-वास कहाँ थकित पथिक यह बेघर ?
आया विश्राम - प्रहर !

जब जीवन - रवि डूबा, मरण - तिमिर बढ आया,–
जब कराल काल व्याल अँधकार चढ आया,–
तब हिय यों पूछ उठा यह क्या मृण्मय माया ?
यह कैसा परिवर्तन ? यह कैसी तम-छाया ?
अब निशि-आवास दान करे कौन करुणाकर ?
कँपता है हिय थर - थर !

निशि का विश्राम कहाँ ? पूछा जब यों मन ने,
ठौर कहाँ ? पूछा जब यों इस मृण्मय कण ने,
बोली तब अमर साध कैसे निशि के सपने ?
ऐ, रे ! आह्वान किया तेरा, चिर चेतन ने !
काले अवगुण्ठन में छिप आये हैं प्रियवर
मत डर, रे अजर, अमर !

आज, साँझ तेरी यह नव प्रभात पूर्ण हुई,
तुझ से अनिकेतन की चिन्ता सब चूर्ण हुई,
हुए आज द्वन्द्व दूर, आज दूर हुई दुई,
मरघट के नभ से है आज अमिय फुही चुई,
मृत्यु का कराल कण्ठ गाता है जीवन स्वर
अब कैसा भय ? क्या डर ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२५ जुलाई १९४२

क्या है यह अन्धकार ?

क्या है यह अन्धकार ?
भूलभुलैया मे मन क्यो उलझे बार-बार ?
क्या है यह अन्धकार ?

वे प्रकाश किरण जिन्हे नयन ग्रहण कर न सके, —
वे किरणें जिनको दृग-अजलियाँ भर न सकें, —
जिनको दृग कनीनिका किसी तरह धर न सकें, —
उन किरणो का समूह बना अधकार — भार, —
क्या है यह अन्धकार ?

जीवन का उजियाला और चमकने को जब, —
धीमा हो जाता है और दमकने को जब, —
तब उसको कहते हैं अन्धकार जग-जन सब,
तभी सभी कहते हैं उसे मृत्यु का प्रसार,
क्या है यह अन्धकार ?

देखो तो मेरे मन, यहा कहा तिमिर अन्ध ? —
देखो तो यहा कहा हरण - करण मरण - बन्ध ?
प्राण - हरण लीला है जीवन उत्क्रमण - सन्ध,
रन्ध्र - रन्ध्र रोमो का आज रहा यो पुकार,
क्या है यह अन्धकार ?

मृत्यु की मृदग की बनी बजी, जलगी थाप,
मृत्यु - नृत्य - पद - तल मे जीवन की ललित छाप,
परदे मे क्या न सुनी जीवन की चरण - चाप ?
मृत्यु - पटल - अन्तर मे चलित जीवनाभिसार,
क्या है यह अन्धकार ?

नमी जेल
३ अगस्त १९४१

कैसा मरण सँदेसा आया ?

कैसा मरण-सँदेसा आया ?
किसके कण्ठाभरण स्वरों ने लय सगीत सुनाया ?
कैसा मरण-सँदेसा आया ?

देह थकी, जर्जरित हो गयी, बिगड गया कुछ खटका,
मज्ञा शून्य शरीर हो गया, लगा मृत्यु का झटका,
देख लुप्त होते जीवन को मन सम्भ्रम मे अटका
जीवन का रहस्य यह क्या है ? क्या यह मृण्मय माया ?
कैसा मरण सँदेसा आया ?

दो विभिन्न गतिया जगती मे इक जडमय, इक चेतन,
जडगति है घूर्णित आन्दोलन, चेतन है उद्वेलन,
जब जडकण-समूह बन आया चेतन का सुनिकेतन,
तब उसमे विकास गति आयी जड ने जीवन पाया,
अभिनव मरण-सँदेसा आया !

जिन ने मर कर चिर जीवन का रुचिर रूप पहचाना,
जिन ने निज को खाने ही मे शुचि निजत्व को जाना,–
वे बोले कि मरण है जीवन का ही एक बहाना,
अभिनव मरण-सँदेसा आया ?

जीवन का अखण्ड वैश्वानर हहर-हहर कर चमका,
भय भागा, सन्देह हट गया, छूटा सशय तम का,
अपने 'स्व' को 'स्वधा' सम होमा, टूटा फन्दा सम का,
अपने मन की हुई मृत्यु, तब चिर जीवन लहराया,
नव-नव मरण-सँदेसा आया !

मृत्यु-बन्ध

मेरी जो अपूरन-सी जीवन कलिल भरी
सरिता है, इसको क्या पूरन करोगे तुम ?
इस तटिनी मे, इस सीमाबद्ध सरिणी मे,
बोलो, प्रिय, कैसे चिर जीवन भरोगे तुम ?
यह नदी भूत और भावी के दु कूलो मे,
लिपटी है, कैसे सीमा इसकी हरोगे तुम ?
इस अश्रुमती, काल सीमिता तरगिणी मे,
चेतन अशेष बन कैसे उतरोगे तुम ?

मृत्यु का कराल अवरोध बाध बाधे तुम,
चेतन प्रवाह-गति सृति किये रुद्धमान,—
जीवन का रचमात्र सलिल प्रदान कर,
करते हो चेतन को कुण्ठित, अशुद्ध, क्या न ?
चेतनावरोधकारी मृत्यु-बन्ध-कल्पना से,—
जीवन हुआ है अवरुद्ध, हतबुद्ध-ज्ञान,
कई युग बीते, तोडो अब तो मरण बन्ध,
मेरे प्रिय, प्राण, मेरे चिर भासमान ध्यान !

जिस दिन मृत्यु की विभीषिका की ईति भीति—
मानव के हिय मे समूल हर जायेगी,—
जिस दिन मृत्यु-जीवनैक्य की विचित्र छटा,—
मानव के हिय मे समुद्र भर जायेगी,

पर-हित-अर्थ प्राण-अपण की इच्छा जब –
मानव के हिय को स्ववश कर पायेगी,
तब मृत्यु बन्ध शैल-खण्ड खण्ड-खण्ड होगा,
चेतन की रुद्ध धार झर-झर आयेगी।

वर दो कि आज तो कृतान्त का गरल रूप
किन्तु अमृतोपम, मरणासव सव प्याला यह,
पीकर निहारूँ विश्व मोहिनी तुम्हारी छटा,
रोम-रोम रीझे, हावे हिय मतवाला यह,
कैसा सकोच ? सोच कैसा ? यदि तुम हो देते,
अपने ही हाथो कटु मृत्यु रूप हाला यह।
अमिय मिला के विष प्याले को भरा है खूब
मृत्यु मधुपात्र मे है जीवन की ज्वाला यह।

नैनी जेल,
९ अगस्त १९४१

■

जग मे महा मृत्यु की फाँसी

जग मे महा मृत्यु की फाँसी
मरण खडा है चिर जीवन के डाले गलबहिया - सी
गहरी महा मृत्यु की फासी।

नाम रूप के भेद भरम ने जग मोहित कर डाला,
लय - भव की अस्थिर महिमा ने हिय मे भय भर डाला,

किन्तु मानवोपरि मानव ने दिया सँदेस निराला
कि यह मरण तो है जीवन की अपनी कुछ महिमा-सी
कैसी महा मृत्यु की फासी ?

गति मे अगति निहित है गति से अगति नही है भिन्ना,
तब क्यों हो जीवन को गति से मृत्यु-अगति विच्छिन्ना ?
जीवन-गति मे लख मरणागति, मति गति हो क्यो खिन्ना ?
मरकर अमर सँदेस दे गये वे जीवन सन्यासी
कैसी महा मृत्यु की फासी ?

जीवन और विशद होने को पद-पद पर मरता है,
मर मिटते है बीज, तभी तो क्षेत्र हरित भरता है,
पुन और बढने को पौधा पककर, मर, झरता है,
तब हम क्यो न कहे कि मृत्यु है चिर जीवन गरिमा-सी ?
कैसी महा मृत्यु की फाँसी ?

जीवन कैसे रख सकता है अपनी प्रगति अबाधा ?
किस विधि जडता मे चेतन ने, बोलो, निज को बाँधा ?
प्रगति, विकास, उत्क्रमण के बल उसने निज को साधा,
जीवन शम्भु महाकालेश्वर, मृत्यु प्रचण्ड उमा सी,
शोभित डाले गलबहियाँ-सी !

जीवन की गोदी मे जब तक मृत्यु-प्रिया न विराजे,
तब तक कैसे सृजन लास्य हो ? कैसे डमरु बाजे ?
कैसे नव चेतन-शख-ध्वनि तब तक गूँजे, गाजे ?
जब तक चेतन की ग्रीवा मे हो न मरण की गाँसी,
ऐसी महा मृत्यु की फाँसी !

नैनी कारागार
३ जुलाई १९४१

■

क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी

क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?
आयी साँझ, ढल चुकी है क्या तव जीवन की प्रखर दुपहरी ?
क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ?

क्यो जागूँ ? मैं सई साझ से सोऊँगा, तू कौन, बोल, री ?
जो कि बजाती आयी निधड़क जागृति का घनघोर ढोल, री !
मेरे सालस निमिष-पात्र मे, मत जागृति का गरल घोल, री
सोऊँ या जागूँ तुझको क्या ? जाग, जाग, मुझसे मत कह, री,
मै हूँ थकित, शिथिल-मन, प्रहरी !

मै हूँ कौन ? पूछते हो तुम ? मुझको देखा रच नयन-भर,
मैं हूँ महामृत्यु ! हैं मेरी लीलाएँ उन्निद्र, शयन - हर।
मैं लायी हूँ तुम्ह चुभोने जागृति के ये शूल चयन कर,
आज भग करने आयी हूँ जीवन की निद्रा गहरी,
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

सोते रहे दिवा निद्रा मे, खोलो अब तुम अपने लोचन,
जागो ग्रहण करो यह मेरा शुभवर, जीवन-सकट-मोचन,
आओ, मै तव भाल देश पर करूँ अमृत-अजन-गोरोचन,
जिसे साँझ कहते हो, वह तो चिर चेतन - ऊषा बन छहरी,
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

मेरा शुभागमन निश्चित है, मम आलिंगन है अटलाचल,
पर तुम मुझे मिलोगे कैसे ? निद्रित ? या चिर जागृत पल-पल ?

यदि तुम जगते मिले मुझे, तो वरण करोगे मुझको अविकल।
इसीलिए लहराती हूँ मैं काल - सलिल पर जागृति - लहरी,
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी?

जागे नील - कण्ठ जीवन म, कर विष-पान अमर बन आये,
जागी शक्ति छिन्नमस्ता वह, जिनको निज शोणित-कण भाये,
जागे वे बलिदानी जिनने नित प्राणापण गायन गाये,
शिवि, दधीचि, नचिकेता जागे जिनकी सुयश-पताका फहरी।
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी?

नैनी जेल,
१५ अगस्त १९४१

■

भाई, आज बजी शहनाई

आज बजी शहनाई, भाई, आज बजी शहनाई,
कित देह के कर्ण - रन्ध्र मे मन्द्र-मन्द्र ध्वनि आयी।
भाई, आज बजी शहनाई।

मगल-घट ले मृत्यु खडी है इस प्रयाण की बेला,
औ' अनन्त मे अगम पन्थ मे छिटका अगम उजेला,
जीवन के उपकरण छोडकर चेतन चला अकेला,
महानिष्क्रमण की स्वर लहरी मन - आँगन मे छायी,
भाई, आज बजी शहनाई।

निर्ममता की अश्रुविगलिता जो मृत्तिका पुरानी,–
उससे निर्मित मगल-घट ले आयी मृत्यु भवानी,
मरण-द्वार पर खडी हुई है ठसक भरी ठकुरानी,
ना जाने किस दूर देश का वह सन्देसा लायी,
भाई, आज बजी शहनाई !

मत कर सोच-विचार, छोड तू झझट इस बस्ती का,
नही खातमा होगा, प्यारे, तेरी इस हस्ती का,
बन्धन तोड, चला चल पीकर प्याला अलमस्ती का
मरण एक बन्धन खण्डन है, मरण नही दुखदाई,
भाई, आज बजी शहनाई !

पौ फट गयी, मिट गया क्षण मे अन्धकार अज्ञानी,
नभ-रानी ऊषा मुसकानी, भव-भय-निशा सिरानी,
अनजानी की अकथ कहानी अब चेतन ने जानी,
उसने आज अलख की अश्रुत पायल-ध्वनि सुन पायी,
भाई, आज बजी शहनाई !

जब पायल की रुनुन झुनुन से साजन स्वय बुलावें,
जब वे 'आ-आ' कहकर मजुल निज अँगुलिया दुलावे,
तब प्रयाण-उन्मुख उन्मन जन सुध-बुध क्यो न भुलावें?
उस क्षण अपनी देह क्यो न यह लगने लगे परायी ?
भाई, जब बाजे शहनाई !

जिस दिन चला समुद जग जीवन निज प्राणार्पण करने,–
जब वह चला पूण चेतन के ऋण का तपण करने,–

उस दिन उसे विमुक्त कर दिया महा मृत्यु के डर ने,–
टूटे बन्धु मिट गया खटका, फटी मरण की काई
जिस दिन बजी मुक्त शहनाई।

नचिकेता बोला गुरु यम से आर्य, ईश है साक्षी,
मैं मुमुक्षु हूँ मृत्यु तत्त्व का मुझे न दो मीनाक्षी,
अन्तक यम बोले 'नचिकेतो, मरणे मानुप्राक्षी'
किन्तु फँसा कब वह माया में जिसे मरण धुन भायी ?
भाई, आज बजी शहनाई।

नैनी जेल
१ सितम्बर १९४१

■

चेतन भी मृण्मय है

अचलित जड ही तो मृण्मय है,
किन्तु इसी जडता ही मे तो चेतन का संचय है ?
अचलित जड ही तो मृण्मय है ?

मृत्यु रूप जड को आधारित करके चेतन चमका,
इस आधार बिना बोलो वह कब जगती मे दमका ?
जब जड ही है बना धरातल चेतन के सब श्रम का,–
तब हिय मे यह मरण-भीति का अटका क्यों संशय है ?
अचलित जड ही तो मृण्मय है ?

देख रहे हम जड - चेतन का यह अवलम्ब परम्पर,
इस विधि जीवन-मरण-समन्वय होता यहाँ निरन्तर,
बिना एक के अन्य असम्भव, या आबद्ध चराचर,
तब क्या परिदेवना ? शोक क्या ? क्या विषाद ? क्या भय है ?
विकसित चेतन भी मृण्मय है !

श्रवण, चक्षु, रसना, स्पर्शन औ' घ्राण, सभी, है मृण्मय ?
नाना विधि के घटित मृत्तिका भाजन भी है मृण्मय,
इनमें आत्माराम रमैया विचर रहा है निर्भय,
अथवा मृत्यु कुम्भ के भीतर जीवन का सचय है,
रे यह चेतन भी मृण्मय है !

यदि जग की लीला है केवल जीवन - मरण - समन्वय,
यदि विकास है जड - चेतन का केवल अन्योन्याश्रय,
तो फिर क्यो न विलोके हम सब एक रूप क्षय - अक्षय ?
क्या न कहे कि मरण भी तो यह जीवन का जय-जय है ?
चेतन भी तो यह मृण्मय है !

जड के बिना कहा चल पायी चेतन की परिपाटी ?
निज विकास हित समुद वरण की उसने मृण्मय - माटी,
तब क्या अचरज कि सुचिर जीवन चले मौत की घाटी ?
सिरजन के विकास क्रम मे, अन्तर्निहित प्रलय है,
रे, यह चेतन भी मृण्मय है ।

नैना जेल
२ अगस्त १९४१

■

झाँक सके आर-पार ?

क्या है यह सम्भव हम झाँक सके आर-पार ?
सम्भव है क्या कि आज मुक्त खुले मृत्यु-द्वार ?
झाकें हम आर-पार ?

बाध रखे माया ने ममता की डोरी से,–
दोनो दृग - खजन ये अपनी बरजोरी से,
रजित हैं नयन आज करुणा की गेरी से,
सीमित इनकी उडान, सीमित है सुविस्तार,
झाके किमि आर-पार ?

घिरी सघन मेघ - भीर, वहा सनन - सन समीर,
बरसा झर-झरा नीर, पावस की उठी पीर,
चपला के चपल तीर शून्य वक्ष चीर - चीर,–
तन - मन करते अधीर, पैठ गये हिय मझाँर,
झाकें किमि आर-पार ?

धरती के पाहुन ये, पाहुन बन मारग मे,–
करते अवरोध सतत अडे-पडे दृग - मग मे,
इनमे ही उलझ गये जन - गण - लोचन जग मे,
सम्भव है नही आज अग्रिम - दर्शन - विहार,
झांके किमि आर पार ?

तरुणारुण, वशीकरण आलिंगन, परिरम्भण,—
करुणारुण, प्राणशरण अपरस्पर अवलम्बन,—
छोह, मोह, नेह, टोह सेन्द्रियता के बन्धन,—
प्राण रमे इनमे, ये बन बैठ हृदय - हार
झाँके किमि आर पार ?

फिर भी है जीवन म एक टोह हूक - भरी,
'किमिदम् ?' की बेर - बेर टेर उठी कूक - भरी,
परदे के पार गयी जब न दृष्टि चूक - भरी,
हुई और भी प्रचण्ड तब 'कोऽहम् ?' की पुकार।
किमि झाके आर-पार ?

नया जेल
८ अगस्त १९४१

मरघट-घाट

अपराजिता चिता की आधी बुझी अधजली ढेरी,—
विहँस उठी यह कहकर मै हूँ चिर जीवन की चेरी,
हँसते देख चिता को मन का ज्ञान हंस मुसकाया,
किन्तु मोह ने मानस पट पर अश्रु-तूलिका फेरी।

धुआँ उठा धू धू मँडराता, इठलाता, बल खाता,
जीवन के दिन की लघुता को रह रह कर दरसाता,
पर, निरभ्र से, नील गगन से यह नभ वाणी आयी,
चेतन तो, जीवन धन, केवल क्षण भर को आता।

चेतन जब सदेह बनता है तब जीवन कहलाता,
वरना इस शरीर-बन्धन से उसका कैसा नाता ?
दैहिक पिंजर तोड शरीरी हसा जब उड जाये,—
तब क्यो निलखे अश्रु लालिता ममता शोणित लाता ?

गागर मे सागर का सब जल भर पायेगा कैसे ?
चेतन सागर, देह गागरी मे, आयेगा कैसे ?
यदि हठकर कुछ बिन्दु देह के बन्धन म बँध जायें,—
तब भी मुक्त सलिल को, बन्धन-सुख भायेगा कैसे ?

देह चली मरघट को चढकर चार जनो के कन्धे,—
अलख चेतना चली तोडकर सब माया के फन्दे,
हास-विलासमयी सब ममता बिसर गयी क्षर-भर मे,
छूट गये जीवन की गति के सारे गोरख-धन्धे।

सरिता ने प्रकटित की कल कल, भावी कल की आशा,
औ' सियार बोले गत कल की हुआ हुआ की भाषा,
भावी और भूत के बन्धन जब जीवन ने जाने,
कालातीत तभी होने को जगी हृदय-अभिलाषा।

रुद्र धूजटी के प्रागण मे भस्म उडी भव-लय की,
किंवा हुई तत्त्व मीमासा जीवन के सशय की,
मृत्यु बन गयी चेतनता के उत्क्रमणो की सीढी,—
हर हर कर श्मशान पीपल ने चेतन की जय जय की।

ढली दुपहरी, दिनकर डूबा, लगी साँझ मुसकाने,
पख झडझडाते, अलसाते, उल्लू जगे सयाने,
जीवन के कराल मरघट की उन्मन सन्ध्या-वेला,—
चेतन के दिन की ऊषा बन आयी हिय हुलसाने ।

चिर निद्रा तो भ्रम है, वह तो है जागरण व्यवस्था,
कैसी निशा ? जब कि है दिन मणि चेतनता कूटस्था,
जिसको चिर निद्रा कह-कहकर जन गण अकुलाते है,
अरे वही तो है जागृति की अद्भुत, नवल अवस्था !

नैनी जेल
१९ अक्टूबर १९४१

प्रश्नोत्तर

धूल कणियाँ, रच भौतिक शक्ति, कुछ रासायनिकता,—
जब सन्चित हुई, तब वह बन गयी जीवन-क्षणिकता !
चेतना का भाव है जो, जो अहं का भाव है यह,—
राग, रति, रम - रीति - कृति का जो समचा ताव है यह,
वह नही कुछ और, वह है शुद्ध भौतिक रास केवल,
चेतना तो है रसायन - शक्ति - हत्वाभास केवल ।

क्यो वृथा जड और चेतन के भुलावे म पडे जग ?
क्यो वृथा चिर चेतना की टोह मे हो भ्रमित जन - पग

है स्वयभू विश्व यह सब, है नही सृष्टा कही जब,–
दृश्य ही ध्रुव सत्य है जब, क्यो मिले द्रष्टा कही तब ?
जन्म, जीवन, मरण सब, है खेल भौतिक शक्ति का ही,
चेतना तो एक भ्रम है, सत्य तो है मृत्तिका ही !

मृत्तिका से रहित प्रकटी चेतना बोलो कहा ? कब ?
हो रहा अभिव्यक्ति उसकी मृत्तिका मिश्रित यहाँ जब,–
तब न क्यो भौतिक क्रिया ही मान ल हम चेतना को ?
व्यथ मे कर कल्पना उकसायँ क्यो हिय - वेदना को ?
है अगर भौतिक क्रिया का खेल ही जीवन - मरण यह,–
तब कहो कैसा नियामक ? औ' कहाँ अशरण - शरण वह !

ठीक तो है, बन्धु, चेतनता विलग किसने निहारी ?
ठीक तो है, जड रहित हो वह नही प्रकटी विचारी,
किन्तु भौतिक शक्ति यह जो कर रही ह रास - लीला,
या जिसे परमाणु - कणिया बन गयी है प्रगतिशीला,–
वह कहो प्रकटी कभी क्या जड - कणो से विलग होकर,
क्या दिखाई दी कभी वह निपट पार्थिव रूप खोकर ?

यदि नही, तब भी नही क्या सब सम्मत शक्ति सत्ता ?
विश्व शक्ति पदाथ मय है, कह रही या बुद्धिमत्ता।
निपट जड उपकरण मे ही व्यक्त भौतिक शक्ति माया,
किन्तु उसकी नित्य - सत्ता मे नही सन्देह - छाया।
तब भला चिर चेतना की शक्ति भी हो क्यो न स्वीकृत ?
जड विलगता भाव के कारण वही क्यो हो निरादृत ?

चेतना, प्रत्यक्ष - दर्शन के बिना यदि एक भ्रम है,
तो जगत की शक्ति भी क्या भूल का ही विफल श्रम है ?
और फिर विज्ञान कहता गति चलित जिन अणु - कणों को,
उन कणों की गति दिखाई दी अलग क्या कुछ क्षणों को ?
गति, किसी ने क्या कभी भी स्थूल से विरहित निहारी ?
यदि नहीं तो क्या तिरोहित हो गयी वह गति विचारी ?

आज तो विज्ञान की दिशि है निपट एकीकरण की,
आज तो इच्छा जगी है शक्ति के सन्तत स्मरण की,
शक्ति वह जो उष्णता, विद्युत्, विचुम्बक-गतिमयी है,—
शक्ति वह जो ध्वनिमयी है, ज्योति - रेखा - रति - मयी है,
स्थूल भूत पदार्थ प्रकटे हैं न क्या उस शक्ति ही से ?
तब कहो, हमको मिलेगा क्या भला जड - भक्ति ही से ?

निज विकासों के प्रथम यदि स्थूल था अति सूक्ष्म, अलखित,
अगर जडता थी कभी चिर शक्ति का ही रूप सुललित,—
यदि निखिल जड जगत् की, जड शक्ति ही है मल-माया,—
तब कहो, कैसे ? कहाँ से यह सचेतन भाव आया ?
तर्क कहता है कि जड में जो गणित गति-सृति भरी है,
वह किसी चित् रूप की ही कल्पना शिव शंकरी है।

मत लगाओ तर्क के अम्बार, ओ, जडता-प्रचारक,
ये कुहू के कोट ओट न कर सकेंगे नयन-तारक।
हिय कुहुकिनी पूछती है रात दिन 'त्वं क्वासि ? कस्त्वं'
और कहती है 'तदेजति तत् न एजति, प्राण तत्त्वं ?'
चेतना को धूलि औ' जड शक्ति का सश्लेष कहना,—
रोक लेगा क्या हृदय के विकल प्रश्नों का उलहना ?

लाख आँखो से परे हो पर, दरस की चिर पिपासा,–
कौन यो उसका रहा है सजन घूँघट मे छिपा-सा ? –
जन्म की औ' मृत्यु की फाँसी गले ले जीव आया,
हर्ष और विषाद का उद्गीथ स्वर जग-बीच छाया,
किन्तु चेतन की सुमरनी मे मरण है मेरु - मनका,
तब चलित क्यो हो जगज्जन ? भ्रम न क्यो मिट जाय मन का ?

क्षणिक जीवन मिस पधारी जगत् मे चिर चेतना यह,
माग मे सिन्दूर भर लायी विरह की वेदना यह।
आ मिली यो रज - कणो मे बन गयी जीवन पहेली,
किन्तु उसकी है स्मरण कुछ, वह किसी की है सहेली,
बाध उसको क्या रखेगी धूलि - कण की मोह-माया ?
वह रखेगी क्या यहा ? वह है किसी की अमर छाया।

■

मिट गये हैं चित्र मेरे

आह! बन - बन मिट गये हैं ये अनेको चित्र मेरे,
चित्र आज अचित्र मेरे!

वन्दना आराधना की कुहुकिनी कूकी कहो क्यो ?
और अपण-ज्वाल किसने हृदय मे फूँकी ? कहो क्यो ?
तब भला मम दोष क्या, जो तूलिका मैंने सँभाली ?
वन्दना की टेक की साकार छवि मैने बना ली।
किन्तु मैं हतभाग्य हूँ, यो कह रहे हैं मित्र मेरे,
चित्र आज अचित्र मेरे!

जन्म-जन्मो से रहा हूँ मैं कदाचित् वह निराश्रय,
जो सतत क्षुत्-क्षाम दृग से खोजता है जीवनाश्रय,
पूछता हूँ, पन्थ मे साथी मँगाती क्या कहीं हैं ?
संग मे तो एक भी सुकुमार चरणांकन नहीं है।
क्रमित जीवन डगर मे हैं चरण चिह्न विचित्र मेरे,--
मिट गये हैं चित्र मेरे।

सतत ही लगती रही आकाश गंगा की पिपासा,
और पंख अभाव से, कुण्ठित हुई हृदयाभिलाषा,
गगन की कुसुमावली को तोडने को कर पसारे,
जग हँसा, वामन चला, जब स्पर्श करने चन्द्र-तारे।
आज मेरी पुतलियाँ ही जा रही हैं आँख फेरे,
मिट गये हैं चित्र मेरे।

एक की आराधना की, एक ही को हिय बसाया,
एक ही की डोर मे मन-मीन को मैंने फँसाया,
पर अधर मे ही अटक कर रह गये हैं प्राण मेरे,
और अश्रुत ही रहे हैं हिचकियो के गान मेरे,
आज मैं किसको बुलाऊँ ? कौन मुझको आज टेरे,
मिट गये हैं चित्र मेरे।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१० दिसम्बर, १९३१

यह प्याला मैं पी न सकूँगा

यह प्याला मैं पी न सकूँगा,
हाला नहीं, हलाहल है यह,—इसे पान कर जी न सकूँगा।
प्रिय, यह प्याला पी न सकूँगा।

ओढ़े श्याम चदरिया, मादक रूप धरे कुछ भोला-भाला,
मदिर लोचनों से मुसकाते, बढा रहे हो क्यों यह प्याला?
बोलो, है कैसा मधवा यह, नीला-नीला, काला-काला?—
इसको पीकर तो मेरे प्रिय, मैं दो डग भी चल न सकूँगा।
यह प्याला मैं पी न सकूँगा।

यदि मादक मधवा के ही मिस देना है यह गरल हलाहल,—
तो फिर स्पष्ट क्यों नहीं कहते—यह छल क्यों ऐ मेरे निश्छल?
तुम रसज्ञ पानी कर लाये प्राण-हरण-कारी-कालानल,
पर, यह तव अन्तक मरणासव मैं धोखे में ही न छकूँगा।
यह प्याला मैं पी न सकूँगा।

पर क्या अजब कि मरणासव में घुला हुआ है चिर जीवन-रस?
मुझे क्या पता किस-किस विधि से तुम प्रकटाते हो निज साहस?
आखिर क्षण-भंगुर जीवन से क्यों होऊँ मैं मोहित बरबस?
शायद यह प्याला पीकर ही मैं तुमको कुछ चीह्न सकूँगा।
यह प्याला क्यों पी न सकूँगा?

गहन, सघन अन्धकार।

यह लोचन - शिथिल - चरण, गहन सघन अन्धकार।
ज्योति दलन, किरण - दमन, भ्रमायतन, नयन भार
गहन, सघन अन्धकार।

दृग - पथ को घेर - घेर चरण - चिह्न लुप्त किये, —
सकल सृजन - लीला निज अन्तर मे गुप्त किये, —
अपनी गोदी मे चर, अचर सभी सुप्त किये, —
फैला है भूतल से नभ तक इसका प्रसार।
गहन, सघन अन्धकार।

कैसा दिक् - ज्ञान ? सजन, दिशा शून्य अम्बर मम,
पन्थ - रख - शून्य अवनि, निबिड तिमिर आकर मम,
मन मे है अन्धकार - जन्य थकित, मति - दिग्भ्रम,
किधर चलूँ, प्रिय, मै तो बैठा हूँ हृदय हार।
गहन, सघन अन्धकार।

व्याल तिमिर घन निशि का लहराता है समुद्र,
यह कराल कालाणव, जिसकी हर लहर रुद्र,
यहा कहा ढूँढूँ, प्रिय, जीवन की शुक्ति क्षुद्र ?
लहराता है अगाध मरण - सिन्धु या अपार।
गहन, सघन अन्धकार।

अवनी से अम्बर तक लहराता काल स्वय,
लहरो पर करती है, नृत्य, मत्यु - बाल स्वय,
चपल चरण, हरण - शील, देते है ताल स्वय
अग - जग यह करता है क्षण - क्षण मरणाभिसार।
गहन, सघन अन्धकार।

घन सूची - भेद्य तिमिर फैल रहा सभी ओर,
इस तम मे, कहते हो मैं देखूँ किरण - कोर ?
नव चेतन - भोर कहाँ ' यहा निविड निशा घोर,
यहा कहा पाऊँ मैं ऊषा के अरुण तार ?
गहन, सघन अन्धकार !

पर ऐसा लगता है कि यह सघन अन्धकार,-
बढता है, होने को किरणो पर ही निसार,-
अँधियाला करता है अवश देश, काल, पार,
ताकि मिटे कभी जन्म - मरण - भेद - भाव - रार !
गहन, सघन अन्धकार !

निज को आबद्ध किये जड के उपकरणो मे,-
मरण - तिमिर लिपट चला, मृण्मय आवरणो मे,
जीवन की ऊषा के ज्योति पुज चरणो मे,-
होने को न्योछावर बढता है वह अपार !
गहन, सघन अन्धकार !

तुम कैसे लीलामय ? उजियाला, अँधियाला,-
दिखलाकर भ्रमित किया, जन मन भोला-भाला !
पर, फिर इक रूप किया सब गोरा औ' काला,
लय - भव को एक बना किया मरण - तिरस्कार,
तब क्या घन अन्धकार ?

नना जेल
१ अक्टूबर १९४१

पहेली

खूब जानता हूँ मृत्यु जीवन की एकता मे
खूब पहचानता हूँ सम्भ्रम के छल छन्द,
खूब जानता हूँ माया मोहिनी के हाव - भाव,
विभ्रमकरण मानता हूँ सब भव बन्ध,
किन्तु अनजान प्राण अपनो को जाते देख,
बरबस हा-हा-कार करते ह मूढ मन्द
मोह मै कहूँ ? या इसे मानव स्वभाव कहूँ ?
मरण विछोह से क्यो होता हिय खण्ड खण्ड ?

यह जो मरण-भीति मानव के हिय मे है,
वह क्या है भावी नव जीवनोत्क्रमण त्रास ?
यह जो विछोह - जन्म वेदना है मानव मे,
वह क्या है नूतन-जन्म पीडा का ही विलास ?
जीवन मरण एक रूप हो गये है, कि तु,
फिर भी समायी जग-जीवन मे मोह-फास,
आसू है, हिचकिया है, प्राणो का तडपना है,
हिय मे भरा गहरा - सा एक उच्छ्वास !

अपनो को जाते अवलोका नयनो से जब,
अपनो को देखा जब होते यो निजत्व लीन,
मृत्यु - यवनिकाऽक्षेप - अन्तर मे देखा जब
नट को पट-परिवत्तन लीला म तल्लीन,—
देखा जब पख तोलते या प्राण - विहग को,
चचु किये उधर जहा है पथ अन्तहीन,
उस क्षण अपने ही आप आया हिय भर,
झर झर झर उठे आप ही ये दृग दीन !

■

अविरल चेतना की धार

नित अजस्रा, सतत, अविरल चेतना की धार,
कर रही मृण्मय अवनि पर अमिय की बौछार,
अविरल चेतना की धार ?

निखिल रवि-मण्डल, खमण्डल बन रहा व्रज धाम,
और रज कणिया बनी है गोपिया अभिराम,
रुचिर चेतन-तत्त्व आया बन सजल घनश्याम,
काल, नर्त्तन - ताल देता है, समुद अविराम।
कह रहा है यो निखिल ब्रह्माण्ड रास - विहार
अविरल चेतना की धार।

काल - यमुना - तीर, चिर अश्वत्थ रूप कदम्ब,–
धीर अव्यय - भाव से हिल - डुल रहा सालम्ब,
चीर, मात्र - स्पर्श के, उस पर खिलें अविलम्ब,
श्याम घन का यह अनोखा सृजन विजय स्तम्भ।
रज कणो मे हो रहा यह प्राण का संचार,
अविरल चेतना की धार।

आधिभौतिक रेणु - रूपी गोपियो के चीर,–
क्या पता कब कब हरे घनश्याम ने बे - पीर ?
और फिर अवलोक उनको भग्न, नग्न शरीर,–
क्या पता कब दिये तन-पट और प्राण-समीर ?
यह हरण औ' दान लीला है अनन्त अपार
अविरल चेतना की धार।

सृजन के वृन्दाविपिन मे राम रति की रार,–
काल-रविजा के पुलिन पर वेणु की गुंजार,–
चीर-हर, सुख पीर-कर, के अतुल प्यार, दुलार,–
ये सभी प्रकटित हुए है अवश वारम्बार।
तब वहाँ की वेदना ? कैसा दुखा का भार ?
अविरल चेतना की धार।

इन तरणि - तनया - तटो पर गूँजती है मन्द,–
बाँसुरी की ध्वनि, मधुर, मुद, प्राण-हर मुख-कन्द,
वेणु जिसने सुनी, उसके प्राण - गायन - छन्द,–
तड़प उट्ठे, और, फिर कुछ हो गये निष्पन्द
ध्वनि-विमुग्धा धर सकी कब प्राण का सम्भार ?
अविरल चेतना की धार।

हो न जब तक चेतना के श्याम घन का दान,
कौन तब तक मृत्तिका की ग्वालिनो का मान ?
वे, न दें नव चीर, तब तक, क्या, कहो, परिधान ?
पट हरण कर ले न तब तक क्या विमुक्ति-विधान ?
व्यथ, जीवन-मरण की जग क्यो मचावे रार ?
अविरल चेतना की धार ?

आज आ जाओ, बलाये लूँ, अहो सुकुमार।
पट-हरण करते पधारो, है असह यह भार,
आ विराजो, फिर उसी चिर नीम पर छविसार,
कर विवस्त्रा सुरति विधुरा को करो स्वीकार।
मरण - जीवन - मोह - बन्धन तोड़ दो इस बार,
अविरल चेतना की धार।

नैनी जेल
१६ अक्टबर १९४१

■

सृजन झाँझ

सिरजन झाँझ वजी झन - झन - झन,
जड-चेतन के तुमुल नगाडे गमक उठे घन-घन घन,
सिरजन-झाझ वजी झन-झन झन !

ले दिक्-काल-दण्ड द्वय कर मे कोई दुन्दुभि-वादक,—
अगति, प्रगति, उद्‌गति की ध्वनियाँ गुँजा रहा उन्मादक,
कापी जड-चेतन - दुन्दुभिया, घनन-घनन घन्नाई
और अन्य कर द्वय झकृत यह सृजन-झाझ झनाई,
ममृति किमी चतुर्भुज का है क्या केवल ध्वनि-वद्धन ?
सिरजन-झाझ वजी झन झन-झन !

क्षण क्षण सृजन हरण की ध्वनिया उठती हैं अम्बर मे,
है एक ही प्रेरणा प्रलयकर मे, विश्वम्भर मे,
दुन्दुभि वादक की ध्वनियो मे भेद-भाव तो भ्रम है,
सिरजन भी है हरण, हरण भी सिरजन का ही क्रम है।
महा रुद्र का गजन ही तो है सृष्टा का तजन
झकृत झाझ बना है सिरजन !

चेतन की टकार पूण ध्वनि, जड की घहर-गभीरा,
दोनो का कर रहे समन्वय कर-गत झाझ मँजीरा,
देकर ताल निहाल कर रहे लय-उद्भव की लीला,
अणु-अणु मे है गणित चातुरी भरी हुई गति-शीला,
हिय कम्पन, विद्युत्-कण झम्पन सब मे गणना विहरण,
सिरजन-झाँझ वजी झन-झन-झन !

गमनागमन, मरण जीवन यह, यह प्रलयोद्भव-लीला –
है सयोग मात्र यदि, तब क्या विथा ? कहा की पीडा ?
हम वादन-ध्वनि मात्र अन्य की,—यदि यह भी हम मान,–
तो फिर क्या चिन्ता ? हम निज को क्यो न आज पहचाने ?
हम भी क्यो न बने उसके,—है जिसके ये रज-कण-कण ?
सिञ्जन-झाँझ वजी झन-झन झन।

नैनी जेल
९ अक्तूबर १९४१

■

हमरे साजन की अजब अदा

हमरे साजन की अजब अदा,
भोला - भाला जग क्या जाने ?
हमरे साजन है अलबेले,
हमरे साजन हैं मस्ताने,
अपना सन्देश पठाने को
रखखी है उनने इक दूती,
सन्देश लिये वह आती है
जग - जन के नयनो को छूती,
वह आती है मस्तानी - सी
पिय का आमन्त्रण लिये हुए,
यो खूब झूमती आती है
मानो वह है कुछ पिये हुए।

पिय की दूती का नाम अजर,
पिय की दूती का धाम अजर,
वह रहती है अविराम सजग,
हैं उसके सारे काम अजर,
घनघोर कालिमा - सी काली,
पिय की दूती वह मतवाली,
आती काले अँधियारे की
साडी पहने काली - काली,
ऐसी कुरूप दूती रखना
भाया हमरे मन - भावन को,
इस लिए कहो तो भला दोष,
क्या दें हम अपने साजन को ?

जिसको कहते हैं महामृत्यु
वह दूती है हमरे पिय को,
वह छुपा-छुपाकर लाती है
हम तक बातें पिय के हिय का
काले अँधियाले की अपनी
काली साडी मे छिपे हुए —
आती समेटने प्राणो के
वे ताने - बाने बिछे हुए,
जाने क्या कहती जाती है
जीवन के उत्सुक श्रवणो मे ?
मरणाजन देती जाती है
जीवन के स्फारित नयनो मे ।

केसा सदेश ले आती है
जीवन की यह कृतान्त दूतो
जो आती है बे - भरम यहा
जन - गण के तन - मन को छूती,
मन - स्मरण - प्राण - सवरणशील
सस्पश मात्र उसका प्रचण्ड,–
क्षण - भर मे ही कर देता है
जीवन की धारा खण्ड - खण्ड,
उसके पग दृग पर पडते ही
दृग रह जाते है मिचे हुए,
मानो उसके चरणाकन को
है पलक पावडे बिछे हुए।

पथ ने जो कहला भेजा है,
कहती जीवन के कानो मे,
कहतो है "अब मत विलम और
तू इस जग की मुसकानो मे,
जोवन, तू है जीवन या पर,
जडता के बन्धन ही के बल,
अन्यथा, अरे, तू चित्स्वरूप,
चेतन सतत विशुद्ध, केवल,
चेतन जीवन बनता है तब,
जब होता जड से गठबन्धन,
अन्यथा सतत वह है चिन्मय
यदि हो जडता का अतिलघन।

चिर चेतन का सन्देश लिये
मै महा मृत्यु दूती आयी,
तू जड के बन्धन तोड, और,
बन मुक्त, अरे जीवन भाई,
मत और अधिक तू उलझ यहाँ,
है कई और भी काम तुझे,
मै कहती हूँ कि इतिश्री हो,
जीवन की बाती आज बुझे,
जीवन, तुझको चेतन बन कर,
कुछ और उत्क्रमण करना है,
तू आज चला चल मेरे सग,
तुझको कुछ और उभरना है,

"जडता के बन्धन - खण्डन को
मत समझ कि है यह सवनाश,
तू हो यदि जडता से विरहित
तो भी तू क्यो होवे उदास ?
चल छोड आज अपना पिंजर,
तू, अरे सनातन राजहस,
पिंजर ? यह तेरा वास नही,
होने दे इसका आज ध्वस,
अनिरुद्ध, शुद्ध, तेरा स्वभाव,
तू विनिर्मुक्त, तू बन्धहीन,
तू अन्तरिक्ष का अधिवासी
तू गगन विहारी चिर नवीन।

"मैं महा मृत्यु आ गयी आज
खण्डन करने को ये बन्धन,
क्षण में ये दृग मिच जायगे,
क्षण में थम जायेगा स्पन्दन,
चेतन चल देगा उदासीन,
उसकी भावी पथ - क्षिति अनन्त,
वह क्यों हो मन में क्षीण, दीन ?
उसकी तो है अथ इति अनन्त,
जीवन, आ, तू चेतन बनकर,
कर नित्य उत्क्रमित यह डगरी,
तुझको है चलना अभी बहुत,
है दूर अभी पिय की नगरी।"

■